वहाँ शरभङ्ग ऋषि को इन्द्र के साथ बातचीत करते देखना और शरभङ्ग ऋषि से इन्द्र के वहाँ आने का कारण पूँछना तथा शरभङ्ग ऋषि का श्रीरामचन्द्र जी को इन्द्र के आगमन का कारण बतलाना। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी द्वारा एकान्तस्थान बतलाने का प्रश्न किए जाने पर, शरभङ्ग ऋषि का श्रीरामचन्द्र जी को सुतीक्ष्ण के आश्रम का पता बतलाना।

छठवाँ सर्ग — ३९—४५

राक्षसों के उपद्रवों से भयभीत दण्डकवनवासी ऋषियों की श्रीरामचन्द्र जी के प्रति आत्मरक्षा के लिए प्रार्थना तथा श्रीरामचन्द्र जी का उनको अभयदान देना।

सातवाँ सर्ग — ४५—५१

शरभङ्ग के आश्रम से श्रीरामचन्द्र जी का सुतीक्ष्ण के आश्रम में जाना और आए हुए श्रीरामचन्द्र जी की सुतीक्ष्ण द्वारा पहुनाई।

आठवाँ सर्ग — ५२—५६

अन्य ऋषियों के आश्रमों को देखने के लिए अगले दिन सबेरे श्रीरामचन्द्र जी का सुतीक्ष्ण मुनि के आश्रम से बाहर निकलना। सुतीक्ष्ण की पुनः आने के लिए श्रीरामचन्द्र जी से प्रार्थना।

नवाँ सर्ग — ५७ ६५

मार्ग में धनुष बाणादि आयुधधारी श्रीरामचन्द्र जी के साथ सीता जी का धर्मविषयक वार्तालाप।

दसवाँ सर्ग — ६५—७

श्रीरामचन्द्र जी का सीता को आयुधादि लेकर वन में आने का कारण बतलाना।

ग्यारहवाँ सर्ग ——७१—९१

मार्ग में श्रीरामचन्द्रादि का माण्डकर्णि के तड़ाग को देखना और उसे देख, कुतूहल के वशवर्ती हो उसके बारे में धर्मभृत नामक ऋषि से प्रश्न करना। तब धर्मभृत मुनि का श्रीरामचन्द्र जी को उस तडाग का वृत्तान्त बतलाना। मार्ग में लक्ष्मण से श्रीरामचन्द्र जी का इल्वलोपाख्यान करना। अगस्त्य ऋषि के भाई के आश्रम में तीनों का रात व्यतीत करना। अगले दिन अगस्त्य-आश्रम में तीनों का पहुँचना।

बारहवाँ सर्ग ९२—१००

श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से लक्ष्मण का जाकर अगस्त्य के शिष्य से श्रीरामचन्द्र जी के आगमन की सूचना देना। तदनन्तर उस शिष्य का गुरु जी के निकट जाना और श्रीरामचन्द्र जी के आगमन का वृत्तान्त निवेदन करना। अगस्त्य के आश्रम में जाने पर श्रीरामचन्द्र जी का वहाँ विविध देवताओं के स्थानों को देखना। तदनन्तर यथाविधि सत्कार के अनन्तर, अगस्त्य जी का श्रीरामचन्द्र जी को धनुष, बाण और तरकस का देना।

तेरहवाँ सर्ग १००—१०६

श्रीरामचन्द्र जी के सामने अगस्त्य का सीता जी के गुणों की बड़ाई करना। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी द्वारा रहने के लिए किसी रमणीक स्थान का पता पूँछे जाने पर अगस्त्य जी का उनको पञ्चवटी स्थान बतलाना।

चौदहवाँ सर्ग १०६—११३

पञ्चवटी की ओर जाते हुए रास्ते में, श्रीरामचन्द्र जी की जटायु से भेंट और उससे बातचीत।

पन्द्रहवाँ सर्ग ११४—१२१

अपने पिता के मित्र जटायु के साथ श्रीरामचन्द्र जी का पञ्चवटी में पहुँचना। श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से लक्ष्मण का वहाँ पर्णशाला बनाना और सीतासहित उसमें श्रीरामचन्द्र जी का सुखपूर्वक निवास।

सोलहवाँ सर्ग १२१—१३२

हेमन्त ऋतु वर्णन और भरत का स्मरण कर श्रीरामचन्द्र जी का उनके लिए विलाप करना।

सत्रहवाँ सर्ग १३३—१४०

पर्णशाला में रहते समय लक्ष्मण के साथ श्रीरामचन्द्र जी की विविध प्रकार की बातें होना और उसी बीच में कामपीड़ित शूर्पनखा का पर्णशाला में आना और अपना परिचय देना।

अट्ठारहवाँ सर्ग १४०—१४६

लक्ष्मण द्वारा शूर्पनखा के कान और नाक का काटा जाना। अपने भाई खर के पास जा नकटी बूची शूर्पनखा का क्रोध में भर उसे फटकारना।

उन्नीसवाँ सर्ग १४६—१५२

रामलक्ष्मण को दण्डकवन से निकालने के लिए खर का चौदह राक्षसों को आदेश देना।

बीसवाँ सर्ग १५२—१५८

अपने आश्रम में आए हुए और खर के भेजे हुए राक्षसों की श्रीरामचन्द्र द्वारा भर्त्सना किन्तु श्रीरामचन्द्र जी की बातों पर ध्यान न देकर आक्रमण

करने वाले राक्षसो का श्रीरामचन्द्र द्वारा वध देख कर, शूर्पनखा का खर के पास भाग कर जाना।

इक्कीसवाँ सर्ग १५८—१६३

खर के पास जा शूर्पनखा का विलाप करना और श्रीराम लक्ष्मण के वध के लिए प्रेरणा करना।

बाईसवाँ सर्ग १६३—१६६

शूर्पनखा को धीरज बँधा, खर का सैन्य सजा कर श्रीरामचन्द्र जी से लड़ने के लिए जनस्थान से प्रस्थान।

तेईसवाँ सर्ग १६६—१७७

बुरे शकुनों की उपेक्षा कर, खर का बारह प्रख्यात वीरो से घिर कर, पञ्चवटी की ओर जाना।

चौबीसवाँ सर्ग १७७—१८५

भावी उपद्रव की आशङ्का कर, श्रीरामचन्द्र जी की प्रेरणा से लक्ष्मण का सीता को लेकर एक पर्वत गुफा मे जाना। युद्ध के लिए तैयार खर की सेना को श्रीरामचन्द्र जी का देखना।

पच्चीसवाँ सर्ग १८६—१९६

खर की सेना के राक्षसों का वर्णन और उनका नाश।

छब्बीसवाँ सर्ग १९७—२०५

श्रीरामचन्द्र जी और दूषण का विकट युद्ध और दूषण का वध।

सत्ताइसवाँ सर्ग २०५—२१०

श्रीरामचन्द्र जी से लड़ने के लिए खर को जाते देख, और उसे रोक सेनापति त्रिशिरा का लड़ने को जाना और श्रीरामचन्द्र द्वारा उसका मारा जाना।

अट्ठाइसवाँ सर्ग २१०—२१८

खर के साथ लड़ते हुए श्रीरामचन्द्र जी द्वारा खर का रथ नष्ट किया जाना और उसके सारथि का मारा जाना।

उन्नीसवाँ सर्ग २१८—२२५

खर का श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर गदा चलाना।

तीसवाँ सर्ग २२५—२३५

श्रीरामचन्द्र जी और खर का वीरोचित कथोपकथन, तदनन्तर खर का युद्ध में मारा जाना। युद्ध देखने के लिए आये हुए देवता और ऋषियों द्वारा श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम की बड़ाई किया जाना।

इकतीसवाँ सर्ग २३५—२४७

रावण के पास जा अकम्पन का जनस्थानवासी राक्षसों के नाश का वृत्तान्त कहा जाना और इसके बदले सीता को हर लाने की रावण को सलाह देना। इस काम में सहायता माँगने के लिए रावण का मारीच के आश्रम में जाना और मारीच के उपदेश को मान, रावण का लङ्का को लौट जाना।

बत्तीसवाँ सर्ग २४८—२५३

खरदूषणादि का वध देख, भयभीत शूर्पनखा का रावण के समीप जाकर, श्रीरामचन्द्र जी की बुराई करना।

तैंतीसवाँ सर्ग २५३—२६०

अपनी प्रजा का वृत्तान्त जानने में असावधान रहने के लिए शूर्पनखा का रावण की निन्दा करना।

चौंतीसवाँ सर्ग २६०—२६६

शूर्पनखा की बातें सुन, रावण का क्रोध मे भर जाना, तब शूर्पनखा का रावण को सीता को हर कर ले आने के लिए उत्तेजित करना।

पैंतीसवाँ सर्ग २६६—२७६

तब रावण का मारीच के पास फिर जाना।

छत्तीसवाँ सर्ग २७६—२८१

मारीच के सामने रावण द्वारा जनस्थानवासी खरदूषणादि राक्षसो के मारे जाने का वृत्तान्त कहा जाना और सीताहरण के लिए मारीच से साहाय्य प्राप्ति की याचना किया जाना।

सैंतीसवाँ सर्ग २८१--२८७

सीता हरने के लिए उद्यत रावण के प्रति, मारीच का पुनः हितोपदेश।

अड़तीसवाँ सर्ग २८८—२९६

विश्वामित्र के आश्रम में श्रीरामचन्द्र सम्बन्धी आत्मानुभवो का बखान करते हुए, मारीच का रावण को यह उपदेश देना कि—"रमता स्वेषु दारेषु।" (अर्थात् अपनी स्त्रियों के साथ भोग विलास करो।)

उन्तालीसवाँ सर्ग २९६—३०२

मारीच द्वारा रावण को सीताहरण सम्बन्धी अन्य अनेक दोषों को दिखला कर, रावण को इस कार्य से विरक्त करने का उद्योग किया जाना।

चालीसवाँ सर्ग ३०२—३०६

मरनहार रावण के मन पर मारीच के उपदेश का कुछ भी प्रभाव न पड़ना। प्रत्युत सीताहरण में सहायता न देने पर मारीच को रावण द्वारा मार डालने की धमकी दिया जाना।

इकतालीसवाँ सर्ग ३०६—३१४

अपने उपदेश के प्रतिकूल रावण को निषिद्ध कार्य मे प्रवृत्त होने को उद्यत देख कर भी, रावण को मारीच का फिर समझाना।

ब्यालीसवाँ सर्ग ३१४—३२२

रावण के भय से मारीच का राजी होना। रावण और मारीच का श्रीरामचन्द्र की ओर गमन। श्रीरामाश्रम के निकट पहुँच मारीच का कपटी हिरन का रूप धर आश्रम में इधर उधर विचरना और फूल तोड़ती हुई सीता की उस पर दृष्टि पड़ना।

तेतालीसवाँ सर्ग ३२२—३३३

वनावर्ती मृग के देखते ही सीता का उसे पकड़वाने के लिए अपने पति और देवर को पुकारना। अपनी पत्नी के आग्रह से हिरन पकड़ने के लिए जाने के पूर्व श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मणजी के साथ परामर्श करना, तब लक्ष्मण का यह कहना कि यह मायामृग है, इसका वध करना ही ठीक है।

चौवालीसवाँ सर्ग ३३४—३४०

हिरन को पकड़ने की चेष्टा करते हुए श्रीरामचन्द्र जी का निज आश्रम से बहुत दूर निकल जाना। मारीचवध।

मरने के पूर्व सीता को धोखा देने के लिए, श्रीरामचन्द्र जी के कण्ठस्वर का अनुकरण कर मारीच का "हा सीते !" "हा लक्ष्मण !" कह कर चिल्लाना।

पैंतालीसवाँ सर्ग — ३४०—३४९

श्रीराम को विपद्ग्रस्त जान, सीता जी का लक्ष्मण जी को, श्रीरामचन्द्र जी का संवाद लाने का दुराग्रह करना। जाने को तैयार न होने पर, सीता जी द्वारा कठोर वचन कहे जाने पर, विवश हो लक्ष्मण जी का आश्रम से प्रस्थान करना।

छियालीसवाँ सर्ग — ३४९—३५९

यति के रूप में रावण का सीता के समीप जाना और सीता द्वारा रावण का आतिथ्य किया जाना।

सैंतालीसवाँ सर्ग — ३५९—३७०

सीता का रावण से अपना वृत्तान्त कहना।

अड़तालीसवाँ सर्ग — ३७१—३७६

रावण का सीता के सामने अपने कुल और वीर कर्मों का बखान करना।

उनचासवाँ सर्ग — ३७६—३८५

सीता हरण, रास्ते में जटायु से मुठभेड़।

पचासवाँ सर्ग — ३८५—३९२

रावण के प्रति जटायु का हितोपदेश और अन्त में युद्ध के लिए उसका रावण को ललकारना।

इक्यावनवाँ सर्ग — ३९२—४०३

जटायु और रावण का युद्ध। युद्ध में रावण द्वारा जटायु के पंखों का काटा जाना।

बावनवाँ सर्ग ४०२—४१२

विलाप करती हुई सीता को पकड़ कर, रावण का आकाशमार्ग से गमन।

त्रेपनवाँ सर्ग ४१३—४१९

सीताविलाप।

चौवनवाँ सर्ग ४२०—४२७

सुग्रीवादि वानरों को बैठे देख, सीता का अपने कुछ आभूषणों को नीचे गिराना।

पचपनवाँ सर्ग ४२७—४३६

रावण का सीता को अपना ऐश्वर्य दिखा अपनी भार्या बनाने के लिए अनुरोध करना।

छप्पनवाँ सर्ग ४३६—४४४

क्रोध में भर कर सीता जी का रावण के प्रति कठोर वचन कहना। तब रावण का सीता को धमकाना डराना।

सत्तावनवाँ सर्ग ४४५—४५०

मारीच का वध करके लौटते हुए श्रीरामचन्द्र का रास्ते में अपशकुनों को देख, सीता जी के अनिष्ट के सम्बन्ध में शङ्का करना।

अट्ठावनवाँ सर्ग ४५१—४५६

लक्ष्मण को देख सीता के नष्ट होने का निश्चय सा कर, श्रीरामचन्द्र जी का विलाप करना।

उनसठवाँ सर्ग ४५६--४६३

वामनेत्रादि अङ्गों के फड़कने से सीता पर विपत्ति पड़ने की शङ्का कर, श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण को, अपनी आज्ञा के विरुद्ध आश्रम छोड़ कर चले आने के लिए उलहना देना।

साठवाँ सर्ग ४६३--४७३

श्रीरामचन्द्र जी का घबड़ाते हुए आश्रम की ओर लौटना। आश्रम में सीता को न देख कर, श्रीरामचन्द्र जी का उन्मत्त सा हो जाना और सीता के बारे में वृक्षादि से प्रश्न करना।

इकसठवाँ सर्ग ४७३--४८०

सीता के लिए श्रीरामचन्द्र जी का दुखी होना। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण का सीता की खोज में इधर उधर घूमना। विलाप करते हुए श्रीरामचन्द्र को शान्त करने के लिए लक्ष्मण का समझाना।

बासठवाँ सर्ग ४८०—४८५

श्रीरामचन्द्र जी का दीन होकर, सीता के लिए बार बार विलाप करना।

त्रेसठवाँ सर्ग ४८५—४९३

दुःखार्त्त श्रीराम का विलाप और लक्ष्मण का उनको धीरज बँधाना।

चौंसठवाँ सर्ग ४९३—५०९

गोदावरी के तट पर सीता की खोज में घूमते फिरते श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को हिरनों द्वारा दक्षिण दिशा में जाकर ढूढने का सकेत मिलना।

॥ श्री ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण किया जाता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम, प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिए गए हैं]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—*—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ २ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ३ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ४ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ५ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ ६ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
य. शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥ १३ ॥

—:•:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रै पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितै. ।
गुरुभाव व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्त राम रामेति मधुर मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानाद को न याति परा गतिम् ॥ ११ ॥

य पिबन्सतत रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्त मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीश मशकीकृतराक्षसम्
रामायणमहामालारत्न वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दन वीर जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तार वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजव मारुततुल्यवेग
जितेन्द्रिय बुद्धिमता वरिष्ठम् ।
वातात्मज वानरयूथमुख्य
श्रीरामदूत शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धो सलिल सलील
य शोकवह्नि जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्का
नमामि त प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलानन
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रै-
र्व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूपारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥२४॥

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥३०॥



स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भामा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेय निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्त राम रामेति मधुर मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥४॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिण. ।
शृण्वन्रामकथानाद को न याति परा गतिम् ॥५॥

य पिबन्सतत रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्त मुनि वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥६॥

गोष्पदीकृतवारीश मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्न वन्देऽनिलात्मजम् ॥७॥

अञ्जनानन्दन वीर जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तार वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥८॥

उल्लङ्घ्य सिन्धो॰ सलिल सलील
य. शोकवह्निं जनकात्मजाया. ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि त प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥९॥

आञ्जनेयमतिपाटलानन
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिन
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥१०॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तन
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचन
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥११॥

मनोजव मारुततुल्यवेग
जितेन्द्रिय बुद्धिमता वरिष्ठम् ।
वातात्मज वानरयूथमुख्य
श्रीरामदूत शिरसा नमामि ॥१२॥

य कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरह सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलित रामायणाख्य मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रव
ससार स विहाय गच्छति पुमान्विष्णो· पद शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरित मुनिप्रणीत
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥१४॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवन पुण्या रामायणमहानदी ॥१५॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसंकुलम् ।
काण्डग्राहमहामीन वन्दे रामायणार्णवम् ॥१६॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेद प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥१७॥

वैदेहीसहित सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्व मुनिभ्य· पर
व्याख्यान्त भरतादिभि परिवृत राम भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१६॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥२०॥

—❀—



आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मंगलम् ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

— ० —

अरण्यकाण्डः

प्रविश्य तु महारण्यं दण्डकारण्यमात्मवान्[1] ।
ददर्श रामो दुर्धर्षस्तापसाश्रममण्डलम् ॥१॥

धैर्यवान् और दुर्द्धर्ष श्रीरामचन्द्र जी ने दण्डक नामक महावन में प्रवेश कर, तपस्वियों के आश्रम देखे ॥१॥

कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्म्या लक्ष्म्या[2] समावृतम् ।
यथा प्रदीप्तं दुर्दर्शं गगने सूर्यमण्डलम् ॥२॥

इन आश्रमों में जगह जगह यज्ञ में काम आने वाले कुशों के ढेर लगे थे। आश्रमवासियों के चीर जगह जगह सूखने के लिए फैलाये हुए थे। वेदाध्ययन और वैदिक कर्मानुष्ठान के कारण, इन आश्रमों में एक प्रकार का ऐसा तेज व्याप्त था, जिसे राक्षसादि उसी प्रकार नहीं सहन कर सकते थे, जिस प्रकार आकाशस्थ सूर्य का तेज सहन नहीं किया जाता ॥२॥

शरण्यं सर्वभूतानां सुसंमृष्टाजिरं सदा ।
मृगैर्बहुभिराकीर्णं पक्षिसङ्घैः समावृतम् ॥३॥

---

१ आत्मवान्—धैर्यवान् । (गो०) २ ब्राह्म्यालक्ष्म्या—ब्राह्मीलक्ष्मी ब्रह्मविद्याभ्यास जनितस्तेजो विशेष । (रा०)

ये आश्रम प्राणिमात्र के लिए सुखप्रद आश्रयस्थल थे और स्वच्छ स्थानों से सुशोभित थे। इन आश्रमों में बहुत से हिरन निर्भय घूमा फिरा करते थे और पक्षियों की टोलियाँ, आश्रमों के वृक्षों पर रहा करती थीं ॥३॥

पूजितं चोपनृत्तं च नित्यमप्सरसां गणैः ।
विशालैरग्निशरणैः[1] स्रुग्भाण्डैरजिनैः कुशैः ॥४॥

इन आश्रमों मे अप्सराएँ आ कर नृत्य किया करती थीं। वे इन आश्रमों का सम्मान करती थीं, यहाँ बड़ी लम्बी चौड़ी यज्ञशालाएँ बनी थीं, जिनमे अग्निकुण्ड के समीप स्रुवा, यज्ञपात्र, मृगचर्म और कुश रखे हुए थे ॥४॥

समिद्भिस्तोयकलशैः फलमूलैश्च शोभितम् ।
आरण्यैश्च महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्युतम् ॥५॥

इन आश्रमों मे समिधाएँ, जल से भरे घड़े और कन्द मूल फल रखे थे। बनैले बड़े बड़े पेड़ों में स्वादिष्ट और खाने योग्य पवित्र फल लगे थे ॥५॥

बलि[2]होमार्चितं[3] पुण्यं ब्रह्मघोषनिनादितम् ।
पुष्पैर्वन्यैः परिक्षिप्तं पद्मिन्या च सपद्मया ॥६॥

इन सब आश्रमों में नित्य ही बलिवैश्वदेव होता था और पवित्र वेदध्वनि हुआ करती थी। वहाँ देवताओं पर चढ़े हुए बनैले फूल बिखरे हुए थे और खिले हुए कमल के फूलों से परिपूर्ण तलैयों से ये सब आश्रम सुशोभित थे ॥६॥

---

१ अग्निशरणैः—अग्निहोत्रगृहैः । (गो०) २ बलिभिः—भूतबलिप्रभृतिभिः । (गो०) ३ होमैर्वैश्वदेवादिहोमैश्च । (गो०)

फलमूलाशनैर्दान्तैश्चीरकृष्णाजिनाम्बरैः ।
सूर्यवैश्वानराभैश्च पुराणैर्[1]मुनिभिर्वृतम् ॥७॥

उन सब आश्रमों में कन्दमूल फल खाने वाले, चीर और मृगचर्म धारण करने वाले जितेन्द्रिय, सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी तथा वृद्ध मुनिगण वास करते थे ॥७॥

पुण्यैश्च नियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः[2] ।
तद्ब्रह्मभवनप्रख्यं ब्रह्मघोषनिनादितम् ॥८॥

ये आश्रम, नियताहारी और पवित्र परमर्षियों से सुशोभित थे और सदा वेदों के पढ़ने का शब्द होते रहने के कारण, ब्रह्मलोक के समान प्रसिद्ध थे ॥८॥

ब्रह्मविद्भि[3]र्महाभागैर्ब्राह्मणैरुपशोभितम् ।
स दृष्ट्वा राघवः श्रीमांस्तापसाश्रममण्डलम् ॥९॥

परब्रह्म का ज्ञान रखने वाले महाभाग ब्राह्मणों से सुशोभित उन आश्रमों को देख, श्रीमान् रामचन्द्र जी ने ॥९॥

अभ्यगच्छन्महातेजा विज्यं कृत्वा महद्धनुः ।
दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते रामं दृष्ट्वा महर्षयः ॥१०॥

अपने बड़े धनुष का रोदा उतार कर, उन आश्रमों की ओर गमन किया। दिव्यज्ञानसम्पन्न महर्षियों ने जब श्रीरामचन्द्र जी को आते हुए जाना ॥१०॥

---

१ पुराणैः—वृद्धैः । (गो०) २ परमर्षिभिः—उत्कृष्टमुनीनामभिपूजनीयैः ।
३ ब्रह्मविद्भिः—परब्रह्मज्ञानिभिः । (गो०)

अभ्यगच्छंस्तथा प्रीता वैदेही च यशस्विनीम् ।
ते[1] तं सोममिवोद्यन्तं[2] दृष्ट्वा वै धर्मचारिणः ॥११॥

तब प्रसन्न हो, वे त्रिकालज्ञ महर्षि श्रीरामचन्द्र और यशस्विनी जानकी जी की ओर चले। उन लोगों ने अन्धकारनाशक चन्द्रमा के समान श्रीरामचन्द्र जी को देखा ॥११॥

लक्ष्मणं चैव दृष्ट्वा तु वैदेहीं च यशस्विनीम् ।
मङ्गलानि प्रयुञ्जानाः प्रत्यगृह्णन्[3] दृढव्रताः ॥१२॥

साथ ही लक्ष्मण तथा यशस्विनी सीता जी को देख, उन दृढ व्रतधारी महर्षियों ने तीनों को मङ्गलाशीर्वाद दिए और उनको अपनी रक्षा करने वाले देवता समझ, उनका यथाविधि आदर सत्कार किया ॥१२॥

रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम् ।
ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥१३॥

वे सब वनवासी ऋषिगण, श्रीरामचन्द्र जी के रूप का सौन्दर्य, लावण्य, सुकुमारता और सुवेष को देख, अत्यन्त विस्मित हुए ॥१३॥

[टिप्पणी—श्रीरामचन्द्र जी के शरीर और रूप को देख, उन महर्षियों को इस लिए विस्मय हुआ कि ऐसे सुकुमार इस महाघोर वन में क्यों आए हैं।]

वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव ।
आश्चर्यभूतान्ददृशुः सर्वे ते वनचारिणः ॥१४॥

---

1 ते—त्रिकालज्ञाः । (गो०) 2 उद्यन्तं—सोममिव स्थित अन्धकारनिरसनप्रवृत्तचन्द्रमिवस्थितं । (गो०) 3 प्रत्यगृह्णन्—स्वरक्षकेष्टदेवताबुद्ध्यास्वीचक्रुः । (रा०)

वे वनचारी ऋषिगण आश्चर्य में आ श्रीराम, लक्ष्मण और जानकी जी को बिना पलक झपकाए एकटक निहारते रहे ॥१४॥

अथैनं हि महाभागाः सर्वभूतहिते रतम् ।
अतिथिं पर्णशालायां[1] राघवं संन्यवेशयन् ॥१५॥

तदनन्तर प्राणिमात्र के हित में तत्पर, उन महाभाग ऋषियों ने अपूर्व अतिथि श्रीरामचन्द्र जी को लेजा कर, अपनी पर्णकुटी में ठहराया ॥१५॥

ततो रामस्य सत्कृत्य विधिना पावकोपमाः ।
आजह्रुस्ते महाभागाः सलिलं धर्मचारिणः ॥१६॥

अग्नि के समान तेजस्वी, महाभाग एवं धर्मचारी ऋषियों ने यथाविधि श्रीरामचन्द्र का सत्कार कर, हाथ पैर धोने के लिए जल दिया ॥१६॥

मूलं पुष्पं फलं वन्यमाश्रमं च महात्मनः ।
निवेदयित्वा धर्मज्ञास्ततः प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ॥१७॥

अनन्तर उन धर्मज्ञ महात्मा और वन में रहने वाले ऋषियों ने कन्दमूल फल और फूल ला कर अर्पण किए और वे हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥१७॥

[टिप्पणी—श्रीरामचन्द्र जी रघुकुलतिलक थे—अतः उन धर्मज्ञ आश्रमवासियों ने श्रीराम से हाथ जोड़ कर "क्यों" कहा ? यह ऋषिगण त्रिकालदर्शी थे—अतः श्रीराम जी को क्षत्रिय नहीं—किन्तु भगवान का अवतार जानते थे—अतः हाथ जोड़ कर कहा था ।]

धर्मपालो जनस्यास्य शरण्यस्त्वं महायशाः ।
पूजनीयश्च मान्यश्च राजा दण्डधरो गुरुः ॥१८॥

---

१ पर्णशालाया—स्वपर्णशालाया । (गो०)

हे रामचन्द्र ! आप वर्णाश्रम धर्म के पालनकर्त्ता और जनों के रक्षक तथा महायशस्वी हैं। शासनदण्ड धारण करने वाला राजा गुरुवत् पूज्य और मान्य है। (प्रत्येक वर्ण के पुरुष को शासन करने वाले राजा को गुरुवत् पूज्य और मान्य, मानना चाहिए) ॥१८॥

इन्द्रस्येह[1] चतुर्भागः[2] प्रजारक्षति राघव।
राजा तस्माद्वरान् भोगान् भुङ्क्ते लोकनमस्कृतः ॥१९॥

हे राघव ! राजा इस भूस्वर्ग में इन्द्र का चतुर्थांश है। वह प्रजा की रक्षा करता है, इसीलिए वह सब लोगों का प्रणम्य है और श्रेष्ठ और रमणीय पदार्थों का भोग करता है ॥१९॥

[टिप्पणी—राजा को इन्द्र का चतुर्थांश कहने का आधार यह है—
"अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिः कल्पितो नृपः।"]

ते वयं[3] भवता रक्ष्या भवद्विषयवासिनः।
नगरस्थो[4] वनस्थो[5] वा त्वं नो राजा जनेश्वरः ॥२०॥

हम लोग आपके राज्य में बसने वाले आपकी प्रजा हैं। अतः आपको हमारी रक्षा करनी चाहिए। आप चाहें नगर में रहें, चाहें वन में रहें, आप हमारे राजा हैं। अथवा चाहे आप राजसिंहासनासीन हों या न हों, किन्तु हमारे राजा आप अवश्य हैं ॥२०॥

न्यस्तदण्डाः[6] वयं राजञ्जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।
रक्षितव्यास्त्वया शश्वद्गर्भभूता[7]स्तपोधनाः ॥२१॥

---

[1] इह—भूस्वर्गे। (गो०) [2] चतुर्भागः—चतुर्थांशः। (गो) [3] ते वयं—आर्तविप्राः। (गो०) [4] नगरस्थः—सिंहासनस्थो वा। (गो०) [5] वनस्थः—तद्रहितो वा। (गो०) [6] न्यस्तदण्डाः—शापतो निग्रहसामर्थ्यरहिताः। (गो०) [7] गर्भभूता प्रजातुल्याः (गो०)

हे राजन ! हम लोगों ने क्रोध को त्याग कर इन्द्रियों को जीता है। अतः हम शाप द्वारा इन उपद्रवकारियों को दण्ड देने में असमर्थ हैं। अतएव तुमको हम सब तपस्वियों की, निज प्रजा की तरह सदा रक्षा करनी चाहिए ॥२१॥

एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैर्वन्यैश्च राघवम्[१] ।
अन्यैश्च विविधाहारैः सलक्ष्मणमपूजयन् ॥२२॥

यह कह कर उन लोगों ने फल फूल कन्द मूल आदि विविध प्रकार के वन में उत्पन्न होने वाले भोज्य पदार्थों से श्रीरामचन्द्र, सीता तथा लक्ष्मण का अतिथि-सत्कार किया ॥२२॥

तथान्ये तापसाः सिद्धा रामं वैश्वानरोपमाः[२] ।
न्यायवृत्ता[३] यथान्यायं तर्पयामासुरीश्वरम् ॥२३॥

इति प्रथमः सर्गः ॥

इसी प्रकार वहाँ के उन अन्य सिद्धपुरुषों और तपस्वियों ने जो अपने स्वरूप के विरुद्ध काम्य कर्मों को त्याग चुके थे और स्वरूपानुरूप कैङ्कर्य करते थे, श्रीरामचन्द्र जी का यथोचित सत्कार कर, उनको सन्तुष्ट किया ॥२३॥

अरण्यकाण्ड का प्रथम सर्ग पूरा हुआ।

—०:—

द्वितीयः सर्गः

—०—

कृतातिथ्योऽथ रामस्तु सूर्यस्योदयनं प्रति ।
आमन्त्र्य स मुनीन् सर्वान् वनमेवान्वगाहत ॥१॥

---

१ राघवमित्यनेन सीतापूजनमप्यर्थं सिद्धः। (गो०) २ वैश्वानरोपमा—स्वरूपविरुद्धनिषिद्ध काम्यकर्मान्तर त्यागिन इत्यर्थः। (गो०) ३ न्यायवृत्ता—स्वरूपानुरूपकैङ्कर्यवृत्तयः। (गो०)

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी अगले दिन सूर्य के उदय होने पर उन सब मुनियों से विदा माँग, फिर आगे वन में चले ॥१॥

नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलवृकसेवितम् ।
ध्वस्तवृक्षलतागुल्मं दुर्दर्शसलिलाशयम् ॥२॥
निष्कूजनानाशकुनि झिल्लिकागणनादितम् ।
लक्ष्मणानुगतो रामो वनमध्यं ददर्श ह ॥३॥

उस वन में अनेक प्रकार के जीव जन्तु थे तथा शार्दूल और भेड़िया घूमा फिरा करते थे। उस वन में कहीं भी न वृक्ष, न लता, और न गुल्म ही दिखलाई पड़ते थे। तालाबों का जल सूख जाने के कारण वे केवल भयङ्कर ही नहीं देख पड़ते थे, बल्कि जलाभाव के कारण वहाँ किसी पक्षी की बोली भी नहीं सुन पड़ती थी। केवल झिल्ली की झनकार सुनाई देती थी। चलते चलते सीता, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने वन के बीच में पहुँच, वहाँ का यह भयङ्कर दृश्य देखा ॥२॥३॥

वनमध्ये तु काकुत्स्थस्तस्मिन् घोरमृगायुते ।
ददर्श गिरिशृङ्गाभं पुरुषादं महास्वनम् ॥४॥

जङ्गली पशुओं से सेवित उस घोर वन के बीच पहुँच, श्रीरामचन्द्र जी ने पहाड़ की चोटी के समान लंबा नरमांसभक्षी और महानाद करनेवाला एक राक्षस देखा ॥४॥

गम्भीराक्षं महावक्त्रं विकटं[१] विषमोदरम्[२] ।
बीभत्सं विषमं दीर्घं विकृतं घोरदर्शनम् ॥५॥

उस राक्षस की आँखें माथे के भीतर बहुत गहरी घुसी हुई थीं, मुँह बहुत लंबा था, उसका शरीर विशाल था, उसका पेट कहीं

१ विकटं—विशालं। (गो०) २ विषमोदरं—निम्नोन्नतोदरं। (गो०)

ऊँचा और कहीं नीचा था उसकी आकृति बडी घिनौनी थी, उसका शरीर टेढ़ा मेढ़ा था ऊँचा नीचा, खाली भरा हुआ था अर्थात् उसके शरीर का एक भी अंग एकसा न था। अतः वह देखने में बड़ा भयङ्कर जान पड़ता था ॥५॥

वसानं चर्म वैयाघ्रं वसार्द्रं रुधिरोक्षितम्।
त्रासनं सर्वभूतानां व्यादितास्यमिवान्तकम् ॥६॥

वह राक्षस रुधिर तथा चर्बी से भींगा हुआ और व्याघ्र का चमड़ा ओढ़े हुए था। जब वह अपना मुँह फैला कर जमुहाई लेता था तब वह काल की तरह सब प्राणियों को त्रस्त कर देता था अर्थात् उसका खुला हुआ मुख देख सब प्राणी भयभीत हो जाते थे। ६॥

त्रीन् सिंहांश्चतुरो व्याघ्रान् द्वौ वृकौ पृषतान्दश।
सविषाणं वसादिग्धं गजास्य च शिरो महत् ॥७॥

अवसज्यायसे शूले विनदन्तं महास्वनम्।
स रामं लक्ष्मणं चैव सीतां दृष्ट्वाथ मैथिलीम् ॥८॥

वह तीन शेर, चार व्याघ्र, दो बैल और दस बारहसिंहों तथा दाँतों सहित चर्बी से भरा हुआ एक हाथी का मस्तक, जो लोहे के त्रिशूल में बिंधा हुआ था लिये हुए तथा नाद करता और चिल्लाता हुआ देख पड़ा। वह श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता को देख, ॥७॥८।

अभ्यधावत संक्रुद्धः प्रजाः काल इवान्तकः।
स कृत्वा भैरवं नादं चालयन्निव मेदिनीम् ॥९॥

अङ्केनादाय वैदेहीमपक्रम्य ततोऽब्रवीत् ।
युवां जटाचीरधरौ सभार्यौ[1] क्षीणजीवितौ ॥१०॥

और महाक्रोध में भर, प्रलयकारी काल के समान उनकी ओर दौड़ा । वह महाभयङ्कर राक्षस गर्जन कर, पृथिवी को कँपाता हुआ, सीता को गोदी में उठा और कुछ दूर जा कर कहने लगा—तुम दोनों जटाचीर धारण किए स्त्रियों सहित इस वन में जो आए हो, सो तुम अपने को कुछ ही क्षणों का महमान समझो अथवा अपने को मरा हुआ ही समझो ॥९॥१०॥

[टिप्पणी—मूल में "सभार्यौ" द्विवचन में भार्या शब्द का प्रयोग करने से जान पड़ता है कि विराध ने समझा कि, सीता दोनों की भार्या है ।]

प्रविष्टौ दण्डकारण्यं शरचापासिधारिणौ ।
कथं तापसयोर्वां च वासः प्रमदया सह ॥११॥

इस दण्डकवन में (तुम सिर्फ जटा चीर धारी बनकर ही नहीं किन्तु) तीर कमान ले और तलवार बांध कर आए हो । फिर जब तुम तपस्वी का रूप (जटाचीर धारण करने से) धारण किए हो, तब यह तो बतलाओ कि, स्त्री के साथ तपस्वियों का रहना कैसे सम्भव है ॥११॥

अधर्मचारिणौ पापौ कौ युवां मुनिदूषकौ ।
अहं वनमिदं दुर्गं विराधो नाम राक्षसः ॥१२॥

तुम बतलाओ तुम दोनों अधर्मी, पापी और मुनियों का नाम लगाने वाले कौन हो ? मैं विराध नामक राक्षस हूँ और इस दुर्गम वन में ॥१२॥

[1] सभार्यौ—भार्या शब्दस्तु योषिन्मात्रवाची एकया योषिता सहितौ । [illegible] भाव । (गो०)

चरामि सायुधो नित्यमृषिमांसानि भक्षयन् ।
इयं नारी वरारोहा मम भार्या भविष्यति ॥१३॥

शस्त्र लिये ऋषि मुनियों के मांस को भक्षण करता हुआ, नित्य घूमा करता हूँ। अब यह सुन्दरी नारी मेरी भार्या होगी ॥१३॥

युवयोः पापयोश्चाहं पास्यामि रुधिरं मृधे ।
तस्यैवं ब्रुवतो धृष्टं विराधस्य दुरात्मनः ॥१४॥

तुम दोनों महापापी हो, अतः तुम दोनों के साथ मैं युद्ध कर, तुम्हारा दोनों का रुधिर पिऊँगा। जब उस दुरात्मा विराध ने ऐसे धृष्टतापूर्ण वचन कहे ॥१४॥

श्रुत्वा सगर्वं वचनं सम्भ्रान्ता जनकात्मजा ।
सीता प्रावेपतोद्वेगात्प्रवाते कदली यथा ॥१५॥

तब उसके इन अहङ्कार युक्त वचनों को सुन कर, जानकी जी डरीं और मारे डर के वे वायु के वेग से काँपते हुए केले के पेड़ की तरह, थर थर काँपने लगीं ॥१५॥

तां दृष्ट्वा राघवः सीतां विराधाङ्कगतां शुभाम् ।
अब्रवील्लक्ष्मणं वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥१६॥

उधर श्रीरामचन्द्र जी सीता को विराध की गोदी में देख, उदास हो, लक्ष्मण से बोले ॥१६॥

पश्य सौम्य नरेन्द्रस्य जनकस्यात्मसम्भवाम् ।
मम भार्यां शुभाचारां विराधाङ्के प्रवेशिताम् ॥१७॥

हे सौम्य ! देखो राजा जनक की बेटी, शुद्धाचरण वाली मेरी भार्या सीता, विराध द्वारा पकड़ ली गई है ॥१७॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धां राजपुत्रीं मनस्विनीम् ।
यदभिप्रेतमस्मासु प्रियं वरवृतं च यत् ॥१८॥

यह मनस्विनी राजपुत्री बड़े लाड़प्यार से पाली पोसी गई है। सो इसकी यह दशा हुई। अतः जिस उद्देश्य से कैकेयी ने वरदान माँगा था वह उसका उद्देश्य आज सफल हुआ ॥१८॥

कैकेय्यास्तु सुसम्पन्नं क्षिप्रमद्यैव लक्ष्मण ।
या न तुष्यति राज्येन पुत्रार्थे दीर्घदर्शिनी ॥१९॥

हे लक्ष्मण! कैकेयी बड़ी दूरदर्शिनी है। वह अपने पुत्र को राज्य दिला कर भी सन्तुष्ट न हुई (और हमें इस अभिप्राय से वन में भेजा कि, वन में जब सीता को राक्षस हर लेंगे और राम इस दुःख से मर जायगा तब मेरे बेटे का राज्य निष्कण्टक हो जायगा) इतनी जल्दी उसी कैकेयी का मनोभिलाष आज पूरा हुआ ॥१९॥

ययाहं सर्वभूतानां हितः प्रस्थापितो वनम् ।
अद्येदानीं सकामा सा या माता मम मध्यमा ॥२०॥

जिस कैकेयी ने मुझ जैसे सब प्राणियों के हितैषी को वन में निकलवा दिया उस मेरी मझली माता कैकेयी का इस घड़ी मनोरथ पूर्ण हुआ ॥२०॥

[टिप्पणी—जिस कैकेयी को रामचन्द्र ने पहिले "कनीयसी" (छोटी माता) कहा था अब उसीको "मध्यमा माता" क्यों कहा? इसका समाधान भूषणटीकाकार ने इस प्रकार किया है। "यद्यपि" पूर्वं मम माता कनीयसी उक्ता तथापि महिषीत्रयापेक्षया कनीयसीत्वं सर्वदशरथ-पत्नीनां तु मध्यमा। त्रिशतं पत्न्यश्च दशरथस्य सन्तीति पूर्व-मुक्तम्।]

[illegible] वैदेह्या न दुःखतरमस्ति मे ।
पितुर्विनाशात्सौमित्रे स्वराज्यहरणात्तथा ॥२१॥

हे लक्ष्मण! इस समय सीता का राक्षस द्वारा छुआ जाना देख, मुझको जैसा दुःख हो रहा है वैसा दुःख मुझे न तो पिता के मरने पर हुआ और न राज्य छूटने पर हुआ ॥२१॥

इति ब्रुवति काकुत्स्थे बाष्पशोकपरिप्लुते ।
अब्रवील्लक्ष्मणः क्रुद्धो रुद्धो नाग इव श्वसन् ॥२२॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने यह कहा, तब आँखों में आँसू भर और शोकाकुल हो लक्ष्मण जी मन्त्रमुग्ध सर्प की तरह क्रोध में भर फुँफकार मारते हुए, यह बोले ॥२२॥

अनाथ इव भूतानां नाथस्त्वं वासवोपमः ।
मया प्रेष्येण काकुत्स्थ किमर्थं परितप्यसे ॥२३॥

हे श्रीरामचन्द्र! मेरे जैसे सेवक के साथ होते हुए और इन्द्र की तरह सब प्राणियों के स्वयं स्वामी हो कर भी, तुम एक अनाथ की तरह क्यों सन्तप्त हो रहे हो? ॥२३॥

शरेण निहतस्याद्य मया क्रुद्धेन रक्षसः ।
विराधस्य गतासोर्हि मही पास्यति शोणितम् ॥२४॥

मैं क्रुद्ध हो अभी इस राक्षस को बाण से मार, इसका रुधिर पृथ्वी को पिलाता हूँ ॥२४॥

राज्यकामे मम क्रोधो भरते यो बभूव ह ।
तं विराधे प्रमोक्ष्यामि वज्री वज्रमिवाचले ॥२५॥

राज्य की वासना रखने वाले भरत पर मुझे जो क्रोध आया था, वह क्रोध आज मैं इस विराध पर उसी तरह प्रदर्शित करूँगा जिस तरह इन्द्र वज्र का प्रहार कर पहाड़ों पर अपना क्रोध प्रदर्शित करते हैं ॥२५॥

मम भुजबलवेगवेगितः
पततु शरोऽस्य महान्महोरसि ।
व्यपनयतु तनोश्च जीवितं
पततु ततः स मही विघूर्णितः ॥२६॥

इति द्वितीयः सर्गः ॥

हे राम ! मेरी भुजाओं के बल के वेग से चलाया हुआ महाबाण इसके हृदय का विदीर्ण कर इसको मार डालेगा और यह घुमरी खाता हुआ पृथ्वी पर गिरेगा ॥२६॥

अरण्यकाण्ड का दूसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—:❀:—

तृतीयः सर्गः

—:❀:—

इत्युक्त्वा लक्ष्मणः श्रीमान्राक्षसं प्रहसन्निव ।
को भवान्वनमभ्येत्य चरिष्यति यथासुखम् ॥१॥

श्रीरामचन्द्रजी से यह कह श्रीमान लक्ष्मण ने (तिरस्कार सूचक) मुसक्या कर राक्षस से पूछा कि आप कौन हैं जो इस प्रकार स्वेच्छाचारी हो इस वन में घूमा करते हैं ॥१॥

अथोवाच पुनर्वाक्यं विराधः पूरयन्वनम् ।
आत्मानं पृच्छते ब्रूत कौ युवां क गमिष्यथः ॥२॥

इसके उत्तर में विराध अपनी गम्भीर वाणी से उस वन को शब्द पूर्ण करता हुआ बोला—मैं जो तुमसे पूछता हूँ उसका उत्तर दो कि तुम दोनों कौन हो और कहाँ जा रहे हो ॥२॥

तमुवाच ततो रामो राक्षसं ज्वलिताननम् ।
पृच्छन्तं सुमहातेजा इक्ष्वाकुकुलमात्मनः ॥३॥

यह सुन अंगार के समान जलते हुए भयङ्कर मुख वाले राक्षस को श्रीरामचन्द्र जी ने अपने इक्ष्वाकुवंश का नाम बतलाया ॥३॥

क्षत्रियौ वृत्तसम्पन्नौ विद्धि नौ वनगोचरौ ।
त्वां तु वेदितुमिच्छावः कस्त्वं चरसि दण्डकान् ॥४॥

और कहा कि, हम क्षत्रिय हैं और क्षत्रिय वर्णोचित वृत्ति सम्पन्न हैं और वन में आये हैं, यह तुझे जान लेना चाहिये। हम तेरा परिचय भी चाहते हैं कि, इस दण्डक वन में घूमने वाला तू कौन है ॥४॥

तमुवाच विराधस्तु रामं सत्यपराक्रमम् ।
हन्त वक्ष्यामि ते राजन्निबोध मम राघव ॥५॥

यह सुन विराध ने सत्यपराक्रम श्रीराम से कहा—हे राघव! मैं अपना वृत्तान्त कहता हूँ, तुम सुनो ॥५॥

पुत्रः किल जयस्याहं मम माता शतह्रदा।
विराध इति मामाहुः पृथिव्यां सर्वराक्षसाः ॥६॥

मैं निश्चय ही जय का पुत्र हूँ और शतह्रदा मेरी माता है। इस पृथ्वी के सब राक्षस मुझे विराध नाम से पुकारते हैं ॥६॥

तपसा चापि मे प्राप्ता ब्रह्मणो हि प्रसादजा ।
शस्त्रेणावध्यता लोकेऽच्छेद्याभेद्यत्वमेव च ॥७॥

मैंने अपनी तपस्या के बल से ब्रह्मा जी को प्रसन्न कर, उनसे यह वरदान पाया है कि, मैं किसी शस्त्र से न तो घायल होऊँ और न मारा ही जा सकूँ ॥७॥

तब वह महाभयङ्कर राक्षस हँसा और खड़े हो कर उसने जमुहाई ली। उसके जमुहाई लेते ही वे शीघ्रगामी बाण उसके शरीर से निकल कर पृथिवी पर गिर पड़े ॥ १७॥

बलात्तु वरदानस्य प्राणान् संरोध्य राक्षसः ।
विराधः शूलमुद्यम्य राघवावभ्यधावत ॥१८॥

यद्यपि विराध उन बाणों के आघात से अति पीड़ित था, तथापि वरदान के बल से वह मरा नहीं और जीता रहा और शूल उठा दोनों भाइयों की ओर दौड़ा ॥१८॥

तच्छूलं वज्रसङ्काशं गगने ज्वलनोपमम्[1] ।
द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद रामः शस्त्रभृतां वरः ॥१९॥

तब शस्त्रधारण करने वालों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने वज्र और आकाशस्थ अग्नि के समान उसके शूल को दो बाणों से काट कर गिरा दिया ॥१९॥

तद्रामविशिखच्छिन्नं शूलं तस्य कराद्भुवि ।
पपाताशनिना च्छिन्नं मेरोरिव शिलातलम् ॥२०॥

विराध के हाथ से वह शूल श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से कट टुकड़े टुकड़े हो उसी तरह पृथिवी पर गिरा, जिस प्रकार वज्र के आघात से मेरुपर्वत की शिलाएँ टुकड़े टुकड़े हो गिरती हैं ॥२०॥

तौ खड्गौ क्षिप्रमुद्यम्य कृष्णसर्पोपमौ शुभौ ।
तूर्णमापततस्तस्य तदा प्राहरतां बलात् ॥२१॥

जब उसका शूल कट गया, तब श्रीराम और लक्ष्मण अपनी अपनी तलवारों को ले, अति शीघ्र काटने को तैयार नाग की तरह

---

[1] गगने ज्वलनं—आकाशस्थाग्नि । (गो०)

उस पर झपटे और उस पर जोर जोर से तलवारो का वार करने लगे ॥२१॥

स वध्यमानः सुभृशं बाहुभ्यां परिरभ्य तौ।
अप्रकम्प्यौ नरव्याघ्रौ रौद्रः प्रस्थातुमैच्छत ॥२२॥

जब वह राक्षस तलवारो के आघात से अत्यन्त पीडित हुआ, तब दोनो पुरुषश्रेष्ठों को जो बडी धीरता से लड रहे थे और जिन्हें कोई हरा नहीं सकता था, विराध दोनों हाथो से पकड़ और अपने कधो पर रख ले चला। (इस लिये कि दूर लेजा कर दोनों को जमीन पर पटक कर मार डाले) ॥२२॥

तस्याभिप्रायमाज्ञाय रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
वहत्वयमलं तावत्पथाऽनेन तु राक्षसः ॥२३॥
यथा चेच्छति सौमित्रे तथा वहतु राक्षसः।
अयमेव हि नः पन्था येन याति निशाचरः ॥२४॥

उसके अभिप्राय को ताड श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा—बडी अच्छी बात है कि, यह हमें कधे पर चढा ले जा रहा है। अत हे लक्ष्मण! जहॉ इसकी हमें ले जाने की इच्छा हो इसे ले चलने दो, क्योंकि इसी मार्ग से जिससे यह हमको लिये जा रहा है—हमे जाना है ॥२३॥२४॥

स तु स्वबलवीर्येण समुत्क्षिप्य निशाचरः।
बालाविव स्कन्धगतौ चकारातिबलौ ततः ॥२५॥

उस अतिबली विराध राक्षस ने अपने बल पराक्रम से श्रीराम और लक्ष्मण को दो बालकों की तरह अपने दोनो कंधो पर बिठा लिया ॥२५॥

तावारोप्य ततः स्कन्धं राघवौ रजनीचरः ।
विराधो निनदन् घोरं जगामाभिमुखो वनम् ॥२६॥

वह विराध राक्षस श्रीराम लक्ष्मण को अपने कंधों पर रख, बड़े ज़ोर से चिल्लाता हुआ वन की ओर चला ॥२६॥

वनं महामेघनिभं प्रविष्टो
द्रुमैर्महद्भिर्विविधैरुपेतम् ।
नानाविधैः पक्षिशतैर्विचित्रं
शिवायुतं व्यालमृगैर्विकीर्णम् ॥२७॥

फिर वह राक्षस महामेघ के तुल्य अनेक प्रकार के बड़े बड़े वृक्षों से युक्त विविध प्रकार के पक्षियों के समूह से परिपूर्ण, सियारों अजगरों और मृगों से युक्त वन में उन दोनों को ले चला ॥२७॥

अरण्यकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

चतुर्थः सर्गः

—❀—

ह्रियमाणौ तु तौ दृष्ट्वा वैदेही रामलक्ष्मणौ ।
उच्चैःस्वरेण चुक्रोश प्रगृह्य[1] सुभुजा भुजौ ॥१॥

जब विराध श्रीराम और लक्ष्मण को हरण कर ले चला, तब यह देख जानकी जी अपनी बड़ी बड़ी भुजाएँ ऊपर उठा उच्च स्वर से रो कर रुदन करने लगी ॥१॥

---

[1] प्रगृह्य—उत्थाप्य । (रा०)

एष दशरथी रामः सत्यवा[1]ञ्शीलवा[2]ञ्शुचिः[3] ।
रक्षसा रौद्ररूपेण ह्रियते सहलक्ष्मणः ॥२॥

हा ! यह भयानक राक्षस, महाराज दशरथ के सत्यभाषी, सदाचारी और सीधे सादे पुत्र श्रीरामचन्द्र को, लक्ष्मण सहित हरे लिये जाता है ॥२॥

मां वृका भक्षयिष्यन्ति शार्दूला द्वीपिनस्तथा ।
मां हरोत्सृज्य काकुत्स्थौ नमस्ते राक्षसोत्तम ॥३॥

अब मुझे ये वनैले जन्तु शेर चीते खा डालेंगे । हे राक्षसोत्तम ! मैं तुझे नमस्कार करती हूँ । तू इन दोनों काकुत्स्थ-राजकुमारों को छोड दे और इनके बदले मुझे हर ले ॥३॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।
वेगं[4] प्रचक्रतुर्वीरौ वधे तस्य दुरात्मनः ॥४॥

सीता के ऐसे वचन सुन, दोनों वीर भाई श्रीराम और लक्ष्मण, उस दुरात्मा के घात के लिए उद्यत हो शीघ्रता करने लगे ॥४॥

तस्य रौद्रस्य सौमित्रिर्बाहुं सव्यं बभञ्ज ह ।
रामस्तु दक्षिणं बाहुं तरसा[5] तस्य रक्षसः ॥५॥

उस भयङ्कर राक्षस की बाईं भुजा लक्ष्मण जी ने और दहिनी भुजा श्रीरामचन्द्रजी ने बल लगा कर तोड डाली ॥५॥

---

१ सत्यवान्—सत्यवचनवान् । (गो०) २ शीलवान्—सदाचारसम्पन्न । (गो०) ३ शुचि —ऋजुबुद्धि । (गो०) ४ वेग—त्वरान् । (रा०) ५ तरसा—बलेन । (गो०)

स भग्नबाहुः संविग्नो[1] निपपाताशु राक्षसः ।
धरण्यां मेघसङ्काशो वज्रभिन्न इवाचलः ॥६॥

जब उस राक्षस की दोनों बाहें टूट गईं तब वह मेघ के समान काला राक्षस भयभीत हो तुरन्त जमीन पर वैसे ही गिर पड़ा, जैसे वज्र के आघात से पर्वत टूट कर गिरता है ॥६॥

मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिः सूदयन्तौ तु राक्षसम् ।
उद्यम्योद्यम्य चाप्येनं स्थण्डिले निष्पिपेषतुः ॥७॥

उस समय वे दोनों भाई उस राक्षस को घूसों से मारते, पैरों से ठुकराते और उठा उठा कर जमीन पर पटकते हुए उसका धचूमर निकाले डालते थे ॥७॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैः खड्गाभ्यां च परिक्षतः ।
निष्पिष्टो बहुधा भूमौ न ममार स राक्षसः ॥८॥

यद्यपि उस राक्षस के शरीर मे अनेक तीर विधे हुए थे और वह तलवारों के अनेक घाव खाए हुए था, तथा कई बार जमीन पर उसने पटकी भी खाई थी, तथापि वह मरा नहीं था ॥८॥

तं प्रेक्ष्य रामः सुभृशमवध्यमचलोपमम् ।
भयेष्वभयदः[2] श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ॥९॥

स्वगुणों के कीर्त्तन, स्मरणादि करने पर भय के समय अभय देने वाले श्रीरामचन्द्र ने उस पर्वत के समान सर्वथा अवध्य राक्षस के सम्बन्ध में लक्ष्मण से यह कहा ॥९॥

---

१ संविग्नः—भीतः । (गो०) २ भयेषु अभयदः—भयकालेषु अभयदः । स्वगुणादि श्रवण स्मरण कीर्तनादिना । (रा०)

तपसा पुरुषव्याघ्र राक्षसोऽय न शक्यते ।
शस्त्रेण युधि निर्जेतुं राक्षसं निखनावहे ॥१०॥

हे पुरुषसिंह ! यह राक्षस अपने तपोबल से शस्त्र द्वारा नहीं मारा जा सकता, अतः आओ इसे पृथिवी में गाढ़ दें ॥१०॥

तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं राक्षसः प्रश्रितं[1] वचः ।
इदं प्रोवाच काकुत्स्थं विराधः पुरुषर्षभम् ॥११॥

श्रीरामचन्द्र जी का यह वचन सुन, वह राक्षस विनय पूर्वक पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगा ॥११॥

हतोऽहं पुरुषव्याघ्र शक्रतुल्यबलेन वै ।
मया तु पूर्वं त्वं मोहान्न ज्ञातः पुरुषर्षभः ॥१२॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! हे पुरुषसिंह ! मैं तुम्हारे इन्द्र तुल्य पराक्रम से अधमरा हो गया हूँ । मैंने अब तक अज्ञान से तुमको नहीं पहचाना था ॥१२॥

कौसल्या सुप्रजा तात रामस्त्वं विदितो मया ।
वैदेही च महाभागा लक्ष्मणश्च महायशाः ॥१३॥

हे तात ! अब इस समय मैंने जाना कि, तुम श्रीराम हो और तुम्हारे कारण देवी कौसल्या सुपुत्रवती हुई हैं । इन सौभाग्यवन्ती सीता और महायशस्वी लक्ष्मण को भी मैंने भली भाँति पहचान लिया है ॥१३॥

अपि शापादहं घोरां प्रविष्टो राक्षसीं तनुम् ।
तुम्बुरुर्नाम गन्धर्वः शप्तो वैश्रवणेन ह ॥१४॥

---

१ प्रश्रित—विनयान्वित । (गो०)

हे राम ! मैंने शापवश यह घोर राक्षसशरीर पाया है। मैं पहले तुम्बरु नाम का गन्धर्व था। मुझे कुबेर ने शाप दिया था ॥१४॥

प्रसाद्यमानश्च मया सोऽब्रवीन् मां महायशाः ।
यदा दाशरथी रामस्त्वां वधिष्यति संयुगे ॥१५॥

शाप देने के बाद जब मैंने उनकी बहुत अनुनय विनय कर उनको प्रसन्न किया, तब वे महायशस्वी मुझसे बोले कि, जब दशरथनन्दन श्रीराम तुझे युद्ध में मारेंगे ॥१५॥

तदा प्रकृतिमापन्नो[1] भवान्स्वर्गं गमिष्यति ।
इति वैश्रवणो राजा रम्भासक्तं पुराऽनघ ॥१६॥

तब तू फिर अपने पूर्ववत् शरीर को प्राप्त कर स्वर्ग को जायगा। हे अनघ ! मुझे राजा वरुण जी ने यह शाप इस लिए दिया था कि, मैं रम्भा पर आसक्त हो गया था ॥१६॥

अनुपस्थीयमानो मां संक्रुद्धो व्याजहार ह ।
तव प्रसादान् मुक्तोऽहमभिशापात् सुदारुणात् ॥१७॥

अतः मैं समय पर वरुण जी के पास उपस्थित न हो सका। इस पर अप्रसन्न हो उन्होंने शाप दिया। अब मैं तुम्हारी कृपा से उस दारुण शाप से छूट गया ॥१७॥

भुवनं स्वं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु परन्तप ।
इतो वसति धर्मात्मा शरभङ्गः प्रतापवान् ॥१७॥

हे परन्तप ! तुम्हारा मङ्गल हो, मैं अब अपने लोक को जाऊँगा। इसी वन में प्रतापी एवं धर्मात्मा शरभङ्ग जी का आश्रम है ॥१८॥

---

१ प्रकृति—स्वरूप। (गो०)

अध्यर्धयोजने तात महर्षिः सूर्यसन्निभः।
तं क्षिप्रमभिगच्छ त्वं स ते श्रेयो विधास्यति ॥१६॥

हे तात! सूर्य के समान उन महर्षि का आश्रम यहाँ से डेढ योजन की दूरी पर है। उनके समीप तुम शीघ्र जाओ। वे तुम्हारा भला करेंगे ॥१६॥

अवटे चापि मां राम प्रक्षिप्य कुशली व्रज।
रक्षसां गतसत्त्वानामेष धर्मः सनातनः ॥२०॥

हे राम! मुझे गड्ढे में डाल तुम मजे में चले जाओ। मरे हुए राक्षसों को जमीन में गाडना यह प्राचीन प्रथा है ॥२०॥

अवटे ये निधीयन्ते तेषां लोकाः सनातनाः।
एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थं विराधः शरपीडितः ॥२१॥

क्योंकि जो मरे हुए राक्षस गड्ढा खोद कर गाड दिए जाते हैं, उनको सनातन लोक प्राप्त होते हैं। विराध राक्षस, जो शरपीडित था, श्रीरामचन्द्र जी से इस प्रकार कह ॥२१॥

बभूव स्वर्गसम्प्राप्तो न्यस्तदेहो महाबलः।
तच्छ्रुत्वा राघवो वाक्यं लक्ष्मणं व्यादिदेश ह ॥२२॥

और शरीर को त्याग, स्वर्ग को चला गया। श्रीरामचन्द्र जी ने राक्षस के ये वचन सुन, लक्ष्मण को आज्ञा दी ॥२२॥

कुञ्जरस्येव रौद्रस्य राक्षसस्यास्य लक्ष्मण।
वनेऽस्मिन् सुमहच्छ्वभ्रं खन्यतां रौद्रकर्मणः ॥२३॥

हे लक्ष्मण! प्रचण्ड हाथी की तरह भीमकर्मा इस राक्षस के शरीर को गाड़ने के लिये तुम इस वन में एक बहुत बड़ा गड्ढा खोदो ॥२३॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामः प्रदरः खन्यतामिति ।
तस्थौ विराधमाक्रम्य कण्ठे पादेन वीर्यवान् ॥२४॥

लक्ष्मणजी को गड्ढा खोदने की आज्ञा दे, पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी स्वयं, अपने पैरों से विराध का गला दबाए खड़े रहे (जिससे भागने न पावे) ॥२४॥

ततः खनित्रमादाय लक्ष्मणः श्वभ्रमुत्तमम् ।
अखनत्पार्श्वतस्तस्य विराधस्य महात्मनः ॥२५॥

तब लक्ष्मण ने खन्ता ले, विराध के पास ही एक गड्ढा खोदा ॥२५॥

तं मुक्तकण्ठं निष्पिष्य शङ्कुकर्णं[1] महास्वनम् ।
विराधं प्राक्षिपच्छ्वभ्रे नदन्तं भैरवस्वनम् ॥२६॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने गधे जैसे कान वाले विराध के गले से अपने पैर हटा लिए और उसको उठा कर उस गड्ढे में डाल दिया। उस समय विराध अति घोर शब्द करने लगा ॥२६॥

तमाहवे निर्जितमाशुविक्रमौ
स्थिरावुभौ संयति[2] रामलक्ष्मणौ ।
मुदान्वितौ चिक्षिपतुर्भयावहं
नदन्तमुत्क्षिप्य बिले तु राक्षसम् ॥२७॥

---

१ शङ्कुकर्णं—शङ्कु कीलतत्सदृश गर्दभाकारवा। (गो०) २ संयति—युद्धभूमौ। (रा०)

युद्ध में स्थिर चित्त रहने वाले अर्थात् न घबड़ाने वाले और सत्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र व लक्ष्मण ने प्रसन्न हो विकटाकार उस प्रकाण्ड राक्षस को, युद्ध मे पराजित किया और अपने भुजबल से उठा कर उस शोर करते हुए राक्षस को गड्ढे मे डाल कर, गड्ढे को मिट्टी से पाट दिया ॥२७॥

अवध्यतां प्रेक्ष्य महासुरस्य तौ
शितेन शस्त्रेण तदा नरर्षभौ ।
समर्थ्य चात्यर्थविशारदावुभौ
बिले विराधस्य वधं प्रचक्रतुः ॥२८॥'

पैने से पैने शस्त्र से भी उस महाअसुर को मरते न देख और उसके वध का एक मात्र उपाय उसे गढे मे गाड़ना निश्चित कर, उन दोनों चतुर भाइयों ने, उसे गढे मे गाड़ कर, उसका वध किया ॥२८॥

स्वयं विराधेन हि मृत्युरात्मनः
प्रसह्य रामेण यथार्थमीप्सितः ।
निवेदितः काननचारिणा[1] स्वयं
न मे वधः शस्त्रकृतो भवेदिति ॥२९॥

विराध ने बरजोरी अपनी मौत के लिए, श्रीरामचन्द्रजी से इच्छा प्रकट की, क्योंकि उसने स्पष्ट अपने मुख से कहा कि, मैं किसी भी शस्त्र से नहीं मारा जा सकता ॥२९॥

[टिप्पणी—आदिकाव्यकार ने यह श्लोक इस लिए लिखा है कि जिससे लोग श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर यह दोष न लगावें कि उन्होंने विराध

---

१ काननचारिणा—विराधेन । (रा०)

को जीवित ज़मीन में गाड़ दिया। इसका समाधान करने ही को इस श्लोक में कहा गया है कि, विराध ने अपने आप अपनी मौत बुलाई और वरदान द्वारा अस्त्र शस्त्र से अवध्य होने के कारण, उसके कथनानुसार उसका वध करने के लिए श्रीरामचन्द्र को उसे जिन्दा ज़मीन में गाड़ना पड़ा।]

तदेव रामेण निशम्य भाषितं
कृता मतिस्तस्य बिलप्रवेशने।
बिलं च रामेण बलेन रक्षसा
प्रवेश्यमानेन वनं विनादितम् ॥३०॥

विराध की इच्छा के अनुसार हो श्रीरामचन्द्र ने उसको गड्ढे मे डाला था। जिस समय वह गड्ढे मे पटका गया, उस समय वह ऐसा गरजा कि, उसके चीत्कार से सारा वन प्रतिध्वनित हो गया ॥३०॥

प्रहृष्टरूपाविव रामलक्ष्मणौ
विराधमुर्व्यां प्रदरे निखाय तम्।
ननन्दतुर्वीतभयौ महावने
शिलाभिरन्तर्दधतुश्च राक्षसम् ॥३१॥

इस प्रकार श्रीराम और लक्ष्मण उस विराध राक्षस को पृथिवी में गाड़ और उस महावन में भय रहित हो, अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥३१॥

ततस्तु तौ कार्मुकखड्गधारिणौ
निहत्य रक्षः परिगृह्य मैथिलीम्।
विजह्रतुस्तौ मुदितौ महावने
दिवि स्थितौ चन्द्रदिवाकराविव ॥३२॥

इति तृतीयः सर्गः॥

तदनन्तर धनुष और तलवार धारी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उस राक्षस का वध कर और जानकी जी को साथ ले, उस महावन में प्रसन्न हो, उसी प्रकार सुशोभित हुए, जिस प्रकार आकाश में चन्द्र और सूर्य शोभित होते हैं ॥३२॥

अरण्यकाण्ड का चौथा सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

पञ्चमः सर्गः

—❀—

हत्वा तु त भीमबलं विराधं राक्षसं वने।
ततः सीतां परिष्वज्य समाश्वास्य च वीर्यवान् ॥१॥

इस प्रकार उस वन मे पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ने उस भयङ्कर राक्षस का वध कर और सीता को गले लगा उनको बहुत कुछ ढाढस बँधाया ॥१॥

[टिप्पणी—सीता जी अपने पति को आँखों के सामने विराध द्वारा पकड़ी जाने से बहुत दुःखी और लज्जित थीं। अतः श्रीरामचन्द्रजी ने उन्हें बड़े प्यार से समझाया।]

अब्रवील्लक्ष्मणं रामो भ्रातरं दीप्ततेजसम्।
कष्टं वनमिदं दुर्गं न च स्म वनगोचराः[1] ॥२॥

और अपने तेजस्वी भाई लक्ष्मण से बोले—यह वन बड़ा दुर्गम और कष्टदायी है। हम लोगों ने ऐसा विकट वन इसके पूर्व कभी नहीं देखा था ॥२॥

---

१ वयचेतः पूर्वं कदापि ईदृश वन न दृष्ट। (रा०)

अभिगच्छामहे शीघ्रं शरभङ्गं तपोधनम् ।
आश्रमं शरभङ्गस्य राघवोऽभिजगाम ह ॥३॥

इसलिए आओ शीघ्र हम शरभङ्ग के आश्रम में चलें। यह कह श्रीरामचन्द्र जी शरभङ्ग जी के आश्रम की ओर चले ॥३॥

तस्य देवप्रभावस्य तपसा[1] भावितात्मनः ।
समीपे शरभङ्गस्य ददर्श महदद्भुतम् ॥४॥

वहाँ पहुँच कर, उन देवतुल्य प्रभाववाले और तपस्या द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार किए हुए शरभङ्ग के आश्रम में एक बड़ा चमत्कार देखा ॥४॥

विभ्राजमानं वपुषा सूर्यवैश्वानरोपमम् ।
अवरुह्य रथोत्सङ्गात्सकाशे विबुधानुगम् ॥५॥

देखा कि सूर्य और अग्नि के समान प्रकाशमान, देवराज इन्द्र अपने शरीर की प्रभा से प्रकाशित हो, देवताओं के साथ श्रेष्ठ रथ पर चढ़े हुए हैं ॥५॥

असंस्पृशन्तं वसुधां ददर्श विबुधेश्वरम् ।
सुप्रभाभरणं देवं विरजो[2]ऽम्बरधारिणम् ॥६॥

श्याम रंग के घोड़ों से युक्त उनका रथ पृथिवी का स्पर्श न कर आकाश में चलता था, उनके सब आभूषण चमक रहे थे और पहिनने के वस्त्र भी उजले थे (सफेद) ॥६॥

तद्विधैरेव बहुभिः पूज्यमानं महात्मभिः ।
हरिभि[3]र्वाजिभिर्युक्तमन्तरिक्षगतं रथम् ॥७॥

---

१ तपसा ।। भावितात्मन --साक्षात्कृत परब्रह्मण. "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" इति श्रुतेः (गो०) २ विरजो—निर्मल (गो०) ३ हरिभि —श्यामै.। (गो०)

ददर्शादूरतस्तस्य तरुणादित्यसन्निभम् ।
पाण्डुराभ्रघनप्रख्यं चन्द्रमण्डलसन्निभम् ॥८॥

अपश्यद्विमलं छत्रं चित्रमाल्योपशोभितम् ।
चामरव्यजने चाग्र्ये रुक्मदण्डे महाधने ॥९॥

गृहीते वरनारीभ्यां धूयमाने च मूर्धनि ।
गन्धर्वामरसिद्धाश्च बहवः परमर्षयः ॥१०॥

अन्तरिक्षगतं देवं वाग्भिरग्र्याभिरीडिरे ।
सह सम्भाषमाणे तु शरभङ्गेण वासवे ॥११॥

श्रीरामचन्द्र जी ने दूर से देखा कि, उनके मस्तक पर तरुण सूर्य (मध्याह्न के सूर्य) के समान अथवा सफेद मेघ के तुल्य अथवा चन्द्रमण्डल के सदृश विमल छत्र, जो चित्र विचित्र मालाओं से सुशोभित था, लगा हुआ है। उनके आगे सोने की डंडी के और मूल्यवान चवर और पखा लिये हुए दो सुन्दरी स्त्रियाँ उन्हें उनके मस्तक पर डुला रही थीं। बहुत से देव गन्धर्व और सिद्ध और देवर्षिश्रेष्ठ उनका स्तुति-पाठ करते जाते थे। उस समय इन्द्र शरभङ्ग जी से कुछ वार्त्तालाप कर रहे थे ॥७॥८॥९॥१०॥११॥

दृष्ट्वा शतक्रतुं तत्र रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
रामोऽथ रथमुद्दिश्य लक्ष्मणाय प्रदर्शयन् ॥१२॥

वहाँ पर इन्द्र को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने, लक्ष्मण का ध्यान उस रथ की ओर आकृष्ट कर लक्ष्मण से कहा ॥१२॥

अर्चिष्मन्तं[1] श्रिया[2] जुष्टमद्भुतं पश्य लक्ष्मण ।
प्रतपन्तमिवादित्यमन्तरिक्षगतं रथम् ॥१३॥

हे लक्ष्मण! परम दीप्तिमान, कान्तियुक्त, तपते हुए सूर्य की तरह चमकीले इस अद्भुत एवं आकाशचारी रथ को देखो ॥१३॥

ये हयाः पुरुहूतस्य[3] पुरा शक्रस्य नः श्रुताः ।
अन्तरिक्षगता दिव्यास्त इमे हरयो ध्रुवम् ॥१४॥

अनेक यज्ञ करने वाले इन्द्र के घोड़ों के विषय में मैंने जो पहले सुना था, सो निश्चय ही आकाशचारी श्याम रंग के दिव्य घोड़े ये ही हैं ॥१४॥

इमे च पुरुषव्याघ्रा ये तिष्ठन्त्यभितो रथम् ।
शतं शतं कुण्डलिनो युवानः खड्गपाणयः ॥१५॥

विस्तीर्णविपुलोरस्काः परिघायतबाहवः ।
शोणांशुवसनाः सर्वे व्याघ्रा इव दुरासदाः ॥१६॥

उरोदेशेषु सर्वेषां हारा ज्वलनसन्निभाः ।
रूपं बिभ्रति सौमित्रे पञ्चविंशतिवार्षिकम् ॥१७॥

हे पुरुषसिंह! इस रथ के चारों ओर जो सैकड़ों युवा पुरुष कानों में कुण्डल पहिने कमर में तलवारें बाँधे, विशाल वक्षःस्थल और विशाल भुजा वाले, लाल पोशाक पहिने हुए, व्याघ्र के समान दुर्धर्ष और गले में अग्नि तुल्य हार पहिने हुए हैं, सब के सब पच्चीस वर्ष की उमर के जान पड़ते हैं ॥१५॥१६॥१७॥

---

१ अर्चिष्मन्तं—मनोहरं । (गो०) २ श्रिया—कान्त्या । (गो०) ३ पुरुहूतस्य—अनेकहूतस्य । (गो०)

एतद्धि किल देवानां वयो भवति नित्यदा ।
यथेमे पुरुषव्याघ्रा दृश्यन्ते प्रियदर्शनाः ॥१८॥

हे पुरुषसिंह ! देवताओं की उम्र और सौन्दर्य निश्चय ही सदा ऐसा ही बना रहता है, जैसे ये अब प्रियदर्शन देख पड़ते हैं ॥१८॥

इहैव सह वैदेह्या मुहूर्तं तिष्ठ लक्ष्मण ।
यावज्जानाम्यहं व्यक्तं क एष द्युतिमान्रथे ॥१९॥

हे लक्ष्मण ! जब तक मैं जाकर यह जान लूँ कि, यह बैठा हुआ द्युतिमान पुरुष कौन है, तब तक तुम मुहूर्त भर सीता जी के साथ यहीं खड़े रहो ॥१९॥

तमेवमुक्त्वा सौमित्रिमिहैव स्थीयतामिति ।
अभिचक्राम काकुत्स्थः शरभङ्गाश्रमं प्रति ॥२०॥

लक्ष्मण जी से यह कह कि, तुम यहीं खड़े रहो, श्रीरामचन्द्र जी शरभङ्ग जी के आश्रम की ओर बढ़े ॥२०॥

ततः समभिगच्छन्तं प्रेक्ष्य रामं शचीपतिः ।
शरभङ्गमनुप्राप्य विविक्त इदमब्रवीत् ॥२१॥

शचीपति इन्द्र ने श्रीराम को आते देख, शरभङ्ग से विदा माँगी और देवताओं से गुप्त रीति से यह बोले ॥२१॥

इहोपयात्यसौ रामो यावन्मां नाभिभाषते ।
निष्ठां नयतु तावत्तु ततो मां द्रष्टुमर्हति ॥२२॥

देखो श्रीरामचन्द्र इधर ही चले आ रहे हैं। सो उनको मुझसे बातचीत करने का अवसर न दे कर उनके यहाँ पहुँचने के पूर्व ही, यहाँ से हमें अन्यत्र ले चलो, जिससे वे हमें देख भी न पावें ॥२२॥

जितवन्तं कृतार्थं च द्रष्टाऽहमचिरादिमम् ।
कर्म ह्यनेन कर्तव्यं महदन्यैः सुदुष्करम् ॥२३॥

निष्पादयित्वा तत्कर्म ततो मां द्रष्टुमर्हति ।
इति वज्री तमामन्त्र्य मानयित्वा च तापसम् ॥२४॥

रथेन हरियुक्तेन ययौ दिवमरिन्दमः ।
प्रयाते तु सहस्राक्षे राघवः सपरिच्छदम् ॥२५॥

अभी इनको ऐसा बड़ा दुष्कर कार्य करना है, जो दूसरों से हो ही नहीं सकता। जब यह थोड़े दिनों बाद राक्षसों को जीत कर कृतकार्य होंगे, तब मैं इनके दर्शन करूँगा। उस कार्य को कर चुकने पर ही यह मुझे देख सकेंगे। तदनन्तर इन्द्र, महर्षि शरभङ्ग से विदा माँग और उनका विशेष सम्मान कर, घोड़े जुते हुए रथ में बैठ स्वर्ग को चले गए। इन्द्र के जाने के बाद, श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण सहित ॥२३॥२४॥२५॥

अग्निहोत्रमुपासीनं शरभङ्गमुपागतम् ।
तस्य पादौ च संगृह्य रामः सीता च लक्ष्मणः ॥२६॥

अग्निहोत्र में बैठे हुए शरभङ्ग जी के पास गए और श्रीरामचन्द्र सीता तथा लक्ष्मण ने उनके चरण छुए ॥२६॥

निषेदुः समनुज्ञाता लब्धवासा निमन्त्रिताः ।
ततः शक्रोपयानं तु पर्यपृच्छत्स राघवः ॥२७॥

शरभङ्ग ने इनके टिकने के लिए स्थान बतलाया और भोजन करने के लिए निमन्त्रण दिया। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ इन्द्र के आने का कारण पूछा ॥२७॥

शरभङ्गश्च तत्सर्वं राघवायं न्यवेदयत् ।
मामेष वरदो राम ब्रह्मलोकं निनीषति ॥२८॥

शरभङ्ग ने सब वृत्तान्त कह सुनाया । (शरभङ्ग ने कहा) हे राम ! यह वरदाता इन्द्र मुझे ब्रह्मलोक में ले जाने के लिए आए थे ॥२८॥

जितमुग्रेण तपसा दुष्प्रापमकृतात्मभिः[1] ।
अहं ज्ञात्वा नरव्याघ्र वर्तमानमदूरतः ॥२९॥

मैंने तप द्वारा वह लोक प्राप्त करने का अधिकार सम्पादन कर लिया है, जिसे भगवद् उपासना किए बिना पाना कठिन है । हे पुरुषसिंह ! यह विचार कर कि, तुम समीप आ पहुँचे हो ॥२९॥

ब्रह्मलोकं न गच्छामि त्वामदृष्ट्वा प्रियातिथिम् ।
त्वयाऽहं पुरुषव्याघ्र धार्मिकेण महात्मना ॥३०॥

समागम्य गमिष्यामि त्रिदिवं देवसेवितम् ।
अक्षया नरशार्दूल मया लोका जिताः शुभाः ॥३१॥

अतः तुम सरीखे प्रिय अतिथि के दर्शन किए बिना, मुझे ब्रह्मलोक में जाना अभीष्ट नहीं है । हे पुरुषसिंह ! अब तुम जैसे धर्मनिष्ठ और महात्मा से मिल भेंट कर, मैं स्वर्ग या ब्रह्मलोक को चला जाऊँगा । हे नरशार्दूल ! मैंने तप प्रभाव से जिन अक्षय्य और रम्य लोकों का अधिकार प्राप्त कर रखा है ॥३०॥३१॥

ब्राह्याश्च नाकपृष्ठ्याश्च प्रतिगृह्णीष्व मामकान् ।
एवमुक्तो नरव्याघ्रः सर्वशास्त्रविशारदः ॥३२॥

---

१ अकृतात्मभि —अनुष्ठितभगवदुपासनै । (गो०)

[illegible] शरभङ्गेण राघवो वाक्यमब्रवीत् ।
[illegible] ाहरिष्यामि सर्वलोकान् महामुने ॥३३॥

[illegible] ब्रह्मलोक और स्वर्ग की प्राप्ति के साधन रूप तप [illegible] आपको समर्पित करता हूँ। आप ग्रहण करें। महर्षि शरभ[illegible] ऐसा कहने पर और शरभङ्ग के समर्पित तप फल [illegible] कर सब शास्त्रों के जानने वाले पुरुषसिंह श्री[illegible] शरभङ्ग ऋषि से बोले—हे महामुने। मैं स्वयं ही इन [illegible] को प्राप्त करूँगा ॥३२॥३३॥

[illegible] त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ।
[illegible] वमुक्तस्तु शक्रतुल्यबलेन वै ॥३४॥

[illegible] वन में रहना चाहता हूँ। आप मुझे रहने के लिए स्थान [illegible]। इन्द्र के समान बलवान् श्रीरामचन्द्र जी ने जब इस [illegible] ॥३४॥

[illegible] महाप्राज्ञः पुनरेवाब्रवीद्वचः ।
[illegible] महातेजाः सुतीक्ष्णो नाम धार्मिकः ॥३५॥
[illegible] धर्मात्मा स ते श्रेयो विधास्यति ।
[illegible] अभिगच्छ त्वं शुचौ देशे तपस्विनम् ॥३६॥

[illegible] शरभङ्ग जी फिर बोले। हे राम! इस वन में महा[illegible] धर्मात्मा सुतीक्ष्ण नामक एक ऋषि रहते हैं। वे [illegible] तुम्हारा कल्याण करेंगे। तुम उनके पवित्र आ[illegible] ॥३५॥३६॥

[illegible] वनोद्देशे स ते वास निधास्यति ।
[illegible] ापगां राम प्रतिस्रोतामनुव्रज ॥३७॥

वे तुमको रहने के लिए कोई अच्छा रमणीक स्थान इस वनप्रान्त मे बतला देंगे। इनके आश्रम मे पहुंचने के लिए हे राम! आप इस मन्दाकिनी के बहाव को धर उसके किनारे चले जॉय ॥३७॥

नदी पुष्पोडुपवहां तत्र तत्र गमिष्यसि ।
एष पन्था नरव्याघ्र मुहूर्तं पश्य तात माम् ॥३८॥

हे तात! देखो, इस नदी ने अनेक बडे बडे फूल छोटी छोटी नावों की तरह बहते देख पडते हैं। इनको देखते हुए तुम चले जाओ। मैंने तुमको रास्ता बता दिआ, किन्तु दो घडी मेरी ओर तुम देखते रहो ॥३८॥

यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः ।
ततोऽग्निं सुसमाधाय हुत्वा चाज्येन मन्त्रवित् ॥३९॥

शरभङ्गो महातेजाः प्रविवेश हुताशनम् ।
तस्य रोमाणि केशाश्च ददाहाग्निर्महात्मनः ॥४०॥

जीर्णां त्वचं तथास्थीनि यच्च मांसं सशोणितम् ।
रामस्तु विस्मितो भ्रात्रा भार्यया च सहात्मवान् ॥४१॥

हे तात! सर्प जिस प्रकार पुरानी केचली छोडता है, उसी प्रकार मैं भी इस समय यह पुरानी देह छोडना चाहता हूँ। ऐसा कह मन्त्रवेत्ता शरभङ्ग मुनि अग्नि को स्थापन कर और उसमें घी की आहुति दे, अग्नि मे कूद पड़े। उस समय अग्नि ने उन महात्मा के रोम, केश, जीर्णत्वचा, हड्डियॉ और रुधिर सहित मांस को, भस्म कर डाला। भाई लक्ष्मण और भार्या सीता सहित श्रीरामचन्द्र को, यह देख विस्मय हुआ कि, ॥३९॥४०॥४१॥

स च पावकसङ्काशः कुमारः समपद्यत ।
उत्थायाग्निचयात्तस्माच्छरभङ्गो व्यरोचत ॥४२॥

उस अग्नि में से शरभङ्ग जी अग्नि तुल्य कान्तिमान् एक कुमार का रूप धारण कर निकले और शोभायमान हुए ॥४२॥

स लोकानाहिताग्नीनामृषीणां च महात्मनाम् ।
देवानां च व्यतिक्रम्य ब्रह्मलोकं व्यरोहत ॥४३॥

तदनन्तर शरभङ्ग जी अग्निहोत्रियों, ऋषियों, महात्माओं और देवताओं के लोकों को पीछे छोड़ते हुए, ब्रह्मलोक में जा पहुँचे ॥४३॥

स पुण्यकर्मा भवने द्विजर्षभः
पितामहं सानुचरं ददर्श ह ।
पितामहश्चापि समीक्ष्य तं द्विजं
ननन्द सुस्वागतमित्युवाच ह ॥४४॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

पुण्यात्मा और ब्राह्मणश्रेष्ठ शरभङ्ग जी ने ब्रह्मलोक में जा, अनुचरों से घिरे हुए पितामह ब्रह्मा जी के दर्शन किए। ब्रह्मा जी शरभङ्ग को देख आनन्दित हुए और उनसे स्वागतवचन बोले ॥४४॥

अरण्यकाण्ड का पांचवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षष्ठः सर्गः

—❀—

शरभङ्गे दिवं याते मुनिसङ्घाः समागताः ।
अभ्यगच्छन्त काकुत्स्थं रामं ज्वलिततेजसम् ॥१॥

शरभङ्ग जी जब ब्रह्मलोक को चले गए, तब दण्डकवन में रहने वाले मुनिगण एकत्र हो तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी के पास आए ॥१॥

[टिप्पणी—इन मुनियों का विवरण आगे के चार श्लोकों में दिआ गया है। जो मुनि उस समय श्रीरामचन्द्र जी के पास आए, वे कैसे साधक थे, यह बात इस विवरण के देखने से अवगत होती है।]

वैखानसा वालखिल्याः सम्प्रक्षाला मरीचिपाः ।
अश्मकुट्टाश्च बहवः पत्राहाराश्च धार्मिकाः ॥२॥
दन्तोलूखलिनश्चैव तथैवोन्मज्जकाः परे ।
गात्रशय्या अशय्याश्च तथैवाभ्रावकाशकाः[1] ॥३॥
मुनयः सलिलाहारा वायुभक्षास्तथापरे ।
आकाशनिलयाश्चैव तथा स्थण्डिलशायिनः ॥४॥
व्रतोपवासिनो दान्तास्तथार्द्रपटवाससः ।
सजपाश्च तपोनित्यास्तथा पञ्चतपोन्विताः ॥५॥

आए हुए मुनियों मे वैखानस (ब्रह्म के नख से उत्पन्न) वालखिल्य (ब्रह्म के रोम से उत्पन्न), सम्प्रक्षाल (ब्रह्म के पैर के धोवन के

---

१ अभ्रावकाशका —सर्ववातातपादिष्वप्यनावृतदेश एव वर्तमाना । (गो०)

जल से उत्पन्न), मरीचिप (सूर्य व चन्द्र की किरणों को पी कर रहने वाले), अश्मकुट्ट (कच्चे अन्न को पत्थर से कूट कर खाने वाले), पत्राहार (वृक्षों के पत्तों को खाने वाले), दन्तोलूखली (कच्चे अन्न को दांतों से कुचल कर खाने वाले), उन्मज्जका (कण्ठ भर जल में खड़े हो तपस्या करने वाले), गात्रशय्या (बिछौना बिछाए बिना ही ज़मीन पर सोने वाले), अशय्य (जो कभी सोते ही न थे), अभ्रावकाशक (वर्षा गर्मी जाड़े की ऋतुओं में खुले मैदान में रहने वाले), सलिलाहारी (पानी पी कर रहने वाले), वायुभक्षी (केवल हवा पी कर रहने वाले), आकाशनिलय (जो बिना आड़ स्थानों में रहते थे), स्थण्डिलशायी (लीपी हुई पवित्र भूमि पर सोने वाले), व्रतोपवासी, इन्द्रियों को जीतने वाले, गीले वस्त्र सदा धारण करने वाले, सदा जप करने वाले, सदा तप करने वाले तथा पञ्चाग्नि तापने वाले ॥२॥३॥४॥५॥

सर्वे ब्राह्म्या[1] श्रिया जुष्टा दृढयोगाः समाहिताः ।
शरभङ्गाश्रमे राममभिजग्मुश्च तापसाः ॥६॥

ये सब के सब ऋषि मुनि ब्रह्मवर्चस से युक्त थे और योगाभ्यास में दृढ़ और सावधान रहने वाले थे। ये सब तपस्वी शरभङ्ग के आश्रम में श्रीरामचन्द्र जी के पास पहुँचे ॥६॥

अभिगम्य च धर्मज्ञा रामं धर्मभृतां वरम् ।
ऊचुः परमधर्मज्ञमृषिसङ्घाः समाहिताः ॥७॥

इस प्रकार वे परम धर्मात्मा ऋषि मुनि सब वहाँ जा कर धर्मिष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से सावधानता पूर्वक बोले ॥७॥

त्वमिक्ष्वाकुकुलस्यास्य पृथिव्याश्च महारथ ।
प्रधानश्चासि नाथश्च देवानां मघवानिव ॥८॥

---

[1] ब्राह्म्या श्रिया—ब्रह्मनिष्ठानुष्ठानजनित ब्रह्मवर्चसेन। (गो०)

हे राम ! आप इक्ष्वाकु वंश में प्रधान, पृथिवीनाथ और महारथी हैं इतना नहीं प्रत्युत जिस प्रकार देवताओं के राजा इन्द्र हैं, उसी प्रकार आप भी मुख्य लोगों के नाथ हैं । अर्थात् आप राजाओं के राजा अर्थात् स्वामी होने के कारण महाराज हैं ॥८॥

विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु यशसा विक्रमेण च ।
पितृभक्तिश्च सत्यं च त्वयि धर्मश्च पुष्कलः ॥९॥

आपका यश और पराक्रम तीनों लोकों में (भूर्भुव स्व: लोकों में) प्रसिद्ध है । आप पूर्ण पितृभक्त, सत्यवादी और साङ्गोपाङ्ग धर्म का पालन करने वाले हैं ॥९॥

त्वामासाद्य महात्मानं धर्मज्ञं धर्मवत्सलम् ।
अर्थित्वान्नाथ वक्ष्यामस्तच्च नः क्षन्तुमर्हसि ॥१०॥

आप जैसे महात्मा, धर्मज्ञ और धर्मवत्सल को पा कर, हम लोग याचक बन कर, जो कुछ आपसे कहना चाहते हैं, उसके लिए आप हमें क्षमा करें ॥१०॥

अधर्मस्तु महांस्तात भवेत्तस्य महीपतेः ।
यो हरेद्बलिषड्भाग न च रक्षति पुत्रवत् ॥११॥

हे तात ! वह राजा बड़ा अधर्मी है, जो प्रजा से पैदावारी का छठवाँ हिस्सा राजकर में उगाह कर भी, प्रजा का पुत्रवत् पालन नहीं करता ॥११॥

युञ्जानः स्वानिव प्राणान् प्राणैरिष्टान् सुतानिव ।
नित्ययुक्तः[१] सदा रक्षन् सर्वान् विषयवासिनः ॥१२॥

---

१ नित्ययुक्तः—सदासावधान । (रा०)

और जो राजा सदा यत्नवान और सावधान रह कर, अपने राज्य की प्रजा की अपने प्राणों के समान रक्षा करता है ॥१२॥

प्राप्नोति शाश्वतीं राम कीर्त्तिं स बहुवार्षिकीम् ।
ब्रह्मणः स्थानमासाद्य तत्र चापि महीयते ॥१३॥

वह राजा, इस लोक में बहुवर्षव्यापिनी स्थायी कीर्ति प्राप्त कर, अन्त में ब्रह्मलोक में जा, विशेष सम्मान का पात्र बनता है ॥१३॥

यत्करोति परं धर्मं मुनिर्मूलफलाशनः ।
तत्र राज्ञश्चतुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षतः ॥१४॥

धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा करने वाले राजा को, कन्दमूल फल खा कर, तप द्वारा ऋषि जो पुण्यफल सञ्चय करते हैं, उसका चौथा भाग मिलता है ॥१४॥

सोऽयं ब्राह्मणभूयिष्ठो वानप्रस्थगणो महान् ।
त्वन्नाथोऽनाथवद्राम राक्षसैर्वध्यते भृशम् ॥१५॥

हे रामचन्द्र! यह वानप्रस्थ लोग, जिनमें ब्राह्मण अधिक हैं, तुम जैसे रक्षक के रहते भी अनाथ की तरह राक्षसों द्वारा मारे जाते हैं ॥१५॥

एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भावितात्मनाम् ।
हतानां राक्षसैर्घोरैर्बहूनां बहुधा[1] वने ॥१६॥

हे राम! आप इधर आइये और इन बहुत से आत्मदर्शी मुनियों के मृत शरीरों को देखिये जिनको घोर राक्षसों ने भालों से, बेंतों से छेद कर, तलवारों से काट कर मार डाला है ॥१६॥

---

१ बहुधा—बहुभिर्नानाशस्त्रादिभिः । (गो०)

पम्पानदीनिवासानामनुमन्दाकिनीमपि ।
चित्रकूटालयानां च क्रियते कदनं[1] महत् ॥१७॥

पम्पानदी के तटवर्ती तथा मन्दाकिनी के तट पर रहने वाले और चित्रकूटवासी ऋषि ही बहुत मारे जाते हैं ॥१७॥

एवं वयं न मृष्यामो[2] विप्रकारं[3] तपस्विनाम् ।
क्रियमाणं वने घोरं रक्षोभिर्भीमकर्मभिः ॥१८॥

हमसे इन तपस्वियों के ये कष्ट, जो उन्हें इस वन में भयङ्कर राक्षसों द्वारा मिला करते हैं, सहन नहीं होते। अथवा इस वन में भयङ्कर राक्षस तपस्वियों को जो दुःख दिया करते हैं, वे हमसे सहे नहीं जाते ॥१८॥

ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः ।
परिपालय नो राम वध्यमानान्निशाचरैः ॥१९॥

हे राम! आप शरणागतवत्सल हैं, अतः हम सब आपके शरण आए हैं। आप हमको इन राक्षसों से जो हम लोगों को मारा करते हैं, बचाइए ॥१९॥

परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते ।
परिपालय नः सर्वान् राक्षसेभ्यो नृपात्मज ॥२०॥

हे वीर! इस पृथिवी पर तुम छोड़, दूसरा कोई हमारी रक्षा करने वाला, हमें नहीं देख पड़ता। अतः हे राजकुमार! तुम हमारी इन राक्षसों से रक्षा करो ॥ २० ॥

---

१ कदनं हिंसा। (गो०) २ नमृष्यामः—सोढुमशक्ताः। (रा०)
३ विप्रकार—दुःख। (रा०)

एतच्छ्रुत्वा तु काकुत्स्थस्तापसानां[1] तपस्विनाम्[2] ।
इदं प्रोवाच धर्मात्मा सर्वानेव तपस्विनः ॥२१॥

इस प्रकार उन महातपा तपस्वियों के वचन सुन, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी ने उन सब तपस्वियों से उत्तर में यह कहा ॥२१॥

नैवमर्हथ मां वक्तुमाज्ञप्तोऽहं तपस्विनाम् ।
केवलेनात्मकार्येण प्रवेष्टव्यं मया वनम् ॥२२॥

आप लोगों का मुझसे प्रार्थना करना उचित नहीं। क्योंकि मैं तो तपस्वियों का आज्ञाकारी हूँ। मुझको केवल अपने कार्य के लिए इस वन में आया हुआ जानिए, अथवा आप मुझे अपना कार्य कराने को, जिस वन में चाहिए भेज दीजिए ॥२२॥

विप्रकारमपाक्रष्टुं राक्षसैर्भवतामिमम् ।
पितुस्तु निर्देशकरः प्रविष्टोऽहमिदं वनम् ॥२३॥

मैं तो आप लोगों के कष्ट को, जो आप लोगों को राक्षसों से मिलता है, दूर करने तथा पिता की आज्ञा का पालन करने ही को इस वन में आया हूँ ॥२३॥

[टिप्पणी—प्रविष्टोऽहमिदंवनम्" का तात्पर्य यही है कि, यदि मुझे केवल पिता के आज्ञानुसार वनवास ही करना होता तो मैं यहाँ न आ कर कहीं किसी वन में जा सकता था, किन्तु मुझे तो पिता की आज्ञा का पालन और आपके कष्टों को दूर करना था। इसी लिए मैं इस वन में आया हूँ।]

भवतामर्थसिद्ध्यर्थमागतोऽहं यदृच्छया ।
तस्य मेऽयं वने वासो भविष्यति महाफलः ॥२४॥

---

[1] [illegible]—[illegible]। (गो०) २ तपस्विनां—प्रशस्ततपसां। (गो०)

आप लोगों के काम के लिए ही मैं इच्छापूर्वक जान बूझ कर यहाँ आया हूँ। अतः मेरा इस वन में रहना बड़ा लाभदायक होगा ॥२४॥

तपस्विनां रणे शत्रून् हन्तुमिच्छामि राक्षसान्।
पश्यन्तु वीर्यमृषयः सभ्रातुर्मे तपोधनाः ॥२५

मैं तपस्वियों के शत्रु राक्षसों का युद्धक्षेत्र में वध करना चाहता हूँ। तपोधन ऋषिगण मेरे और मेरे भाई के पराक्रम को देखें ॥२५॥

दत्त्वाऽभयं चापि तपोधनानां
धर्मे धृतात्मा सह लक्ष्मणेन।
तपोधनैश्चापि सभाज्यवृत्तः
सुतीक्ष्णमेवाभिजगाम वीरः ॥२६॥

इति षष्ठः सर्गः ॥

धर्मधुरन्धर वीर श्रीरामचन्द्र, तपस्वियों को अभय प्रदान कर उनसे प्रशंसित हुए। तदनन्तर लक्ष्मण, सीता तथा उन ऋषियों को अपने साथ ले, वे सुतीक्ष्ण जी के आश्रम की ओर चले ॥२६॥

अरण्यकाण्ड का छठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

सप्तमः सर्गः

—❀—

रामस्तु सहितो भ्रात्रा सीतया च परन्तपः।
सुतीक्ष्णस्याश्रमपदं जगाम सह तैर्द्विजैः ॥१॥

परन्तप श्रीरामचन्द्र जी, उन मुनियों को अपने साथ लिये हुए, सीता और लक्ष्मण सहित सुतीक्ष्ण के आश्रम की ओर गए ॥१॥

स गत्वाऽदूरमध्वानं नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः ।
ददर्श विपुलं शैलं[1] महामेघमिवोन्नतम् ॥२॥

रामचन्द्र ऋषि के आश्रम से बहुत दूर आगे जा और मार्ग में अनेक गहरी नदियों को पार कर, बड़े चौड़े और एक बड़े बादल के तरह श्यामरंग के, पहाड़ी वन प्रदेश में, वे जा पहुँचे ॥२॥

ततस्तदिक्ष्वाकुवरौ सततं विविधैर्द्रुमैः ।
काननं तौ विविशतुः सीतया सह राघवौ ॥३॥

तदनन्तर इक्ष्वाकुवंश सम्भूत श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण, सीता जी सहित उस वन में पहुँचे, जिसमें भाँति-भाँति के वृक्ष लगे हुए थे ॥३॥

प्रविष्टस्तु वनं घोरं बहुपुष्पफलद्रुमम् ।
ददर्शाश्रममेकान्ते चीरमालापरिष्कृतम्[3] ॥४॥

उस वन में पहुँच कर श्रीरामचन्द्र जी ने, अनेक फलफूल वाले वृक्षों के बीच बना हुआ एकान्त स्थल में एक आश्रम देखा, जो चीरों और पुष्पमालाओं से भूषित था ॥४॥

तत्र तापसमासीनं मलपङ्कजटाधरम् ।
रामः सुतीक्ष्णं विधिवत्[4] तपोवृद्धमभाषत ॥५॥

---

१ शैलं—[illegible] । (गो०) २ महामेघमिवोन्नतं—श्यामकाया-[illegible] । (गो०) ३ परिष्कृतं—अलङ्कृतं । (गो०) ४ विधिवत् । (गो०)

वहाँ पर धूलधूसरित शरीर और जटाधारी अथवा धूल धूसरित जटाधारी और तपस्या में लीन, तपोवृद्ध सुतीक्ष्ण को देख, श्रीरामचन्द्र जी उनसे क्रमश यह बोले ॥५॥

रामोऽहमस्मि भगवन् भवन्तं द्रष्टुमागतः ।
त्वं माऽभिवद धर्मज्ञ महर्षे सत्यविक्रम[1] ॥६॥

हे भगवन् ! मेरा नाम श्रीरामचन्द्र है। यहाँ आपके दर्शन करने आया हूँ। अतएव हे धर्मज्ञ ! हे अमोघ तप-प्रभाव शालिन् महर्षे ! आप मुझसे वार्तालाप करें ॥६॥

टिप्पणी—इस पद के प्रथम पद में सुतीक्ष्ण के लिए भवन्त और दूसरे में "त्वं" का प्रयोग है।]

स निरीक्ष्य ततो वीरं रामं धर्मभृतां वरम् ।
समाश्लिष्य च बाहुभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥७॥

तब सुतीक्ष्ण जी ने धार्मिकश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी की ओर देखा और दोनों भुजाओं से श्रीरामचन्द्र जी को अपने हृदय से लगा लिया। तत्पश्चात् उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी से यह कहा ॥७॥

स्वागतं खलु ते वीर राम धर्मभृतां वर ।
आश्रमोऽयं त्वयाऽऽक्रान्तः सनाथ इव साम्प्रतम् ॥८॥

हे धार्मिकश्रेष्ठ ! हे वीर श्रीराम ! तुम भले आए। तुम्हारे यहाँ पधारने से यह आश्रम इस समय सनाथ की तरह दिखलाई पड़ता है ॥८॥

प्रतीक्षमाणस्त्वामेव नारोहेऽहं महायशः ।
देवलोकमितो वीर देहं त्यक्त्वा महीतले ॥९॥

हे महायशस्विन ! मैं तुम्हारे दर्शन की प्रतीक्षा में. इतने

---

[1] सत्यविक्रम—अमोघतप प्रभाव। (गो०)

दिनों तक इस लोक में रहा और इस शरीर को त्याग देवलोक को नहीं गया। अथवा आपही के दर्शन की अभिलाषा से मैं इस संसार में अभी तक जीवित हूँ और परलोक जाने के लिए मैंने शरीर नहीं त्यागा ॥९॥

चित्रकूटमुपादाय राज्यभ्रष्टोऽसि मे श्रुतः ।
इहोपयातः काकुत्स्थ देवराजः शतक्रतुः ॥१०॥

मैंने यह सुना था कि आप राज्य त्याग कर चित्रकूट में वास करते हैं। हे ककुत्स्थ ! यहाँ देवराज इन्द्र आए थे ॥१०॥

[क्यों आये थे सो बतलाते हैं कि,]

उपागम्य च मां देवो महादेवः सुरेश्वरः ।
सर्वांल्लोकाञ्जितानाह मम पुण्येन कर्मणा ॥११॥

महादेव सुरेश्वर इन्द्र ने आ कर मुझसे कहा कि, तुम अपने पुण्यकर्म के प्रभाव से समस्त लोकों को जीत चुके, (अर्थात समस्त लोकों में जाने के अधिकारी हो चुके) ॥११॥

तेषु देवर्षिजुष्टेषु जितेषु तपसा मया ।
मत्प्रसादात्सभार्यस्त्वं विहरस्व सलक्ष्मणः ॥१२॥

सो हे राम ! मेरे तपोबल से जीते हुए उन लोकों में, जहाँ देवर्षियों का वास है, मेरे अनुग्रह से तुम सीता और लक्ष्मण सहित विहार करो ॥१२॥

यह सुन आत्मवान् श्रीरामचन्द जी, सत्यवादी और उग्र तपस्या करने वाले महर्षि सुतीक्ष्ण से उसी प्रकार बोले, जिस प्रकार इन्द्र ब्रह्मा जी से बोलते हैं ॥१३॥

अहमेवाहरिष्यामि स्वयं लोकान् महामुने ।
आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ॥१४॥

हे महामुने ! मैं स्वयं ही इन लोकों का सम्पादन कर लूँगा। मैं इस वन में रहना चाहता हूँ, सो आप मुझे कोई अच्छा स्थान बतला दें ॥१४॥

भवान् सर्वत्र कुशलः सर्वभूतहिते रतः ।
आख्यातः शरभङ्गेण गौतमेन महात्मना ॥१५॥

क्योंकि गौतमकुलोद्भव महात्मा शरभङ्ग ने मुझसे यह कहा है कि, आप इस वन के सब स्थानों के जानकार और परोपकारी हैं ॥१५॥

एवमुक्तस्तु रामेण महर्षिर्लोकविश्रुतः ।
अब्रवीन् मधुरं वाक्यं हर्षेण महताऽऽप्लुतः ॥१६॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन लोकविश्रुत महर्षि सुतीक्ष्ण अत्यन्त प्रसन्न हो यह मधुर वचन बोले ॥१६॥

अयमेवाश्रमो राम गुणवान् रम्यतामिह ।
ऋषिसङ्घानुचरितः सदा मूलफलान्वितः ॥१७॥

हे राम ! तुम इसी आश्रम में रहो। क्योंकि इस आश्रम में सब प्रकार की सुविधाएँ हैं। यहाँ ऋषि लोग रहते हैं, और फल और कन्दमूल फल भी सदा मिला करते हैं ॥१७॥

इममाश्रममागम्य मृगसङ्घा महायशः ।
अहत्वा प्रतिगच्छन्ति लोभयित्वा[1]कुतोभयाः ॥१८॥

किन्तु इस आश्रम मे वन्यपशुओं के झुण्ड के झुण्ड आया करते हैं और घूमघाम कर तथा अपने शरीर की सुन्दरता से आश्रमवासियों का मन लुभा कर लौट जाते हैं और किसी से डरते नहीं ॥१८॥

नान्यो दोषो भवेदत्र मृगेभ्योऽन्यत्र विद्धि वै ।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य महर्षेर्लक्ष्मणाग्रजः ॥१९॥
उवाच वचनं धीरो विकृष्य सशरं धनुः ।
तानहं सुमहाभाग मृगसङ्घान् समागतान् ॥२०॥
हन्यां निशितधारेण शरेणाशनिवर्चसा ।
भवांस्तत्राभिषज्येत किं स्यात्कृच्छ्रतरं ततः ॥२१॥

अब तुम्हें मालूम हो कि, यहाँ पर जंगली जानवरों के उपद्रव को छोड़ और किसी बात का खटका नहीं है। महर्षि के ऐसे वचन सुन, धीर श्रीरामचन्द्र जी ने तीर कमान हाथ मे ले, यह वचन कहे—हे महाभाग! मैं यहाँ आने वाले वन्यपशुओं को पैने धारवाले बाणों से मारूँगा। परन्तु इस हत्याकाण्ड से आपका मन दुःखी होगा, और आपका मन दुःखी होने से मुझे बड़ा कष्ट होगा ॥१९॥२०॥२१॥

एतस्मिन्नाश्रमे वासं चिरं तु न समर्थये ।
तमेवमुक्त्वा वरदं रामः सन्ध्यामुपागमत् ॥२२॥

अतः मैं इस आश्रम मे बहुत दिनों तक रहना उचित नहीं समझता। यह कह श्रीरामचन्द्र जी सन्ध्योपासन करने चले गए ॥२२॥

---

[1] लोभयित्वा—मनांसि मन्[illegible] जनांस्त्वा विचित्रतरवेषैरितिशेषः । (गो०)

अन्वास्य पश्चिमां सन्ध्यां तत्र वासमकल्पयत् ।
सुतीक्ष्णस्याश्रमे रम्ये सीतया लक्ष्मणेन च ॥२३॥

तदनन्तर सायसन्ध्योपासन कर, श्रीरामचन्द्र जी सुतीक्ष्ण के रमणीक आश्रम मे सीता लक्ष्मण सहित बसे ॥२३॥

ततः शुभं[1] तापसभोज्य[2]मन्न
स्वय सुतीक्ष्णः पुरुषर्षभाभ्याम् ।
ताभ्यां सुसत्कृत्य[3] ददौ महात्मा
सन्ध्यानिवृत्तौ रजनीमवेक्ष्य[4] ॥२४॥

इति सप्तम सर्गः ॥

जब श्रीरामचन्द्र सायमन्ध्योपासन कर चुके तब महात्मा सुतीक्ष्ण जी ने दोनों राजकुमारो का अर्घ्यपाद्यादि से भली भाँति पूजन कर, उनको रात मे खाने योग्य पवित्र फल मूल तथा अन्नादि स्वय ला कर दिये ॥२४॥

[टिप्पणी—भूषणटीकाकार का मत है कि, जैसा कि सतीसाध्वी नारियों का नियम है सीता जी ने ("रामभुक्त शेष") राम जी की पत्तल में बचा हुआ अन्न खाया था । अत इस श्लोक मे सीता जी का नाम नहीं है ।]

अरण्यकाण्ड का सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:ॐ:—

१ शुभ—भक्त्युपनीतत्वेन पावन । (गो०) २ तापसभोज्य—फलमूलादि । (गो०) ३ सुसत्कृत्य—अर्घ्यपाद्यादिना सम्पूज्य । (गो०) ४ रजनीमवेक्ष्य—रजनीभक्षणानुसारं । (गो०)

अष्टमः सर्गः

— ❀ —

रामस्तु सहसौमित्रिः सुतीक्ष्णेनाभिपूजितः ।
परिणाम्य[1] निशां तत्र प्रभाते प्रत्यबुध्यत ॥१॥

मुनीश्वर द्वारा भली प्रकार सत्कारित हो, सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी ने वह रात उसी आश्रम में बिताई और सवेरा होते ही जागे ॥ १ ॥

उत्थाय तु यथाकालं राघवः सह सीतया ।
उपास्पृशत्[2]सुशीतेन जलेनोत्पलगन्धिना ॥२॥

तदनन्तर सीता सहित यथासमय बिस्तरे से उठ, जी ने कमलों की सुवास से युक्त शीतल जल से स्नान किए ॥ २ ॥

[टिप्पणी—कमल पुष्प की गन्ध से युक्त जल, तालाब ही का सकता है, अत इससे जान पड़ता है कि, श्रीराम जी ने आश्रम के त में स्नान किया था ।]

अथ तेऽग्निं सुरांश्चैव[3] वैदेही रामलक्ष्मणौ ।
काल्यं विधिवदभ्यर्च्य तपस्विशरणे वने ॥३॥

फिर श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और वैदेही ने उस तपोवन विधिवत् और यथासमय हवन कर परिवार सहित नारायण पूजन किया ॥ ३ ॥

[टिप्पणी—नारायण के परिवार में लक्ष्मी, विश्वक्सेन, गरुड़ है ।]

---

1 परिणाम्य—अतिवाह्य । (गो०) 2 उपास्पृशत्—स्नातवान् (गो०) 3 सुरान्—नारायण । सहपत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत् इत्यत्र दृष्टोक्तेः । परिवारापेक्षया बहुवचनं । (गो०)

उदयन्तं दिनकरं दृष्ट्वा विगतकल्मषाः ।
सुतीक्ष्णमभिगम्येदं श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥४॥

जब सूर्योदय हुआ, तब वे पुण्यात्मा दोनों राजकुमार, सुतीक्ष्ण के पास जा, विनीत एवं मधुर वचन बोले ॥४॥

[टिप्पणी—इससे यह जान पड़ता है कि सूर्योदय-होने के पूर्व ही श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण, हवन इत्यादि धर्मानुष्ठान कर चुके थे। कात्यायन सूत्रानुसार इससे अनुदित होम करने का पक्ष समर्थन होता है। "अनुदित होम" से अभिप्राय है सूर्य उदय न हो तभी होम करना।]

सुखोषिताः स्म भगवंस्त्वया पूज्येन पूजिताः ।
आपृच्छामः प्रयास्यामो मुनयस्त्वरयन्ति नः ॥५॥

हे भगवन्! आपने हमारे पूज्य हो कर भी, हमारा भली भाँति सत्कार किया। हम आपके आश्रम में बड़े सुख से रहे। अब हम आपसे आगे जाने के लिए अनुमति माँगते हैं, क्योंकि हमारे साथी मुनि चलने के लिए जल्दी मचा रहे हैं ॥५॥

त्वरामहे वयं द्रष्टुं सर्वमाश्रममण्डलम् ।
ऋषीणां पुण्यशीलानां दण्डकारण्यवासिनाम् ॥६॥

हम दण्डकवनवासी समस्त पुण्यशील ऋषियों के आश्रमों को शीघ्र देखना चाहते हैं ॥६॥

अभ्यनुज्ञातुमिच्छामः सहैभिर्मुनिपुङ्गवैः ।
धर्मनित्यैस्तपोदान्तैर्विशिखैरिव पावकैः ॥७॥

अब हमारी यह इच्छा है कि, यदि आप आज्ञा दें, तो प्रज्वलित अग्निशिखा की तरह तेजस्वी सदा धर्म में तत्पर और तपोनिष्ठ तथा जितेन्द्रिय इन मुनिपुङ्गवों के साथ, हम चले जाँय ॥७॥

अविपह्यातपो यावत्सूर्यो नातिविराजते ।
अमार्गेणागतां लक्ष्मीं प्राप्येवान्वयवर्जितः ॥८॥
तावदिच्छामहे गन्तुमित्युक्त्वा चरणौ मुनेः ।
ववन्दे सह सौमित्रिः सीतया सह राघवः ॥९॥

जिस प्रकार साधु-समागम-वर्जित एवं अन्याय से उपार्जित ऐश्वर्य वाले लोगों का ऐश्वर्यवान् होना असह्य हो जाता है उसी प्रकार, जब तक सूर्य की घाम असह्य न हो, (अर्थात् धूप में तेजी न आवे) तब तक ही हम रास्ता चलना चाहते हैं। (अर्थात ठंडे ठंडे में हम मंजिल तै करना चाहते हैं) यह कह तीनों ने मुनि को प्रणाम किया ॥८॥९॥

तौ संस्पृशन्तौ चरणावुत्थाप्य मुनिपुङ्गवः ।
गाढमालिङ्ग्य सस्नेहमिदं वचनमब्रवीत् ॥१०॥

मुनिश्रेष्ठ सुतीक्ष्ण जी ने प्रणाम करते हुए उन दोनों राजकुमारों को उठा कर अपने हृदय से लगाया और उनसे स्नेहपूरित ये वचन कहे ॥१०॥

अरिष्टं गच्छ पन्थानं राम सौमित्रिणा सह ।
सीतया चानया सार्धं छाययेवानुवृत्तया ॥११॥

हे श्रीरामचन्द्र! आप लक्ष्मण, और छाया की तरह पीछे पीछे चलने वाली सीता जी सहित, मङ्गल पूर्वक यात्रा कीजिये ॥११॥

पश्याश्रमपदं रम्यं दण्डकारण्यवासिनाम् ।
एषां तपस्विनां वीर तपसा भावितात्मनाम् ॥१२॥

[1] अन्वयवर्जित —सत्पुरुषसमागमवर्जितोदुष्प्रभुरिव । (गो०)

हे वीर ! योग मे जिनके मन सलग्न हैं, ऐसे दण्डकवनवासी इन सब ऋषि मुनियों के रमणीय आश्रमों को आप देख कर कृतार्थ कर आइये ॥१२॥

सुप्राज्यफलमूलानि पुष्पितानि वनानि च ।
प्रशस्तमृगयूथानि शान्तपक्षिगणानि च ॥१३॥
फुल्लपङ्कजपण्डानि प्रसन्नसलिलानि च ।
कारण्डवविकीर्णानि तटाकानि सरांसि च ॥१४॥

विविध प्रकार के बहुत कन्दमूल फलों से युक्त फूले हुए वृक्षों से परिपूर्ण उन वनों में जिनमे श्रेष्ठ वन्य पशु और शान्त पक्षी रहते हैं, और जहाँ स्वच्छ जल वाले ऐसे ताल हैं कि, जिनमे कमल फूल रहे हैं और जिनमे कारण्डवादि जलपक्षी किलोले किया करते हैं आप देख आइये ॥ १३ ॥१४॥

द्रक्ष्यसे दृष्टिरम्याणि गिरिप्रस्रवणानि च ।
रमणीयान्यरण्यानि मयूराभिरुतानि च ॥१५॥

इनके अतिरिक्त जो देखने मे अत्यन्त सुन्दर हैं ऐसे पहाड़ी झरने तथा बोलते हुए मोरों से भरे हुए वन भी आप देख आइये ॥१५॥

गम्यतां वत्स सौमित्रे भवानपि च गच्छतु ।
आगन्तव्यं त्वया तात पुनरेवाश्रमं मम ॥१६॥

हे वत्स राम ! जाइये । हे लक्ष्मण ! आप भी जाइये । किन्तु हे तात ! इन सब आश्रमों को देख, फिर भी आप मेरे इस आश्रम में आइये ॥१६॥

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा काकुत्स्थः सहलक्ष्मणः ।
प्रदक्षिणं मुनिं कृत्वा प्रस्थातुमुपचक्रमे ॥१७॥

जब सुतीक्ष्ण ने यह कहा तथा उत्तर में श्रीरामचन्द्र जी "बहुत अच्छा" कह कर, लक्ष्मण सहित मुनि की परिक्रमा कर जाने के लिये उद्यत हुए ॥१७॥

ततः शुभतरे तूणी धनुषी चायतेक्षणा ।
ददौ सीता तयोर्भ्रात्रोः खड्गौ च विमलौ ततः ॥१८॥

तदनन्तर विशाल नेत्रवाली जानकी जी ने दोनों भाइयों को श्रेष्ठ तरकस और दो तेज धार वाली और चमकती हुई (अर्थात् साफ़ विमल) तलवारें दीं ॥१८॥

[टिप्पणी—जान पड़ता है, राजकुमारों ने सोते समय ये आयुध उतार कर रख दिए थे। चलते समय सीता ने ये उनको फिर दिए।]

आबध्य च शुभे तूणी चापौ चादाय सस्वनौ ।
निष्क्रान्तावाश्रमाद्गन्तुमुभौ तौ रामलक्ष्मणौ ॥१९॥

तब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने वे दोनों सुन्दर तरकस पीठ पर बाँध लिए और दोनों ने टंकार का शब्द करने वाले दो धनुष लिए और आगे जाने के लिए वे दोनों—श्रीराम और लक्ष्मण, उस आश्रम से बाहर निकले ॥१९॥

श्रीमन्तौ रूपसम्पन्नौ दीप्यमानौ स्वतेजसा ।
प्रस्थितौ धृतचापौ तौ सीतया सह राघवौ ॥२०॥

॥ इति अष्टमः सर्गः ॥

कान्तिमान्, सौन्दर्य युक्त और अपने तेज से प्रकाशित, धनुषों को लिए हुए, दोनों दशरथनन्दन, सीता सहित सुतीक्ष्ण के आश्रम से प्रस्थानित हुए ॥२०॥

अरण्यकाण्ड का आठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

नवमः सर्गः

—※—

सुतीक्ष्णेनाभ्यनुज्ञातं प्रस्थितं रघुनन्दनम् ।
हृद्यया[१] स्निग्धया[२] वाचा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥१॥

जब श्रीरामचन्द्र जी, सुतीक्ष्ण से विदा माँग वहाँ से आगे चले तब सीता जी ने अपने पति श्रीरामचन्द्र से युक्तियुक्त होने के कारण हृदयगम होने योग्य और स्नेहसने ये वचन कहे ॥१॥

अधर्मं तु सुसूक्ष्मेण विधिना प्राप्यते महान् ।
निवृत्तेन तु शक्योऽयं व्यसनात्कामजादिह ॥२॥

हे श्रीराम ! आप तो बडे हैं ही, किन्तु सूक्ष्म रीत्या विचार करने से जान पडेगा कि, आप अधर्म को सञ्चय कर रहे हैं। इस समय आप जिस कामज व्यसन मे प्रवृत्त हो रहे हैं, उससे निवृत्त होने ही से आप अधर्म के सञ्चय के दोष से बच सकते हैं। अर्थात् आप तपस्वी हैं, तपस्वी होकर भी आप यदि कामज-व्यसन-मृगादि-वध करने में प्रवृत्त होंगे तो आपको ऐसा करना नहीं सोहेगा। क्योंकि तपस्वी को हिंसा आदि करना उचित नहीं। अत अधर्म को सञ्चित न करने के लिए, जब तक आप तपस्वी के वेष मे हैं, शिकार आदि व्यसनों को त्याग दीजिए ॥२॥

त्रीण्येव व्यसनान्यत्र कामजानि भवन्त्युत ।
मिथ्या वाक्यं परमकं तस्माद्गुरुतरावुभौ ॥३॥

---

१ हृद्या—युक्तियुक्तत्वेन, हृदयगमया। (गो०) २ स्निग्धया—स्नेह प्रवृत्तया। (गो०)

कामज व्यसन तीन प्रकार के होते हैं अर्थात् एक तो झूठ बोलना। किन्तु झूठ बोलने से बढ़कर दो कामज व्यसन और हैं ॥३॥

[टिप्पणी—कामज-इच्छा से अथवा जान बूझ कर व्यसन, पाप, दोष।

परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता[१] ।
मिथ्या वाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघव ॥४॥

दूसरा परस्त्रीगमन और तीसरा बिना वैर (अकारण) जीवों की हिंसा। हे राघव! झूठ तो आप न कभी बोले न आगे ही कभी बोलेंगे ॥४॥

कुतोऽभिलाषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम् ।
तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत्ते कदाचन ॥५॥
मनस्यपि तथा राम न चैतद्विद्यते क्वचित् ।
स्वदारनिरतस्त्वं च नित्यमेव नृपात्मज ॥६॥

परस्त्रीगमन अथवा परस्त्री की अभिलाषा जो धर्म का नाश करने वाली है न तो कभी आपको हुई और न आगे ही कभी होने की सम्भावना है। क्योंकि हे राजकुमार! आप तो स्वदारनिरत अर्थात् अपनी ही स्त्री में अनुराग रखने वाले हैं, अतः इसकी कल्पना भी आपके मन में नहीं उठ सकती ॥५॥६॥

धर्मिष्ठः सत्यसन्धश्च पितुर्निर्देशकारकः ।
सत्यसन्ध महाभाग श्रीमल्लक्ष्मणपूर्वज[२] ॥७॥

[illegible] धर्मात्मा हैं, सत्यसन्ध हैं, पिता की आज्ञा का

त्वद्वृत्तं[1] चिन्तयन्त्या वै भवेन्निःश्रेयसं हितम्।
न हि मे रोचते वीर गमनं दण्डकान् प्रति ॥१३॥

जब मैं आपके सत्यप्रतिज्ञापालन, स्वदारनिरतत्व आदि गुणों को, जो आपके सौख्य और हित के साधन रूप हैं, सोचती विचारती हूँ, तब मुझे हे वीर! आपका दण्डकवन में जाना अच्छा नहीं लगता अर्थात् आप सत्यप्रतिज्ञ हैं और राक्षसों को मारने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, अतः आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे और ऐसा करने से आपके सुख और हित की हानि होगी। इन बातों पर विचार कर के, मुझे आपका दण्डकवन में प्रवेश करना नहीं रुचता—पसन्द नहीं आता ॥१३॥

कारणं तत्र वक्ष्यामि वदन्त्याः श्रूयतां मम।
त्वं हि बाणधनुष्पाणि र्भ्रात्रा सह वनं गतः ॥१४॥

इसका कारण मैं बतलाती हूँ। आप सुनें। आप तीर कमान ले भाई सहित वन में जा रहे हैं ॥१४॥

दृष्ट्वा वनचरान् सर्वान् कच्चित्कुर्याः शरव्ययम्।
क्षत्रियाणां च हि धनुर्हुताशस्येन्धनानि च ॥१५॥

समीपतः स्थितं तेजो[2] बलमुच्छ्रयते[3] भृशम्।
पुरा किल महाबाहो तपस्वी सत्यवाक्शुचिः ॥१६॥

वहाँ जब आप राक्षसों को देखेंगे, तब उनमें से किसी न किसी पर आप बाण भी अवश्य ही चलायेंगे। क्योंकि जिस प्रकार समीप रखा हुआ ईंधन अग्नि के तेज को बढ़ाता है, उसी प्रकार क्षत्रियों

---

१ त्वद्वृत्तं—त्वद्वृत्तिं त्वच्चरित्रं सत्यप्रतिज्ञत्वस्वदारनिरतत्वादिकं। २ तेजः—[illegible]। (गो०) ३ उच्छ्रयते—वर्धयति। (गो०)

का समीपवर्ती धनुष उनके तेज रूपी बल को बहुत बढ़ाता (उत्तेजित) करता है। प्राचीन काल मे, हे महाबाहो ! सत्यवादी और तपस्वी ॥१५॥१६॥

कस्मिंश्चिदभवत्पुण्ये वने रतमृगद्विजे ।
तस्यैव तपसो विघ्नं कर्तुमिन्द्रः शचीपतिः ॥१७॥

कोई ऋषि, मृगों और पक्षियों से परिपूर्ण किसी पवित्र वन में रहा करते थे। उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिए, शचीनाथ इन्द्र ॥१७॥

खड्गपाणिरथागच्छदाश्रमं भटरूपधृत् ।
तस्मिंस्तदाश्रमपदे निशितः खड्ग उत्तमः ॥१८॥
स न्यासविधिना दत्तः पुण्ये तपसि तिष्ठतः ।
स तच्छास्त्रमनुप्राप्य न्यासरक्षणतत्परः ॥१९॥

हाथ में तलवार ले और रथ मे बैठ योद्धा के वेष मे (उन तपस्वी) ऋषि के आश्रम में पहुँचे और अपनी वह उत्तम तलवार उस आश्रम में उस तपोनिष्ठ तथा पवित्राचरणसम्पन्न ऋषि के पास धरोहर की भाँति रख कर चले गए। ऋषि उस तलवार की या उसकी रक्षा करने लगे ॥१८॥१९॥

[टिप्पणी—न्यास विधिना—धरोहर के रूप में। धरोहर की परिभाषा धर्मशास्त्र में यह दी हुई है।]

राजचोरादिकभयाद्दायादाना च वञ्चनात् ।
स्थाप्यतेऽन्यगृहे द्रव्य न्यास स परिकीर्तित ।]

वने तं विचरत्येव रक्षन् प्रत्ययमात्मनः[1] ।
यत्र गच्छत्युपादातुं मूलानि च फलानि च ॥२०॥

---

१ आत्मन. प्रत्यय—विश्वासस्थापित वस्तु। (गो०)

अपने ऊपर विश्वास कर के अपने पास रखी हुई धरोहर को रम्नु—तलवार को, वे जहाँ जाते वहाँ अपने पास रखते थे। यदि उन्हें फलमूल लाने के लिए भी जाना पड़ता, तो वे उस तलवार को भी अपने साथ ही लेते जाते थे ॥२०॥

न विना याति तं खड्गं न्यासरक्षणतत्परः
नित्यं शस्त्रं परिवहन् क्रमेण स तपोधनः ॥२१॥

उस धरोहर की रखवाली में तत्पर वे ऋषि बिना उस तलवार को लिये कहीं न जाते। उस तलवार को सदा पास रखने से धीरे धीरे उन तपस्वी की ॥२१॥

चकार रौद्रीं[1] स्वां बुद्धिं त्यक्त्वा तपसि निश्चयम्।
ततः स रौद्रेऽभिरतः प्रमत्तो धर्मकर्शितः[2] ॥२२॥

तस्य शस्त्रस्य संवासाज्जगाम नरकं मुनिः।
एवमेतत्पुरा वृत्तं शस्त्रसंयोगकारणम् ॥२३॥

बुद्धि हिंसापरायण हो गई और उनका विश्वास तप से हट गया। उस तलवार से वे प्राणियों का वध करने लगे और मतवाले से हो गए। वे अधर्म से पीड़ित हो, उस शस्त्र को पास रखने के कारण, अन्त में नरकगामी हुए। हे राम! शस्त्र को पास रखने से प्राचीन काल में ऐसा हो चुका है ॥२२॥२३॥

अग्निसंयोगवद्धेतुः शस्त्रसंयोग उच्यते।
स्नेहाच्च बहुमानाच्च स्मारये त्वां न शिक्षये ॥२४॥

---

[1] रौद्रीं—हिंसापरां। (गो०) [2] रौद्रे—हिंसारूपकर्मणि। (गो०) [3] धर्मकर्शितः—[illegible]। (गो०)

अत: समझदार लोग, अग्नि संयोग की तरह शस्त्र संयोग को भी विकार का कारण बतलाया करते हैं। (अर्थात् जिस प्रकार अग्नि को साथ रखने से उपद्रव खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार शस्त्र पास रखने से भी उपद्रव खड़े होते हैं) मैं आपको सीख नहीं देती, प्रत्युत स्नेह और सम्मान पुरस्सर, आपको इस बात का स्मरण कराती हूँ ॥२४॥

न कथञ्चन सा कार्या गृहीतधनुषा त्वया ।
बुद्धिर्वैरं विना हन्तुं राक्षसान् दण्डकाश्रितान् ॥२५॥

आप भी सदा धनुष लिए रहते हैं, अत आप उस ऋषि जैसी बुद्धि अपनी कभी मत करना कि, बिना वैर दण्डकारण्यवासी राक्षसों का वध करने लगें ॥२५॥

अपराधं विना हन्तुं लोकान् वीर न कामये ।
क्षत्रियाणां तु वीराणां वनेषु निरतात्मनाम् ॥२६॥
धनुषा कार्यमेतावदार्तानामभिरक्षणम् ।
क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च ॥२७॥

हे वीर! बिना अपराध किसी का वध करना, लोग पसंद नहीं करते। वन में विचरते हुए क्षत्रियों का धनुष धारण करना (निरपराध जीवों की हिंसा करने के लिए नहीं, प्रत्युत) दुःखी लोगों की रक्षा करने के लिए है। देखिये तो, कहाँ शस्त्र और कहाँ वन? कहाँ क्षात्र धर्म (अर्थात् नृशंस कर्म हिंसा) और कहाँ तपस्या अर्थात् (शान्तकर्म) अर्थात् ये दोनों ही परस्पर विरोधिनी बातें हैं ॥२६॥२७॥

व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम् ।
तदार्य कलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात् ॥२

अत हम लोगों के लिए देश धर्म, अर्थात् तपोवन का धर्म पूज्य है (अर्थात् तपोवन मे रह कर हमें तपोवनोचित धर्म का पालन कर, उसका आदर करना चाहिए। क्योंकि शस्त्रों के सेवन से क्रूर लोगों की तरह बुद्धि बिगड़ जाती है ॥२८॥

पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षत्रधर्मं चरिष्यसि ।
अक्षया तु भवेत्प्रीतिः श्वश्रूश्वशुरयोर्मम ॥२९॥

यदि राज्यं परित्यज्य भवेस्त्वं निरतो मुनिः ।
धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम् ॥३०॥

आप जब लौट कर अयोध्या जाइयेगा, तब पुन. क्षात्र धर्म का पालन कर लीजिएगा। यदि आप इस समय राज्य त्यागी होकर ऋषियों के आचरण से रहेंगे, तो मेरे सास और ससुर की प्रीति भी आप मे बढ़ेगी। देखिए धर्म से धन की और धर्म ही से सुख की प्राप्ति होती है ॥२९॥३०॥

धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ।
आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्शयित्वा प्रयत्नतः ।
प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभ्यते सुखम् ॥३१॥

कहाँ तक कहा जाय, धर्म द्वारा सभी कुछ मिल सकता है। अतः इस जगत मे धर्म ही सार है। चतुर लोग अनेक प्रकार के नियमों (चान्द्रायणव्रतादि) से यत्नपूर्वक, शरीर को कष्ट दे धर्म का पालन करते हैं, क्योंकि शारीरिक सुखदायी साधनों से धर्मजनित सुखफल का लाभ नहीं होता ॥३१॥

नित्यं शुचिमतिः सौम्य चर धर्मं तपोवने ।
सर्वं हि विदितं तुभ्यं त्रैलोक्यमपि तत्त्वतः ॥३२॥

अत हे सौम्य ! आप इस तपोवन मे जब तक रहें, तब तक सदा विशुद्ध मन से तपस्वियों जैसा धर्मानुष्ठान करें। आपको तो तीनों लोकों का सब यथार्थ हाल मालूम ही है। (मैं आपको क्या बतला सकती हूँ) ॥३२॥

स्त्रीचापलादेतदुदाहृतं मे
धर्मं च वक्तुं तव कः समर्थः।
विचार्य बुद्ध्या तु सहानुजेन
यद्रोचते तत्कुरु मा चिरेण ॥३३॥

इति नवम सर्ग ॥

स्त्री स्वभाव-सुलभ चपलता वश मैंने आपसे ये बातें कहीं हैं। भला आपको धर्मोपदेश कौन दे सकता है? अत लक्ष्मण के साथ इन बातों पर विचार कर, जो उचित समझिए, वही अविलब कीजिए ॥३३॥

अरण्यकाण्ड का नवाँ सर्ग पूरा हुआ।

— ❀ —

दशमः सर्गः

— ❀ —

वाक्यमेतत्तु वैदेह्या व्याहृतं भर्तृभक्तया[1]।
श्रुत्वा धर्मे स्थितो रामः प्रत्युवाचाथ मैथिलीम् ॥१॥

सीताजी ने पति प्रेमवश हो, जो बातें कहीं, उन्हें सुन, प्रतिज्ञा-पालन रूपी धर्म मे रत और निष्ठावान् श्रीरामचन्द्र जी ने सुन, उत्तर में सीता जी से कहा ॥१॥

---

१ भर्तृभक्तया—भर्तृप्रेमपारवश्येन। (गो०)

हितमुक्तं त्वया देवि स्निग्धया[१] सदृशं वचः ।
कुलं व्यपदिशन्त्या[२] च धर्मज्ञे जनकात्मजे ॥२॥

हे धर्मज्ञे ! हे जनकनन्दिनी ! तू ने स्नेहपूर्वक अपने उच्च कुलोत्पन्ना होने की सूचक जैसी हित की बातें मुझसे कही हैं, वे तेरे कहने के योग्य ही हैं ॥२॥

[अच्छा, जब हित की बात है और ठीक हैं, तो फिर उसके अनुसार श्रीरामचन्द्र क्यों नहीं चले ? आगे न चलने का कारण दिखलाते हुए श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं ।]

किन्तु वक्ष्याम्यहं देवि त्वयैवोक्तमिदं वचः ।
क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति ॥३॥

किन्तु अभी तुम कह चुकी हो कि, क्षत्रिय लोग धनुष धारण इसलिए करते हैं कि (देखो सर्ग ६ का २७ वाँ श्लोक) जिससे किसी दुखिया का आर्त शब्द न सुन पड़े । अर्थात् कोई बली किसी निर्बल को सताने न पावे ॥३॥

मां सीते स्वयमागम्य शरण्याः शरणं गताः ।
ते चार्ता दण्डकारण्ये मुनयः संशितव्रताः ॥४॥

फिर हे सीते ! दण्डकवनवासी वे दुखी तपस्वी, मुझको सब का रक्षक समझ, स्वयं ही मेरे शरण में आए ॥४॥

वसन्तो धर्मनिरता वने मूलफलाशनाः ।
न लभन्ते सुखं भीता राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥५॥

करने वाले राक्षसों के अत्याचारों के कारण वे वेचारे सुख से नहीं रहने पाते ॥5॥

काले काले[1] च निरता नियमैर्विविधैर्वने ।
भक्ष्यन्ते राक्षसैर्भीमैर्नरमांसोपजीविभिः ॥6॥

सदैव विविध (धर्म) नियमों के पालन में निरत, वनवासी इन तपस्वियों को नरमास भोजी घोर राक्षस खा डाला करते हैं ॥6॥

ते भक्ष्यमाणा मुनयो दण्डकारण्यवासिनः ।
अस्मानभ्यवपद्येति[2] मामूचुर्द्विजसत्तमाः ॥7॥

राक्षसो द्वारा खाए जाने वाले दण्डकवनवासी वे ब्राह्मणोत्तम मेरे अनुग्रह के प्रार्थी हुए हैं ॥7॥

मया तु वचनं श्रुत्वा तेषामेवं मुखाच्च्युतम् ।
कृत्वा चरणशुश्रूषां[3] वाक्यमेतदुदाहृतम् ॥8॥
प्रसीदन्तु[4] भवन्तो मे ह्रीरेषा[5] हि ममातुला[6] ।
यदीदृशैरहं विप्रैरुपस्थेयै[7]रुपस्थितः[8] ॥9॥

मैने उनकी कही हुई बातें सुन और उनकी पादवन्दना कर उनसे यह बात कही कि, मेरे अपचार को आप लोग क्षमा करें । मुझे स्वयं इस बात से बड़ी लज्जा है कि, जिन ब्राह्मणों के पास मुझे स्वयं जाना चाहिए था वे स्वयं मेरे पास उपस्थित हुए हैं ॥8॥9॥

---

1 काले काले—सर्वकाले । (गो०) 2 अभ्यवपद्येति—अनुगृह्णीत (गो०) 3 चरणशुश्रूषा—पादवन्दन । (गो०) 4 प्रसीदन्तु—ममापचारक्षमन्त्व । (गो०) 5 ह्री—लज्जा । (गो०) 6 अतुला —अधिका । (गो०) 7 उपस्थेयै —अभिगन्तव्यै । (गो०) 8 उपस्थित —अभिगत । (गो०)

किं करोमीति च मया व्याहृतं द्विजसन्निधौ ।
सर्वैरेतैः समागम्य वागियं समुदाहृता ॥१०॥

अब बतलाइए—मैं अब आपकी क्या सेवा करूँ ? हे सीते ! मैंने जब उनसे यह कहा, तब वे सब ब्राह्मण एक साथ यह बोले ।१०॥

राक्षसैर्दण्डकारण्ये बहुभिः कामरूपिभिः ।
अर्दिताः स्म दृढं राम भवान्नस्तत्र रक्षतु ॥११॥

हे श्रीराम ! इस दण्डकवन में बहुत से कामरूपी राक्षस हमें सताया करते हैं, इस समय आप उनसे हमारी रक्षा कीजिए ॥११॥

होमकालेषु सम्प्राप्ताः पर्वकालेषु चानघ ।
धर्षयन्ति सुदुर्धर्षा राक्षसाः पिशिताशनाः ॥१२॥

(क्योंकि वे केवल हमें सताते ही नहीं हैं, बल्कि) अग्निहोत्र करते समय और दर्शपौर्णमासादि यज्ञों के समय, वे मांसभक्षी दुर्धर्ष राक्षस आ कर, यज्ञकार्यों में बाधा डालते हैं । या विघ्न करते हैं ।१२।

राक्षसैर्धर्षितानां च तापसानां तपस्विनाम् ।
गतिं मृगयमाणानां' भवान्नः परमा गतिः२ ॥१३॥

राक्षसों के सताए हुए तपस्या में निरत तपस्वीगण इस आपत्ति से बचने के लिए रक्षक खोज रहे हैं । सो आप ही हमारे रक्षक हैं ॥१३

कामं तपःप्रभावेण शक्ता हन्तुं निशाचरान् ।
चिरार्जितं तु नेच्छामस्तपः खण्डयितुं वयम् ॥१४॥

यद्यपि हम लोग अपने तपोबल से शाप द्वारा, उनको नष्ट कर सकते हैं, तथापि बहुत दिनों के इकट्ठे किए हुए तप को हम खण्डित करना नहीं चाहते ॥१४॥

बहुविघ्नं तपो नित्यं दुश्चरं चैव राघव।
तेन शापं न मुञ्चामो भक्ष्यमाणाश्च राक्षसैः ॥१५॥

क्योंकि हम लोगो का तप फल नित्य अनेक विघ्नों को बचा कर सञ्चित किया हुआ है और दुश्चर है। इस लिये भले ही वे राक्षस हमे मार कर खा जायँ, परन्तु हम उनको शाप नहीं देते ॥१५॥

तदर्द्यमानान्रक्षोभिर्दण्डकारण्यवासिभिः।
रक्ष नस्त्वं सह भ्रात्रा त्वन्नाथा हि वयं वने ॥१६॥

अतएव राक्षसों से पीडित हम दण्डकवनवासियों की, अपने भाई सहित आप रक्षा कीजिए। क्योंकि इस वन में आप ही हमारे रक्षक हैं ॥१६॥

मया चैतद्वचः श्रुत्वा कार्त्स्न्येन परिपालनम्।
ऋषीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे ॥१७॥

हे जनकनन्दिनी! दण्डकवनवासी ऋषियों के ऐसे वचन सुन, मैंने सब प्रकार से रक्षा करने की उनसे प्रतिज्ञा की है ॥१७॥

संश्रुत्य च न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम्।
मुनीनामन्यथा कर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा ॥१८॥

अब मैं अपनी इस प्रतिज्ञा को जो मैंने मुनियों से की है, जीते जी अन्यथा नहीं कर सकता। क्योंकि सत्य ही सदा से मेरा इष्ट रहा है ॥१८॥

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥१९॥

मुझे चाहे तो अपने प्राण गंवाने पडे अथवा लक्ष्मण सहित तुझे भी क्यों न त्याग देना पडे, किन्तु मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं त्याग सकता। विशेष कर उस प्रतिज्ञा को, जो मैं ब्राह्मणों के आगे कर चुका हूँ ॥१९॥

तदवश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम् ।
अनुक्तेनापि वैदेहि प्रतिज्ञाय तु किं पुनः ॥२०॥

हे वैदेही! ऋषियों का पालन तो मुझे अवश्य ही करना चाहिए चाहे वे कहें या न कहें। फिर मैं तो उनकी रक्षा करने की प्रतिज्ञा किए हुए हूँ ॥२०॥

मम स्नेहाच्च सौहार्दादिदमुक्तं त्वयाऽनघे ।
परितुष्टोऽस्म्यहं सीते न ह्यनिष्टोऽनुशिष्यते ॥२१॥

हे अनघे सीते! तुमने स्नेह और सौहार्द से जो ये बातें कही हैं उनसे मैं अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। क्योंकि अप्रिय पुरुष को कोई उपदेश नहीं करता ॥२१॥

सदृशं चानुरूपं च कुलस्य तव चात्मनः ।
सधर्मचारिणी मे त्वं प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥२२॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
सीतां प्रियां मैथिलराजपुत्रीम् ।
रामो धनुष्मान् सह लक्ष्मणेन ।
जगाम रम्याणि तपोवनानि ॥२३॥

इति दशम सर्ग ॥

धनुष धारण किए हुए महात्मा श्रीरामचन्द्र जी, जनकनन्दिनी प्यारी सीता से इस प्रकार के वचन कह कर, लक्ष्मण सहित उस रमणीय तपोवन मे चले गए ॥२३॥

अरण्यकाण्ड का दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

एकादशः सर्गः

—❀—

अग्रतः प्रययौ रामः सीता मध्ये सुमध्यमा ।
पृष्ठतस्तु धनुष्पाणिर्लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ॥१॥

आगे आगे श्रीरामचन्द्र, बीच मे पतली कटि वाली सीता ... और सीता जी के पीछे हाथ मे धनुष लिए लक्ष्मण चले जाते थे ॥१॥

तौ पश्यमानौ विविधाञ्शैलप्रस्थान् वनानि च ।
नदीश्च विविधा रम्या जग्मतुः सीतया सह ॥२॥

उन दोनो ने जानकी सहित जाते समय, तरह तरह के पर्वत शृङ्गों को, वनों को तथा अनेक रम्य नदियों को देखा ॥२॥

सारसांश्चक्रवाकांश्च नदीपुलिनचारिणः ।
सरांसि च सपद्मानि युक्तानि जलजैः खगैः ॥३॥

वन नदियों के तटों पर सारस, चकई और चकवा विचर रहे थे। तालाबों में कमल फूले हुए और जलपक्षी तैर रहे थे ॥३॥

पृषदांश्च पृषतान् मदोन्मत्तान् विषाणिनः ।
महिषांश्च वराहांश्च नागांश्च द्रुमवैरिणः ॥४॥

चितकबरे हिरन, सींगदार बनैले भैंसे तथा पेड़ों के शत्रु शूकर और हाथियों के झुंड के झुंड, वन में घूम रहे थे ॥४॥

ते गत्वा दूरमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे ।
ददृशुः सहिता रम्यं तटाकं योजनायतम् ॥५॥

बहुत दूर चल कर, सूर्य डूबने के समय, इन्होंने एक रमणीक झील देखी जो एक योजन लम्बी थी ॥५॥

पद्मपुष्करसम्बाधं गजयूथैरलङ्कृतम् ।
सारसैर्हंसकादम्बैः सङ्कुलं जलचारिभिः ॥६॥

उस झील में कमल के फूल फूले हुए थे, उसके आस पास हाथियों के झुंड के झुंड घूम फिर रहे थे और सारस राजहंस कलहंस आदि जलचरगण उसमें कल्लोलें कर रहे थे ।६॥

प्रसन्नसलिले रम्ये तस्मिन् सरसि शुश्रुवे ।
गीतवादित्रनिर्घोषो न तु कश्चन दृश्यते ॥७॥

इस निर्मल और रमणीय जलवाली झील में गाने बजाने की ध्वनि तो सुनाई पड़ती थी, परन्तु वहाँ गाने बजाने वाला कोई नहीं देख पड़ता था ॥७॥

ततः कौतूहलाद्रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
मुनिं धर्मभृतं नाम प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥८॥

तब महाबलवान् श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने कौतूहलवश, धर्मभृत नामक ऋषि से पूँछा ॥८॥

इदमत्यद्भुतं श्रुत्वा सर्वेषां नो महामुने ।
कौतूहलं महज्जातं किमिदं साधु कथ्यताम् ॥९॥

हे महर्षे! यहाँ गाने बजाने का यह अद्भुत शब्द सुन, हम लोगों को बड़ा कौतुक हुआ है, यह है क्या? सो आप ठीक ठीक बतलाइए ॥९॥

वक्तव्यं यदि चेद्विप्र नातिगुह्यमपि प्रभो ।
तेनैवमुक्तो धर्मात्मा राघवेण मुनिस्तदा ॥१०॥

प्रभाव सरसः कृत्स्नमाख्यातुमुपचक्रमे ।
इदं पञ्चाप्सरो नाम तटाकं सार्वकालिकम् ॥११॥

हे प्रभो! यदि कोई रहस्य की भी बात हो, तो भी कहिए। जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा तब धर्मात्मा मुनि तत्क्षण उस सरोवर के प्रभाव का समस्त वर्णन करने लगे। वे बोले—हे रामचन्द्र! इनका नाम पञ्चाप्सर है और इसमें सदा जल बना रहता है ॥१०॥११॥

निर्मितं तपसा राम मुनिना माण्डकर्णिना ।
स हि तेपे तपस्तीव्रं माण्डकर्णिर्महामुनिः ॥१२॥

इसको माण्डकर्णि नामक मुनि ने अपनी तपस्या के प्रभाव से निर्मित किया है। माण्डकर्णि ने बड़ा घोर तप किया था ॥१२॥

दश वर्षसहस्राणि वायुभक्षो जलाश्रयः ।
ततः प्रव्यथिताः सर्वे देवाः साग्निपुरोगमाः ॥१३॥

तब उन्होंने दस हजार वर्षों तक वायु पी कर और इस सरोवर में रह कर तपस्या की, तब अग्नि आदि समस्त देवता बहुत घबराए ।१३।

अब्रुवन् वचनं सर्वे परस्परसमागताः ।
अस्माकं कस्यचित्स्थानमेष प्रार्थयते मुनिः ॥१४॥

वे लोग एकत्र हो, आपस में कहने लगे कि, जान पडता है ये ऋषि हममें से किसी देवता का पद प्राप्त करने के लिए ही तप कर रहे हैं ।१४।

इति संविग्नमनसः सर्वे ते त्रिदिवौकसः ।
तत्र कर्तुं तपोविघ्नं देवैः सर्वैर्नियोजिताः ॥१५॥

प्रधानाप्सरसः पञ्च विद्युत्सदृशवर्चसः ।
अप्सरोभिस्ततस्ताभिर्मुनिर्दृष्टपरावरः ॥१६॥

ऐसा मन में विचार और घबड़ा कर, उन सब देवताओं ने ऋषि के तप में विघ्न डालने के लिए बिजली के समान तेजवाली पांच प्रधान अप्सराओं को, इस काम के लिए नियुक्त किया । इन अप्सराओं ने इहलोक और परलोक सम्बन्धी धर्म अधर्म को जानने वाले मुनि को ।१५।१६।

नीतो मदनवश्यत्वं सुराणां कार्यसिद्धये ।
ताश्चैवाप्सरसः पञ्च मुनेः पत्नीत्वमागताः ॥१७॥

देवताओ का काम पूरा करने के लिए काम के वश मे कर लिया। ऋषि ने उन पाचो अप्सराओ अपनी स्त्री बना लिया ॥१७॥

तटाके निर्मितं तासामस्मिन्नन्तर्हित गृहम् ।
तथैवाप्सरसः पञ्च निवसन्त्यो यथासुखम् ॥१८॥

तब ऋषि ने अपनी तपस्या के प्रभाव से, इस झील मे उनके रहने के लिए एक अदृश्य घर बनाया, जिसमे वे सब पाँचों अप्सराएँ सुख पूर्वक रहने लगीं ॥१८॥

रमयन्ति तपोयोगान् मुनिं यौवनमास्थितम् ।
तासां सक्रीडमानानामेष वादित्रनिःस्वनः ॥१९॥

और तप के प्रभाव से युवा अवस्था को प्राप्त उन ऋषि के साथ, वे विहार करने लगीं। ऋषि के साथ विहार करती करती हुई उन अप्सराओ ही के गाने बजाने की यह ध्वनि है ॥१९॥

श्रूयते भूषणोन्मिश्रो गीतशब्दो मनोहरः ।
आश्चर्यमिति तस्यैतद्वचनं भावितात्मनः ॥२०॥

राघवः प्रतिजग्राह सह भ्रात्रा महायशाः ।
एवं कथयमानस्य ददर्शाश्रममण्डलम् ॥२१॥

उन्हींके गहनों की झनकार से मिल कर, यह मनोहर गाने का शब्द सुन पडता है। विशुद्धचित्त धर्मभृत से यह वृत्तान्त सुन, महायशस्वी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को बडा आश्चर्य हुआ और यही बातचीत करते करते उन्होंने एक आश्रममण्डल देखा ॥२०॥२१॥

कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्म्या[१] लक्ष्म्या समावृतम् ।
प्रविश्य सह वैदेह्या लक्ष्मणेन च राघवः ॥२२॥

ये आश्रम कुश और चीर से वेष्टित थे और उनमें तपस्वी रहा करते थे। उस आश्रममण्डल में, सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी गए ॥२२॥

उवास मुनिभिः सर्वैः पूज्यमानो महायशाः ।
तथा तस्मिन् स काकुत्स्थः श्रीमत्याश्रममण्डले ॥२३॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण का वहाँ रहने वाले महर्षियों ने अतिथि सत्कार किया और श्रीरामचन्द्र जी उसी आश्रम-मण्डल में टिक रहे ॥२३॥

उषित्वा तु सुखं तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।
जगाम चाश्रमांस्तेषां पर्यायेण तपस्विनाम् ॥२४॥
येषामुषितवान् पूर्वं सकाशे स महास्त्रवित् ।
क्वचित्परिदशान् मासानेकं संवत्सरं क्वचित् ॥२५॥
क्वचिच्च चतुरो मासान् पञ्चषट् चापरान् क्वचित् ।
अपरत्राधिकान् मासानध्यर्धमधिकं क्वचित् ॥२६॥
त्रीन् मासानष्टमासांश्च राघवो न्यवसत्सुखम् ।
एवं संवसतस्तस्य मुनीनामाश्रमेषु वै ॥२७॥

कहीं चार मास, कहीं पाँच मास, कहीं एक वर्ष से भी अधिक, कहीं पखवारे से अधिक, कहीं तीन महीने और कहीं साढ़े तीन महीने, कहीं तीन मास कहीं आठ मास सुखपूर्वक ठहरे ॥२४॥ २५॥२६॥२७॥

रमतश्चानुकूल्येन ययुः संवत्सरा दश ।
परिवृत्य च धर्मज्ञो राघवः सह सीतया ॥२८॥

इस प्रकार वन में, धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ने सीता सहित बस कर, दस वर्ष बिता दिए ॥२८॥

सुतीक्ष्णस्याश्रमं श्रीमान्पुनरेवाजगाम ह ।
स तमाश्रममासाद्य मुनिभिः प्रतिपूजितः ॥२९॥

तदनन्तर श्रीमान् श्रीरामचन्द्र जी फिर सुतीक्ष्ण के आश्रम में आए और आश्रम में आने पर आश्रमवासी मुनियों द्वारा उनका सत्कार किया गया ॥२९॥

तत्रापि न्यवसद्रामः कंचित्कालमरिन्दमः ।
अथाश्रमस्थो विनयात्कदाचित्तं महामुनिम् ॥३०॥

उपासीनः स काकुत्स्थः सुतीक्ष्णमिदमब्रवीत् ।
अस्मिन्नरण्ये भगवन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥३१॥

वसतीति मया नित्यं कथाः कथयतां श्रुतम् ।
न तु जानामि तं देशं वनस्यास्य महत्तया ॥३२॥

शत्रुओं को मारने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ कुछ दिनों रह कर, एक दिन विनय पूर्वक महर्षि सुतीक्ष्ण से पूछा कि, हे भगवन् ! इसी वन में कहीं मुनियों में श्रेष्ठ अगस्त्य जी भी तो रहते हैं,

यह हाल मैं नित्य ही मुनियों के मुख से सुना करता हूँ, किन्तु यह वन इतना लंबा चौड़ा है कि, मुझे उनके रहने के स्थान का पता आज तक नहीं लगा ॥३०॥३१॥३२॥

कुत्राश्रममिदं पुण्यं महर्षेस्तस्य धीमतः ।
प्रसादात्तत्रभवतः सानुजः सह सीतया ॥३३॥
अगस्त्यमभिगच्छेयमभिवादयितुं मुनिम् ।
मनोरथो महानेष हृदि मे परिवर्तते ॥३४॥
यदहं तं मुनिवरं शुश्रूषेयमपि स्वयम् ।
इति रामस्य स मुनिः श्रुत्वा धर्मात्मनो वचः ॥३५॥

किन्तु मुझे यह भी नहीं मालूम हुआ कि, उन धीमान् महर्षि का आश्रम इस महावन के वन में किस ठौर है, मैं सीता और लक्ष्मण सहित उनको प्रसन्न करने तथा प्रणाम करने के लिए वहाँ जाना चाहता हूँ। मेरे मन में यह एक बड़ा मनोरथ है कि, मैं स्वयं उनकी सेवा शुश्रूषा करूँ। इस प्रकार मुनि जी ने धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी का वचन सुना ॥३३॥३४॥३५॥

सुतीक्ष्णः प्रत्युवाचेदं प्रीतो दशरथात्मजम् ।
अहमप्येतदेव त्वां वक्तुकामः सलक्ष्मणम् ॥३६॥

और उत्तर में सुतीक्ष्ण जी ने प्रसन्न हो कर दशरथनन्दन से कहा कि मैं आपसे और लक्ष्मण से यह बात कहने ही को था ॥३६॥

अगस्त्यमभिगच्छेति सीतया सह राघव ।

अहमाख्यामि ते वत्स यत्रागस्त्यो महामुनिः ।
योजनान्याश्रमादस्मात्तथा चत्वारि वै ततः ॥३८॥
दक्षिणेन महाञ्छ्रीमानगस्त्यभ्रातुराश्रमः ।
स्थलीप्राये वनोद्देशे पिप्पलीवनशोभिते ॥३९॥

हे वत्स ! अब मैं आपको उस स्थान का पता बतलाता हूँ, जहाँ अगस्त्य जी रहते हैं। सुनिए, यहाँ से चार योजन (१६ कोस) पर दक्षिण दिशा में अत्यन्त रमणीक अगस्त्य जी के भाई का आश्रम है। इस वनप्रदेश में उस आश्रम की भूमि चौरस है और वहाँ अनेक पीपल के पेड़ों का वन शोभित हो रहा है ॥३८॥३९॥

बहुपुष्पफले रम्ये नानाशकुनिनादिते ।
पद्मिन्यो विविधास्तत्र प्रसन्नसलिलाः शिवाः ॥४०॥

वहाँ बहुत से पुष्पों एवं फलों के वृक्ष हैं, और तरह तरह के पक्षी बोला करते हैं। वहाँ स्वच्छ एवं शुद्ध जल से भरे अनेक जलाशय हैं जिनमें अनेक प्रकार के कमलों के फूल फूला करते हैं ॥४०॥

हंसकारण्डवाकीर्णाश्चक्रवाकोपशोभिताः ।
तत्रैकां रजनीं व्युष्य प्रभाते राम मन्यताम् ॥४१॥

वे सरोवर हंस, जलकुक्कुट और चक्रवाक पक्षियों से सुशोभित हैं। वहाँ एक रात ठहर कर प्रातःकाल होते ही आप वहाँ से यात्रा कीजिएगा ॥४१॥

दक्षिणां दिशमास्थाय वनषण्डस्य[1] पार्श्वतः ।
तत्रागस्त्याश्रमपदं गत्वा योजनमन्तरम् ॥४२॥

---

१ वनषण्डस्य—वनसमूहस्य । (गो०) २ अन्तरम्—उद्दिश्य । (गो०)

वहाँ से वन समूह की बगल से, दक्षिण दिशा की ओर एक योजन (४ कोस) चलने पर आपको अगस्त्य जी का आश्रम मिलेगा ॥४२॥

रमणीये वनोद्देशे बहुपादपसंवृते ।
रंस्यते तत्र वैदेही लक्ष्मणश्च सह त्वया ॥४३॥

वहाँ रमणीय और अनेक वृक्षों से युक्त आश्रम में सीता और लक्ष्मण के सहित सुख से वास कीजिएगा ॥४३॥

स हि रम्यो वनोद्देशो बहुपादपसङ्कुलः ।
यदि बुद्धिः कृता द्रष्टुमगस्त्यं तं महामुनिम् ॥४४॥

वह वनस्थली अनेक वृक्षों से सुशोभित होने के कारण अत्यन्त रमणीय है। यदि आप उन महर्षि अगस्त्य जी के दर्शन करना चाहते हैं ।४४॥

अद्यैव गमने बुद्धिं रोचयस्व महायशः ।
इति रामो मुनेः श्रुत्वा सह भ्रात्राऽभिवाद्य च ॥४५॥

तो हे महायशस्विन ! आज ही जाने का निश्चय कर लीजिये। तब श्री रामचन्द्र जी ये वचन सुन, और भ्राता सहित मुनि को प्रणाम कर ॥४५॥

प्रतस्थेऽगस्त्यमुद्दिश्य सानुजः सीतया सह ।
पश्यन्वनानि रम्याणि पर्वतांश्चाभ्रसन्निभान् ॥४६॥

श्री रामचन्द्र जी अपने भाई लक्ष्मण और सीता जी को साथ ले अगस्त्य जी के आश्रम की ओर प्रस्थानित हुए और रास्ते में उन्होंने अनेक रमणीय वन और मेघ के तुल्य पर्वत देखे ॥४६॥

सरांसि सरितश्चैव पथि मार्गवशानुगान्[१] ।
सुतीक्ष्णेनोपदिष्टेन गत्वा तेन पथा सुखम् ॥४७॥

सुतीक्ष्ण जी के बतलाए मार्ग को धर, श्रीरामचन्द्र जी अनेक नदियों और सरोवरों को, जो रास्ते मे पड़ते थे, देखते हुए, सुखपूर्वक चले जाते थे ॥४७॥

इदं परमसंहृष्टो वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ।
एतदेवाश्रमपदं नूनं तस्य महात्मनः ॥४८॥
अगस्त्यस्य मुनेर्भ्रातुर्दृश्यते पुण्यकर्मणः ।
यथा हि मे वनस्यास्य ज्ञाताः पथि सहस्रशः ॥४९॥
सन्नताः फलभारेण पुष्पभारेण च द्रुमाः ।
पिप्पलीनां च पक्वानां वनादस्मादुपागतः ॥५०॥
गन्धोऽय पवनोत्क्षिप्तः सहसा कटुकोदयः ।
तत्र तत्र च दृश्यन्ते संक्षिप्ताः काष्ठसचयाः ॥५१॥

चलते चलते श्रीरामचन्द्र जी ने परमहर्षित हो, लक्ष्मण जी से यह बात कही कि, निश्चय ही महात्मा अगस्त्य के पुण्यात्मा भ्राता का यह आश्रम दिखलाई पडता है। क्योंकि, जैसा सुना था, वैसा ही मार्ग से इस वन मे आते आते, फल और फूलों के बोझ से झुके हुए, हजारों वृक्ष देख पडते हैं। यह देखो पकी हुई पीपलों की कड़वी बू वन के पवन से उड़ाई हुई, आ रही है। जगह जगह इकट्ठे किए हुए काठ के ढेर देख पडते हैं ॥४८॥४९॥५०॥५१॥

लूनाश्च पथि दृश्यन्ते दर्भा वैडूर्यवर्चसः ।
एतश्च वनमध्यस्थं कृष्णाभ्रशिखरोपमम् ॥५२॥

---

१ मार्गवशानुगान्—मार्गवशात्प्राप्तान् । (रा०)

पावकस्याश्रमस्थस्य धूमाग्रं संप्रदृश्यते ।
विविक्तेषु[१] च तीर्थेषु कृतस्नाता द्विजातयः ॥५३॥
पुष्पोपहारं कुर्वन्ति कुसुमैः स्वयमर्जितैः ।
तत्सुतीक्ष्णस्य वचनं यथा सौम्य मया श्रुतम् ॥५४॥

और हरी मणि अर्थात् पन्ने की तरह ये कटे हुए हरे हरे रंग के कुश रास्ते मे देख पड़ते हैं। देखो, वन में यह काले मेघ के शृङ्ग की तरह आश्रम के अग्नि का धूम देख पड़ता है। इन पवित्र तीर्थों में ब्राह्मण लोग स्नान कर और स्वय तोड़े हुए फूलों से पुष्पार्चा (पुष्पाञ्जलि) कर रहे हैं। हे सौम्य! सुतीक्ष्ण ने जो पहचानें बतलाई थीं, वे सब यहाँ देख पड़ती हैं ॥५२॥५३॥५४॥

[टिप्पणी—श्लोक में "कुसुमै. स्वयमर्जितै." को देख—पूजाविधान का यह प्रमाण स्मरण हो आता है—"सामत्पुष्पकुशादीनि श्रोत्रियः स्वयमाहरेत्।" अर्थात् हवन के लिए समिधा, कुश और पूजन के लिए पुष्प श्रोत्रिय ब्राह्मण को स्वयं लाने चाहिए।]

अगस्त्यस्याश्रमो भ्रातुर्नूनमेष भविष्यति ।
निगृह्य तरसा मृत्युं[२] लोकानां हितकाम्यया ॥५५॥
यस्य भ्रात्रा कृतेयं दिक्छरण्या[३] पुण्यकर्मणा ।
इहैकदा किल क्रूरो वातापिरपि चेल्वलः ॥५६॥

अत. अगस्त्य जी के भाई का आश्रम अवश्य यही होगा। इनके भाई अगस्त्य जी ने सब लोगों के हितार्थ, वलपूर्वक मृत्यु के समान दैत्यों को मार कर, इस दक्षिण दिशा को पुण्यात्माओं (ऋषियों

---

१ विविक्तेषु—पूतेषु। (गो०) २ मृत्युं तत्तुल्यं दैत्यं। (रा०)
३ शरण्या—वासयोग्या। (रा०)

मुनियों) के रहने योग्य बना दिया है। किसी समय इस वन में बड़े क्रूर वातापि और इल्वल नाम के ॥५५॥५६॥

भ्रातरौ सहितावास्तां ब्राह्मणघ्नौ महासुरौ ।
धारयन् ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्[१] ॥५७॥

दो महाअसुर भाई, जो ब्राह्मणों को मार कर खा जाया करते थे, रहते थे। इनमें से इल्वल नाम का राक्षस, ब्राह्मण का रूप धर और ब्राह्मण की तरह संस्कृत भाषा बोलता हुआ ॥५७॥

[टिप्पणी—इससे जान पड़ता है कि, उस समय के लोगों की बोलचाल की भाषा, संस्कृत भाषा थी।]

आमन्त्रयति विप्रान्स श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः ।
भ्रातरं संस्कृतं कृत्वा ततस्तं मेषरूपिणम् ॥५८॥

श्राद्ध के बहाने, ब्राह्मणों को न्योता देता था। फिर मेढ़ा का रूप धारण किए हुए अपने भाई वातापि को मार कर और उसका मांस पका कर ॥५८॥

तान् द्विजान् भोजयामास श्राद्धदृष्टेन[२] कर्मणा ।
ततो भुक्तवतां तेषां विप्राणामिल्वलोऽब्रवीत् ॥५९॥
वातापे निष्क्रमस्वेति स्वरेण महता वदन् ।
ततो भ्रातुर्वचः श्रुत्वा वातापिर्मेषवन्नदन् ॥६०॥

वातापी भी भाई का वचन सुन, मेढ़े के समान बोलता हुआ ॥५६॥६०॥

भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि ब्राह्मणानां विनिष्पतन् ।
ब्राह्मणानां सहस्राणि तैरेवं कामरूपिभिः ॥६१॥
विनाशितानि संहत्य नित्यशः पिशिताशनैः ।
अगस्त्येन तदा देवैः प्रार्थितेन महर्षिणा ॥६२॥

ब्राह्मणों के शरीरों को चीरता फाड़ता निकल आता था। हे लक्ष्मण ! इस प्रकार ये कामरूपी और नरमासभोजी राक्षस मिल कर, सहस्रों ब्राह्मण नित्य मारने लगे। तब देवताओं ने आकर, महर्षि अगस्त्य की स्तुति की ॥६१॥६२॥

अनुकूलः किल श्राद्धे भक्षितः स महासुरः ।
ततः सम्पन्नमित्युक्त्वा दत्त्वा हस्तोदकं ततः ॥६३॥

और अगस्त्य जी ने अन्य ब्राह्मणों की तरह श्राद्धभोजन में वातापि का भक्षण किया। तब इल्वल ने " सम्पन्न " (अर्थात् श्राद्ध पूरा हुआ) कह कर, मुनि के हाथ पर " अवनेजन " (भोजनानन्तर का आचमन) के लिए जल दे कर, ॥६३॥

भ्रातरं निष्क्रमस्वेति चेल्वलः सोऽभ्यभाषत ।
स तं तथा भाषमाणं भ्रातरं विप्रघातिनम् ॥६४॥

सदा की भाँति (पेट फाड़ कर) निकलने के लिए भाई को पुकारा। तब ब्राह्मणों का घात करने वाले और भाई को वार वार पुकारने वाले इल्वल से ॥६५॥

अब्रवीत्प्रहसन् धीमानगस्त्यो मुनिसत्तमः ।
कुतो निष्क्रमितुं शक्तिर्मया जीर्णस्य रक्षसः ॥६५॥

मुनियों में श्रेष्ठ और बुद्धिमान् अगस्त्य जी ने हँस कर कहा कि, भला अब वह कैसे निकल सकता है, क्योंकि मैंने तो उस राक्षस को पचा डाला ॥६५॥

भ्रातुस्ते मेषरूपस्य गतस्य यमसादनम् ।
अथ तस्य वचः श्रुत्वा भ्रातुर्निधनसंश्रयम्[1] ॥६६॥

मेढा रूपधारी तेरा भाई तो यमालय में पहुँच गया । अगस्त्य जी के मुख से भाई के मरने की बात सुन, ॥६६॥

प्रधर्षयितु[2] मारेभे मुनिं क्रोधान्निशाचरः ।
सोऽभिद्रवन् मुनिश्रेष्ठं मुनिना दीप्ततेजसा ॥६७॥

क्रोध में भर वह राक्षस अगस्त्य जी को मार डालने के लिए उन पर झपटा । तब तपस्या के तेज से दीप्तमान अगस्त्य जी ने ॥६७॥

चक्षुषाऽनलकल्पेन[3] निर्दग्धो निधनं गतः ।
तस्यायमाश्रमो भ्रातुस्तटाकवनशोभितः ॥६८॥

प्रज्वलित अग्नि के समान नेत्रों से उसकी ओर देख, उसे भस्म कर, मार डाला । हे लक्ष्मण ! उन्हीं अगस्त्य जी के भाई का यह तडाग और वन से शोभित आश्रम है ॥६८॥

विप्रानुकम्पया येन कर्मेदं दुष्करं कृतम् ।
एवं कथयमानस्य तस्य सौमित्रिणा सह ॥६९॥

रामस्यास्तं गतः सूर्यः सन्ध्याकालोऽभ्यवर्तत ।
उपास्य पश्चिमां सन्ध्यां सह भ्रात्रा यथाविधि ॥७०॥

सूर्य अस्त हो गए और सन्ध्याकाल हो गया । तब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने यथाविधि सायं सन्ध्योपासन किया ॥७०॥

[टिप्पणी—अगस्त्य तथा इल्वल-वातापि के आख्यान को पढ़कर यह बात भी जानी जाती है कि, रामायणकाल में ब्राह्मण, ब्राह्मणों को, श्राद्धभोजन में मांस का भी भोजन करवाया करते थे ।]

प्रविवेशाश्रमपदं तमृषिं सोऽभ्यवादयत् ।
सम्यक्प्रतिगृहीतश्च मुनिना तेन राघवः ॥७१॥

सन्ध्योपासन करने के उपरान्त वे अगस्त्य जी के भाई के आश्रम मे गए और उनको प्रणाम किया । अगस्त्य जी के भाई ने भी भली भाँति स्वागत कर उनका आतिथ्य किया ॥७१॥

न्यवसत्तां निशामेकां प्राश्य मूलफलानि च ।
तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां विमले सूर्यमण्डले ॥७२॥

कन्दमूल और फल खा कर, श्रीरामचन्द्र जी एक रात्रि वहाँ ठहरे । फिर रात बीतने और सवेरा होने पर ॥७२॥

भ्रातरं तमगस्त्यस्य ह्यामन्त्रयत राघवः ।
अभिवादये त्वां भगवन् सुखमध्युषितो निशाम् ॥७३॥
आमन्त्रये त्वां गच्छामि गुरुं ते द्रष्टुमग्रजम् ।
गम्यतामिति तेनोक्तो जगाम रघुनन्दनः ॥७४॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अगस्त्य जी के भाई से विदा माँगते समय कहा—हे भगवन् ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ । हम लोगों की रात बडे सुख से यहाँ कटी । अब आप हम लोगों को जाने की अनुमति दीजिए । क्योंकि हम लोग आपके पूज्य बड़े भाई के दर्शन

करना चाहते हैं। इस पर जब अगस्त्य के भ्राता ने कहा—"बहुत अच्छा पधारिए", तब श्रीरामचन्द्र जी वहाँ से प्रस्थानित हुए ॥७३॥७४॥

यथोद्दिष्टेन मार्गेण वनं तच्चावलोकयन्।
नीवारान् पनसांस्तालांस्तिमिशान् वञ्जुलान् धवान् ॥७५॥
चिरिबिल्वान् मधूकांश्च बिल्वानपि च तिन्दुकान्।
पुष्पितान् पुष्पिताग्राभिर्लताभिरनुवेष्टितान् ॥७६॥
ददर्श रामः शतशस्तत्र कान्तारपादपान्।
हस्तिहस्तैर्विमृदितान् वानरैरुपशोभितान् ॥७७॥

श्रीरामचन्द्र जी बतलाए हुए मार्ग से चलते हुए, उस वन की शोभा निरखते जाते थे। उस वन में नीवार, कटहल, साल, वञ्जुल, तिनिश, ढाक, तथा पुराने बेल, महुआ, तेंदुआ आदि वृक्ष, जो स्वयं फूले हुए थे तथा जिनमें फूली हुई लताएँ लिपटी हुई थीं, ऐसे सैकड़ों वृक्ष श्रीरामचन्द्र जी ने उस वन में देखे। इन वृक्षों में से कितने ही हाथियों की सूँड़ों से टूटे हुए थे और कितनों ही पर बंदर बैठे हुए उनकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥७५॥७६॥७७॥

मत्तैः शकुनिसङ्घैश्च शतशश्च प्रणादितान्।
ततोऽब्रवीत्समीपस्थं रामो राजीवलोचनः ॥७८॥

उन वृक्षों पर सैकड़ों पक्षी मतवाले हो बोल रहे थे। वहाँ की ऐसी शोभा देख, राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी ने निकटस्थ ॥७८॥

मृगगण तथा पक्षी जैसे शान्त स्वभाव दृष्टिगत हो रहे हैं, इससे तो यही जान पड़ता है कि, ॥७९॥

आश्रमो नातिदूरस्थो महर्षेर्भावितात्मनः।
अगस्त्य इति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा[1] ॥८०॥

उन विशुद्ध चित्त महर्षि का आश्रम अब अधिक दूर नहीं है, जो अपने ही कर्म से अगस्त्य के नाम से लोक में विख्यात है ॥८०॥

[टिप्पणी—अगस्त्य का अगस्त्य नाम क्यों पड़ा यह इसी सर्ग के ८६—८७ श्लोकों में संकेत से बतलाया गया है।]

आश्रमो दृश्यते तस्य परिश्रान्तश्रमापहः।
आज्यधूमाकुलवनश्चीरमालापरिष्कृतः ॥८१॥

थके बटोहियों की थकावट दूर करने वाला उनका आश्रम यही देख पड़ता है। देखो न, अग्निहोत्र का धुआँ वन में छाया हुआ है। जहाँ तहाँ वृक्षों की डालियों पर चीर वस्त्र सुखाने को फैलाए हुए हैं और पुष्पमालाएँ लटका कर आश्रम की सजावट की गई है ॥८१॥

प्रशान्तमृगयूथश्च नानाशकुनिनादितः।
निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया ॥८२॥

देखो, स्वाभाविक वैर विरोध को छोड़, वन्यजन्तु कैसे शान्त बैठे हुए हैं और तरह तरह के पक्षी शब्द कर रहे हैं। इन्होंने मृत्यु रूपी उन राक्षसों को बलपूर्वक, लोकों के हितार्थ मार कर, ॥८२॥

दक्षिणा दिक्कृता येन शरण्या पुण्यकर्मणा।
तस्येदमाश्रमपदं प्रभावाद्यस्य राक्षसैः ॥८३॥

---

१ स्वेनैव कर्मणा—विन्ध्यस्तम्भन रूपेण। अगस्तम्भयतीत्यगस्त्य इति नत्ते। (गो०)

निदेशं पालयन् यस्य विन्ध्यः शैलो न वर्धते ।
अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः ॥८७॥
अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान् विनीतजनसेवितः ।
एष लोकार्चितः साधुर्हिते नित्यरतः सताम् ॥८८॥

किन्तु यह विन्ध्य शैल अगस्त्य जी की आज्ञा पालन कर, सूर्य का रास्ता रोकने को अब ऊँचा नहीं होता । तीनों लोकों में अपने कर्मों से प्रसिद्ध उन दीर्घजीवी महर्षि अगस्त्य का विनीत जनों से सेवित यही आश्रम है । यह मुनि, लोगों से सम्मानित हैं और साधुओं की भलाई करने में सदा तत्पर रहते हैं ॥८७॥८८॥

अस्मानभिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति ।
आराधयिष्याम्यत्राहमगस्त्यं तं महामुनिम् ॥८९॥

जब हम उनके आश्रम में जायगे तब वे हमारा कल्याण करेंगे । मैं उन महर्षि अगस्त्य का आराधन करूँगा ॥८९॥

शेषं च वनवासस्य सौम्य वत्स्याम्यहं प्रभो ।
अत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥९०॥

हे सौम्य ! मैं वनवास का शेष काल अगस्त्य जी के आश्रम में रह कर ही बिताऊँगा । हे प्रभो ! इस आश्रम में देवता, गन्धर्व, सिद्ध और देवर्षि ॥९०॥

अगस्त्यं नियताहारं सततं पर्युपासते ।
नात्र जीवेन् मृषावादी क्रूरो[1] वा यदि वा शठः[2]॥९१॥
नृशंसः[3] कामवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः ।
अत्र देवाश्च यक्षाश्च नागाश्च पतगैः[4] सह ॥९२॥

---

१ क्रूरः—निर्दय । (गो०) २ शठः—गूढविप्रियकृत् । (गो०) ३ नृशंस. ... । (गो०) ४ पतगै.—गरुडजातिभिः । (गो०)

द्वादशः सर्गः

—❀—

स प्रविश्याश्रमपदं लक्ष्मणो राघवानुजः ।
अगस्त्यशिष्यमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई लक्ष्मण आश्रम में गए और अगस्त्य जी के शिष्य के पास जा उससे यह वचन बोले ॥१॥

राजा दशरथो नाम ज्येष्ठस्तस्य सुतो बली ।
रामः प्राप्तो मुनिं द्रष्टुं भार्यया सह सीतया ॥२॥

महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र, बलवान् श्रीरामचन्द्र जी, अपनी स्त्री सीता जी के साथ, मुनि के दर्शन करने को आए हुए हैं ॥२॥

लक्ष्मणो नाम तस्याहं भ्राता त्ववरजो हितः[1] ।
अनुकूल[2]श्च भक्त[3]श्च यदि ते श्रोत्रमागतः ॥३॥

मेरा नाम लक्ष्मण है और मैं उनका हितकारी, प्रिय और प्रीतिमान् छोटा भाई हूँ। कदाचित् श्रीरामचन्द्र जी के प्रसङ्ग में तुमने मेरा नाम भी सुना हो ॥३॥

ते वयं वनमत्युग्रं प्रविष्टाः पितृशासनात् ।
द्रष्टुमिच्छामहे सर्वे भगवन्तं निवेद्यताम् ॥४॥

हम लोग पिता की आज्ञा से इस भयङ्कर वन में आए हैं। आप जा कर, भगवान् अगस्त्य जी से निवेदन करें कि, हम लोग उनके दर्शन करना चाहते हैं ॥४॥

---

१ हित—हितकारी । (गो०) २ अनुकूल—प्रियकरः । ३ भक्तः— । (गो०)

अब जो कुछ मुझे कर्त्तव्य हो सो आज्ञा कीजिये। शिष्य के मुख से श्रीरामचन्द्र वा लक्ष्मण वा महाभागा सीता जी का आगमन सुन, अगस्त्य जी बोले—यह बड़े भाग्य की बात है कि, बहुत दिनों पर श्रीरामचन्द्र जी मुझसे मिलने आये हैं ॥९॥१०॥

मनसा काङ्क्षितं ह्यस्य मयाप्यागमनं प्रति।
गम्यतां सत्कृतो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥११॥

प्रवेश्यतां समीपं मे किं चासौ न प्रवेशितः।
एवमुक्तस्तु मुनिना धर्मज्ञेन महात्मना ॥१२॥

मेरे मन में भी उनसे मिलने की अभिलाषा थी। सो तुम जा कर लक्ष्मण और सीता सहित श्रीरामचन्द्र जी को बड़े आदर के साथ लिवा लाओ। तुम शीघ्र उनको मेरे पास लिवा क्यों नहीं लाये। जब धर्मज्ञ महात्मा अगस्त्य जी ने इस प्रकार कहा ॥११॥१२॥

अभिवाद्याब्रवीच्छिष्यस्तथेति नियताञ्जलिः।
ततो निष्क्रम्य सम्भ्रान्तः शिष्यो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥१३॥

तब शिष्य, प्रणाम कर और हाथ जोड़ कर, यह कहता हुआ कि बहुत अच्छा अभी लिवाये लाता हूँ, बाहिर गया और आदर पूर्वक लक्ष्मण जी से बोला ॥१३॥

क्वासौ रामो मुनिं द्रष्टुमेतु प्रविशतु स्वयम्।
ततो गत्वाऽऽश्रमद्वारं शिष्येण सह लक्ष्मणः ॥१४॥

श्रीरामचन्द्र कौन से हैं वे आवें और मुनि जी का दर्शन करें। लक्ष्मण जी उस शिष्य को अपने साथ ले आश्रम के द्वार पर १४॥

दर्शयामास काकुत्स्थं सीतां च जनकात्मजाम् ।
त शिष्यः प्रश्रितो[१] वाक्यमगस्त्यवचनं ब्रुवन् ॥१५॥

और उस शिष्य को जनकनन्दिनी सीता और श्रीरामचन्द्र को दिखलाया। उस शिष्य ने प्रीतिसहित अगस्त्य जी का सदेसा श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥१५॥

प्रावेशयद्यथान्याय सत्कारार्हं सुसत्कृतम् ।
प्रविवेश ततो रामः सीतया सह लक्ष्मणः ॥१६॥

फिर उन सत्कार करने योग्यों का यथाविधि सत्कार कर, वह शिष्य श्रीरामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण को आश्रम के भीतर ले गया ॥१६॥

प्रशान्तहरिणाकीर्णमाश्रमं ह्यवलोकयन् ।
स तत्र ब्रह्मणः स्थानमग्नेः स्थान तथैव च ॥१७॥
विष्णोः स्थानं महेन्द्रस्य स्थानं चैव विवस्वतः ।
सोमस्थान भगस्थानं स्थानं कौबेरमेव च ॥१८॥
धातुर्विधातुः स्थाने च वायोः स्थानं तथैव च ।
नागराजस्य च स्थानमनन्तस्य महात्मनः ॥१९॥
स्थान तथैव गायत्र्या वसूनां स्थानमेव च ।
स्थानं च पाश[illegible]स्तस्य वरुणस्य महात्मनः ॥२०॥
कार्त्तिकेयस्य च स्थानं धर्मस्थानं च [illegible] ।
ततः शिष्यैः परिवृतो मुनिरप्यभिनि[illegible] ॥२१॥

उस आश्रम के भीतर जा श्रीरामचन्द्रादि ने देखा कि, आश्रम में शान्त स्वभाव हिरन चारों ओर बैठे हैं। इन तीनों ने देखा कि, अगस्त्य जी के आश्रम मे ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, भग, कुवेर, धाता, विधाता, वायु, नागराज शेष जी, गायत्री, वसु, वरुण, कार्तिकेय, धर्मराज के स्थान या मन्दिर बने हुए हैं। इतने में शिष्यों को साथ लिए हुए अगस्त्य जी भी अग्निशाला से निकले ॥१७॥१८॥१९॥२०॥२१॥

तं ददर्शाग्रतो रामो मुनीनां दीप्ततेजसाम् ।
अब्रवीद्वचन वीरो लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥२२॥

तब वीर श्रीरामचन्द्र जी ने मुनियों मे सब से बढ कर तेजस्वी अगस्त्य जी को सामने से आता हुआ देख, शोभा बढ़ाने वाले लक्ष्मण जी से कहा ॥२२॥

एप लक्ष्मण निष्क्रामत्यगस्त्यो भगवानृपिः ।
औदार्येणा[१] वगच्छामि[२] निधानं तपसामिमम् ॥२३॥

हे लक्ष्मण! भगवान् अगस्त्य ऋपि अग्निशाला से निकल कर, आ रहे हैं। इनके तेज विशेप को देखने से जान पड़ता है कि, यह तप की खान है ॥२३॥

एवमुक्त्वा महाबाहुरगस्त्यं सूर्यवर्चसम् ।
जग्राह परमप्रीतस्तस्य पादौ परन्तपः ॥२४॥

यह कह, महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी ने सूर्य के समान तेजस्वी महर्पि अगस्त्य के चरण छुए ॥२४॥

---

१ औदार्येण—तपोजनिततेजोविशेषपौष्कल्येण। (शि०) २ अवगच्छामि-जानामि। (शि०)

अभिवाद्य तु धर्मात्मा तस्थौ रामः कृताञ्जलिः ।
सीतया सह वैदेह्या तदा रामः सलक्ष्मणः ॥२५॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण जी सहित प्रणाम कर के हाथ जोड़े हुए खड़े रहे ॥२५॥

प्रतिजग्राह[1] काकुत्स्थमर्चयित्वाऽऽसनोदकैः ।
कुशलप्रश्नमुक्त्वा च ह्यास्यतामिति चाब्रवीत् ॥२६॥

तब महर्षि अगस्त्य जी ने श्रीरामचन्द्र जी को अतिथि मान, आसन और पैर धोने को जल दिया । तदनन्तर कुशल पूँछ कर, कहा कि बैठिए ॥२६॥

अग्निं हुत्वा[2] प्रदायार्घ्यमतिथीन् प्रतिपूज्य[3] च ।
वानप्रस्थेन धर्मेण[4] स तेषां भोजनं ददौ ॥२७॥

तदनन्तर वैश्वदेव कर और अर्घ्य, पाद्य, आचमन, पुष्पादि से उन अतिथियों का पूजन कर, सिद्ध किए हुए (कच्चे नहीं) कन्द मूल भोजन करने के लिये दिये ॥२७॥

[टिप्पणी—यहाँ "वानप्रस्थेन धर्मेण" कहने का अभिप्राय यह है कि सन्यासी की तरह वानप्रस्थ को अग्नि स्पर्श करने का निषेध न होने के कारण श्रीराम जी को कच्चे फलादि नहीं किन्तु अग्नि पर बनाए पदार्थ भोजन के लिए दिए ।]

प्रथमं चोपविश्याथ धर्मज्ञो मुनिपुङ्गवः ।
उवाच राममासीनं प्राञ्जलिं धर्मकोविदम् ॥२८॥

तदनन्तर धर्मज्ञ महर्षि अगस्त्य प्रथम आसन पर बैठ फिर कर जोड़ कर बैठे हुए, धर्मकोविद श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥२८॥

---

१ प्रतिजग्राह—अतिथित्वेनेति शेषः । (गो०) २ अग्निंहुत्वा—वैश्वदेवं कृत्वा । (गो०) ३ प्रतिपूज्य—आचमनीयपुष्पादिभिः पूजयित्वा । (गो०) ४ वानप्रस्थेनधर्मेण—सिद्धभोजनं कन्दमूलादिकं ददौ । (गो०)

उस आश्रम के भीतर जा श्रीरामचन्द्रादि ने देखा कि, आश्रम में शान्त स्वभाव हिरन चारों ओर बैठे हैं। इन तीनों ने देखा कि, अगस्त्य जी के आश्रम मे ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, भग, कुवेर, धाता, विधाता, वायु, नागराज शेष जी, गायत्री, वसु, वरुण, कार्तिकेय, धर्मराज के स्थान या मन्दिर बने हुए हैं। इतने मे शिष्यों को साथ लिए हुए अगस्त्य जी भी अग्निशाला से निकले ॥१७॥१८॥१९॥२०॥२१॥

तं ददर्शाग्रतो रामो मुनीनां दीप्ततेजसाम् ।
अब्रवीद्वचन वीरो लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥२२॥

तब वीर श्रीरामचन्द्र जी ने मुनियों मे सब से बढ कर तेजस्वी अगस्त्य जी को सामने से आता हुआ देख, शोभा बढ़ाने वाले लक्ष्मण जी से कहा ॥२२॥

एष लक्ष्मण निष्क्रामत्यगस्त्यो भगवानृषिः ।
औदार्येण[१] वगच्छामि[२] निधानं तपसामिमम् ॥२३॥

हे लक्ष्मण! भगवान् अगस्त्य ऋषि अग्निशाला से निकल कर, आ रहे हैं। इनके तेज विशेष को देखने से जान पड़ता है कि, यह तप की खान हैं ॥२३॥

एवमुक्त्वा महाबाहुरगस्त्यं सूर्यवर्चसम् ।
जग्राह परमप्रीतस्तस्य पादौ परन्तपः ॥२४॥

यह कह, महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी ने सूर्य के समान तेजस्वी महर्षि अगस्त्य के चरण छुए ॥२४॥

---

१ औदार्येण—तपोजनिततेजोविशेषप्रौत्कर्षेण। (शि०) २ अवगच्छामि—जानामि। (शि०)

अभिवाद्य तु धर्मात्मा तस्थौ रामः कृताञ्जलिः ।
सीतया सह वैदेह्या तदा रामः सलक्ष्मणः ॥२५॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण जी सहित प्रणाम कर के हाथ जोड़े हुए खड़े रहे ॥२५॥

प्रतिजग्राह[1] काकुत्स्थमर्चयित्वाऽऽसनोदकैः ।
कुशलप्रश्नमुक्त्वा च ह्यास्यतामिति चाब्रवीत् ॥२६॥

तब महर्षि अगस्त्य जी ने श्रीरामचन्द्र जी को अतिथि मान, आसन और पैर धोने को जल दिश्रा । तदनन्तर कुशल पूँछ कर, कहा कि वैठिए ॥२६॥

अग्निं हुत्वा[2] प्रदायार्घ्यमतिथीन् प्रतिपूज्य[3] च ।
वानप्रस्थेन धर्मेण[4] स तेषां भोजनं ददौ ॥२७॥

तदनन्तर वैश्वदेव कर और अर्घ्य, पाद्य, आचमन, पुष्पादि से उन अतिथियों का पूजन कर, सिद्ध किए हुए (कच्चे नहीं) कन्द मूल भोजन करने के लिये दिये ॥२७॥

[टिप्पणी—यहाँ "वानप्रस्थेन धर्मेण" कहने का अभिप्राय यह है कि सन्यासी की तरह वानप्रस्थ को अग्नि स्पर्श करने का निषेध न होने के कारण श्रीराम जी को कच्चे फलादि नहीं किन्तु अग्नि पर बनाए पदार्थ भोजन के लिए दिए ।]

प्रथमं चोपविश्याथ धर्मज्ञो मुनिपुङ्गवः ।
उवाच राममासीनं प्राञ्जलिं धर्मकोविदम् ॥२८॥

तदनन्तर धर्मज्ञ महर्षि अगस्त्य प्रथम आसन पर बैठ फिर कर जोड़ कर बैठे हुए, धर्मकोविद श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥२८॥

---

१ प्रतिजग्राह—अतिथित्वेनेति शेषः । (गो०) २ अग्निंहुत्वा—वैश्वदेवं कृत्वा । (गो०) ३ प्रतिपूज्य—आचमनीयपुष्पादिभिः पूजयित्वा । (गो०) ४ वानप्रस्थेनधर्मेण—सिद्धभोज्यं कन्दमूलादिकं ददौ । (गो०)

अग्निं हुत्वा प्रदायार्घ्यमतिथिं प्रतिपूजयेत् ।
अन्यथा खलु काकुत्स्थ तपस्वी समुदाचरन् ॥२९॥
दुःसाक्षीव[1] परे लोके स्वानि मांसानि भक्षयेत् ।
राजा सर्वस्य लोकस्य धर्मचारी महारथः ॥३०॥
पूजनीयश्च मान्यश्च भवान् प्राप्तः प्रियातिथिः ।
एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैरन्यैश्च राघवम् ॥३१॥
पूजयित्वा यथाकामं पुनरेव ततोऽब्रवीत् ।

हे काकुत्स्थ, वैश्वदेव कर तथा अर्घ्यादि से अतिथि का पूजन करना चाहिए। जो तपस्वी ऐसा नहीं करता, वह परलोक में मिथ्यावादी कूटसाक्षी की तरह अपना मांस आप खाता है। आप तो सब लोकों के स्वामी धर्मचारी और महारथी हैं। सो आप जैसे विशिष्ट एवं प्रिय अतिथि आज हमारे पाहुने हुए हैं। अतः आपका पूजन और सत्कार करना हमारा कर्त्तव्य है। यह कह कर फल, मूल, पुष्प तथा अन्य पदार्थों को ला कर महर्षि ने श्रीरामचन्द्र जी का यथेष्ट पूजन कर कहा—॥२९॥३०॥३१॥

इदं दिव्यं महच्चापं हेमरत्नविभूषितम् ॥३२॥
वैष्णवं पुरुषव्याघ्र निर्मितं विश्वकर्मणा ।
अमोघः सूर्यसङ्काशो ब्रह्मदत्तः शरोत्तमः ॥३३॥
दत्तौ मम महेन्द्रेण तूणी चाक्षयसायकौ ।
सम्पूर्णौ निशितैर्बाणैर्ज्वलद्भिरिव पावकैः ॥३४॥

हे पुरुषसिंह ! उस दिव्य बड़े धनुष को, जो सुवर्ण और हीरों

---

१ दुःसाक्षी—कूटसाक्षी । (गो०) ।

से भूषित है और जिसको विश्वकर्मा ने भगवान् विष्णु के लिये बनाया था, आप ग्रहण करें। ब्रह्मा के दिए हुए अमोघ (जो कभी खाली न जाँय) और सूर्य के समान चमचमाते (जिसमे जग नहीं लगी) इस उत्तम बाण को और इन्द्र के दिए हुए, इन तरकसो को, जिसमे बाण कभी नहीं निघटते और जिनमे अग्नि के समान चमचमाते शत्रु को दग्ध करने वाले बाण भरे हुए हैं, आप ग्रहण कीजिए ॥३२॥३३॥३४॥

महारजत[१]कोशोऽयमसिर्हेमविभूषितः ।
अनेन धनुषा राम हत्वा सङ्ख्ये महाऽसुरान् ॥३५॥

आजहार श्रियं दीप्तां पुरा विष्णुर्दिवौकसाम् ।
तद्धनुस्तौ च तूणीरौ शरं खड्गं च मानद ॥
जयाय प्रतिगृह्णीष्व वज्रं वज्रधरो यथा ॥३६॥

सोने की म्यानसहित इस सोने की मूँठ वाली तलवार को भी आप ले। हे राम ! इसी धनुष से विष्णु ने युद्ध मे असङ्ख्य असुरों को मार कर, देवताओं के लिए विजयलक्ष्मी प्राप्त की थी। हे मानद ! इन्द्र जिस प्रकार वज्र धारण करते हैं, उसी प्रकार आप भी, शत्रुओं को जीतने के लिए, यह धनुष, तरकस, तीर और खड्ग ले कर, धारण कीजिए ॥३५॥३६॥

एवमुक्त्वा महातेजाः समस्तं तद्वरायुधम् ।
दत्त्वा रामाय भगवानगस्त्यः पुनरब्रवीत् ॥३७॥

॥ इति द्वादशः सर्गः ॥

---

१ महारजतं—सुवर्णं । (गो०) ।

महातेजस्वी भगवान् महर्षि अगस्त्य, श्रीरामचन्द्र जी से यह कह कर और वे सर्वश्रेष्ठ आयुध उनको दे कर, उनसे फिर कहने लगे ॥३७॥

[टिप्पणी—किसी किसी संस्करण के इस सर्ग में लगभग २६ श्लोक और पाये जाते हैं, किन्तु प्रक्षिप्त होने के कारण वे यहाँ छोड़ दिए गए हैं।]

अरण्यकाण्ड का बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

त्रयोदशः सर्गः

—:*:—

राम प्रीतोऽस्मि भद्रं ते परितुष्टोऽस्मि लक्ष्मण।
अभिवादयितुं यन्मां प्राप्तौ स्थः सह सीतया ॥१॥

हे राम, हे लक्ष्मण! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम दोनों सीता सहित हमें प्रणाम करने आए, इससे हम तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हैं ॥१॥

अध्वश्रमेण वां खेदो बाधते प्रचुरश्रमः।
व्यक्तमुत्कण्ठते चापि मैथिली जनकात्मजा ॥२॥

यह स्पष्ट विदित होता है कि, मार्ग चलने की थकावट से तुमको महाकष्ट हुआ है। जनकनन्दिनी मैथिली भी विश्राम करने को उत्सुक जान पड़ती है ॥२॥

एषा हि सुकुमारी च दुःखैश्च न विमानिता।
प्राज्यदोषं[१] वनं प्राप्ता भर्तृस्नेहप्रचोदिता ॥३॥

यह बड़ी ही सुकुमार है, इसने काहे को ऐसे कष्ट कभी सहे होंगे। किन्तु पतिस्नेह से प्रेरित हो, यह अनेक कष्ट देने वाले इस वन में आई है ॥३॥

---

१ प्राज्यदोष—बहुदोष। (गो०)

यथैषा रमते राम इह सीता तथा कुरु ।
दुष्करं कृतवत्येषा वने त्वामनुगच्छती ॥४॥

इस आश्रम में, जिस प्रकार इसको सुख मिले, तुम वैसा ही करो। इसने यह बड़ा ही दुष्कर कार्य किया है जो ये तुम्हारे साथ वन में आई है ॥४॥

एषा हि प्रकृतिः स्त्रीणामासृष्टे रघुनन्दन ।
समस्थमनुरज्यन्ति विषमस्थं त्यजन्ति च ॥५॥

क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ ही से स्त्रियों का स्वभाव यही चला आता है कि, स्त्रियाँ सुख में तो अपने पतियों का साथ देती हैं और विपत्ति मे उनका साथ छोड़ देती हैं ॥५॥

शतह्रदानां लोलत्वं शस्त्राणां तीक्ष्णतां तथा ।
गरुडानिलयोः शैघ्र्यमनुगच्छन्ति योषितः ॥६॥

स्त्रियों का मन बिजली की तरह चञ्चल होता है। ये शस्त्रों की धार की तरह तेज स्वभाव वाली, (अर्थात् ऐसे कटु वचन बोलने वाली जो शस्त्र की तरह हृदय के आर पार हो जाय) और गरुड तथा वायु की तरह शीघ्रता की अनुगामिनी होती हैं, अर्थात् इनके विचार बडी जल्दी जल्दी बदला करते हैं ॥६॥

इयं तु भवतो भार्या दोषैरेतैर्विवर्जिता ।
श्लाघ्या च व्यपदेश्या[1] च यथा देवी ह्यरुन्धती ॥७॥

किन्तु हे राम ! आपकी भार्या इन सीता जी मे, इन दोषों में से एक भी दोष नहीं है। इसलिए ये तो प्रशंसनीय और अरुन्धती की तरह पतिव्रता स्त्रियों की सिरमौर हैं ॥७॥

---

[1] व्यपदेश्या—पतिव्रतात्वप्रगण्या। (गो०)

अलङ्कृतोऽयं देशश्च यत्र सौमित्रिणा सह ।
वैदेह्या चानया राम वत्स्यसि त्वमरिन्दम ॥८॥

हे शत्रुओं को दमन करने वाले ! तुमने सीता और लक्ष्मण सहित यहाँ वास कर, इस स्थान की शोभा बढ़ा दी । अथवा तुम, लक्ष्मण और सीता सहित जहाँ रहोगे, वही स्थान शोभायुक्त हो जायगा ॥८॥

एवमुक्तः स मुनिना राघवः संयताञ्जलिः ।
उवाच प्रश्रितं वाक्यमृषिं दीप्तमिवानलम् ॥९॥

ऋषि के ऐसा कहने पर, श्रीरामचन्द्र जी ने हाथ जोड़ कर और विनम्र हो, अग्नि के समान तेजस्वी अगस्त्य मुनि से कहा ॥९॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गवः ।
गुणैः सभ्रातृभार्यस्य वरदः परितुष्यति ॥१०॥

मैं अपने को धन्य और अनुगृहीत समझता हूँ कि, आप जैसे वरदाता मेरे, मेरे भाई और भार्या के गुणों से परम सन्तुष्ट हैं ॥१०॥

किन्तु व्यादिश मे देशं सोदकं बहुकाननम् ।
यत्राश्रमपदं कृत्वा वसेयं निरतः[१] सुखम् ॥११॥

किन्तु हे मुनिवर ! मुझे कोई ऐसा स्थान बतलाइए, जहाँ जल का कष्ट न हो, जो मनोहर वनों से युक्त हो और जहाँ मैं आश्रम बना कर और एकाग्र हो, सुखपूर्वक वास कर सकूँ ॥११॥

ततोऽब्रवीन् मुनिश्रेष्ठः श्रुत्वा रामस्य तद्वचः ।
ध्यात्वा मुहूर्तं धर्मात्मा धीरो[२] धीरतरं[३] वचः ॥१२॥

---

१ निरतः—एकाग्र. । (गो०) २ धीर—धीमान् । (गो०) ३ धीरतर—अतिनिश्चित । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी के कथन को सुन, धर्मात्मा श्रीमान् एवं मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य जी मुहूर्त्त भर ध्यानमग्न हो (सोच कर), यह अति निश्चित (भली भाँति सोचा विचारा हुआ) वचन बोले ॥१२॥

इतो द्वियोजने तात बहुमूलफलोदकः ।
देशो बहुमृगः श्रीमान् पञ्चवट्यभिविश्रुतः ॥१३॥

हे तात ! यहाँ से एक योजन (चारकोस) के अन्तर पर बहुत से फूलों और फलों से युक्त और जल तथा मृगों से भरा पूरा पञ्चवटी नाम का एक प्रसिद्ध स्थान है ॥१३॥

तत्र गत्वाऽऽश्रमपदं कृत्वा सौमित्रिणा सह ।
रंस्यसे त्वं पितुर्वाक्यं यथोक्तमनुपालयन् ॥१४॥

तुम लक्ष्मण जी सहित वहाँ जाओ और आश्रम बना कर, अपने पिता के वचन का यथाविधि पालन करते हुए, सुखपूर्वक रहो ॥१४॥

विदितो ह्येष वृत्तान्तो मम सर्वस्तवानघ ।
तपसश्च प्रभावेन स्नेहाद्दशरथस्य च ॥१५॥
हृदयस्थश्च ते च्छन्दो[1] विज्ञातस्तपसा मया ।
इह वासं प्रतिज्ञाय मया सह तपोवने ॥१६॥

हे अनघ (पाप रहित) ! महाराज दशरथ मेरे स्नेही थे, सो हमें तप प्रभाव से तुम्हारा समस्त वृत्तान्त मालूम है । इतना ही नहीं, बल्कि तप के प्रभाव से हमें यह भी मालूम है कि, तुम्हारे मन में क्या है । तभी तो तुम इस तपोवन में वास करने की हमसे प्रतिज्ञा कर के भी, रहने के लिए मुझसे अन्य स्थान पूँछते हो ॥१५॥१६॥

---

[1] छन्दोभिप्रायः । (गो०)

अतश्च त्वामहं ब्रूमि गच्छ पञ्चवटीमिति ।
स हि रम्यो वनोद्देशो मैथिली तत्र रंस्यते ॥१७॥

अतएव हे राम ! मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम पञ्चवटी में जा कर रहो। उस रमणीक वनस्थली मे सीता का मन भी लग जायगा ॥१७॥

स देशः श्लाघनीयश्च नातिदूरे च राघव ।
गोदावर्याः समीपे च मैथिली तत्र रंस्यते ॥१८॥

हे राघव ! वह स्थान सराहनीय है और यहाँ से दूर भी नहीं है तथा गोदावरी के समीप है। वहाँ सीता जी का मन लग जायगा ॥१८॥

प्राज्यमूलफलश्चैव नानाद्विजगणायुतः ।
विविक्तश्च महाबाहो पुण्यो रम्यस्तथैव च ॥१९॥

वहाँ कन्दमूल और फलों की बहुतायत है और तरह तरह के पक्षियों से वह स्थान भरा हुआ है। हे महाबाहो ! वह एकान्त, पवित्र और रम्य स्थान है ॥१९॥

भवानपि सदारश्च शक्तश्च परिरक्षणे[1] ।
अपि चात्र वसन् राम तापसान् पालयिष्यसि ॥२०॥

हे श्रीराम ! आप सीता जी सहित तपस्वियों की रक्षा कर सकते हैं। सो वहाँ रह कर आप तपस्वियों का पालन भी कर सकेंगे ॥२०॥

एतदालक्ष्यते वीर मधूकानां महद्वनम् ।
उत्तरेणास्य गन्तव्यं न्यग्रोधमभिगच्छता ॥२१॥

---

१ परिरक्षणे—तापसानामितिशेषः । (गो०)

हे राम ! यह जो महुओं का महावन दिखाई पड़ता है, उसके उत्तर की ओर से जा कर एक वट वृक्ष के पास तुम पहुँचोगे ॥२१॥

ततः स्थलमुपारुह्य पर्वतस्याविदूरतः ।
ख्यातः पञ्चवटीत्येव नित्यपुष्पितकाननः ॥२२॥

वट वृक्ष के आगे पर्वत के समीप समतल भूमि में पहुँचने पर पुष्पों से सदा सुशोभित पञ्चवटी नाम का विख्यात वन तुमको मिलेगा ॥२२॥

अगस्त्येनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिणा सह ।
सत्कृत्यामन्त्रयामास तमृषिं सत्यवादिनम् ॥२३॥

अगस्त्य जी के इस प्रकार कहने पर, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण सहित, उन सत्यवादी ऋषि का भली भाँति पूजन कर, उनसे विदा माँगी ॥२३॥

तौ तु तेनाभ्यनुज्ञातौ कृतपादाभिवन्दनौ ।
तदाश्रमात्पञ्चवटीं जग्मतुः सह सीतया ॥२४॥

अगस्त्य जी की अनुमति प्राप्त कर, दोनों राजकुमारों ने ऋषि को प्रणाम किया और सीता को साथ ले, वे उनके आश्रम से पञ्चवटी के लिए रवाना हुए ॥२४॥

गृहीतचापौ तु नराधिपात्मजौ
विषक्ततूणौ[1] समरेष्वकातरौ ॥
यथोपदिष्टेन पथा महर्षिणा
प्रजग्मतुः पञ्चवटीं समाहितौ[2] ॥२५॥

इति त्रयोदश सर्ग ॥

---

१ विषक्ततूणौ—बद्धतूणीरौ । (गो०)

समर में न डरने वाले दोनों राजकुमार, धनुष बाण धारण कर और पीठ पर तरकसों को बाँध, अगस्त्य जी के बतलाए मार्ग से, बड़ी सावधानी के साथ, पञ्चवटी की ओर चले ॥२५॥

अरण्यकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

चतुर्दशः सर्गः

—❀—

अथ पञ्चवटीं गच्छन्नन्तरा रघुनन्दनः।
आससाद महाकायं गृध्रं भीमपराक्रमम् ॥१॥

पञ्चवटी की ओर जाते हुए, श्रीरामचन्द्र जी मार्ग मे एक बड़े भारी शरीर वाले और भयानक पराक्रमी गीध को देखा ॥१॥

तं दृष्ट्वा तौ महाभागौ वटस्थं रामलक्ष्मणौ।
मेनाते[1] राक्षसं पक्षिं ब्रुवाणौ को भवानिति ॥२॥

महाभाग श्रीराम लक्ष्मण ने, अगस्त्य जी के बतलाए हुए वट वृक्ष पर उसे बैठा देख और उसे राक्षस समझ, उससे पूछा कि, तू कौन है? ॥२॥

स तौ मधुरया वाचा सौम्यया[2] प्रीणयन्निव।
उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः ॥३॥

गीध ने बड़े सौजन्य के साथ और मधुर शब्दों मे, श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करते हुए, उत्तर दिया—हे वत्स! मुझे तुम अपने पिता का मित्र जानो ॥३॥

---

१ मेनाते—मत्वा। (गो०) २ सौम्यया—सौजन्यपरया। (गो०)।

स तं पितृसखं बुद्ध्वा पूजयामास राघवः ।
स तस्य कुलमव्यग्रमथ[1] पप्रच्छ नाम च ॥४॥

तब तो श्रीरामचन्द्र जी ने उसे अपने पिता का मित्र जान, उसका आदर सत्कार किया और उससे उसका ठीक ठीक कुल और नाम पूँछा ॥४॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा सर्वभूतसमुद्भवम् ।
आचचक्षे द्विजस्तस्मै कुलमात्मानमेव च ॥५॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन, गीध ने सब जीवों की उत्पत्ति के वर्णन का प्रसङ्ग छेड़, अपना कुल और नाम बतलाया ॥५॥

पूर्वकाले महाबाहो ये प्रजापतयोऽभवन् ।
तान्मे निगदतः सर्वानादितः शृणु राघव ॥६॥

हे महाबाहो ! पूर्वकाल में जो प्रजापति हो चुके हैं, उन सब का मैं आदि से वर्णन करता हूँ । आप सुनिए ॥६॥

कर्दमः प्रथमस्तेषां विकृतस्तदनन्तरः ।
शेषश्च संश्रयश्चैव बहुपुत्रश्च वीर्यवान् ॥७॥
स्थाणुर्मरीचिरत्रिश्च क्रतुश्चैव महाबलः ।
पुलस्त्यश्चाङ्गिराश्चैव प्रचेताः पुलहस्तथा ॥८॥
दक्षो विवस्वानपरोऽरिष्टनेमिश्च राघव ।
कश्यपश्च महातेजास्तेषामासीच्च पश्चिमः ॥९॥

---

१ अव्यग्रं—यथास्यात्तथा । (शि०)

१ कर्दम प्रजापति उन सब में बड़े थे। उनके बाद २ विकृत, ३ शेष, ४ संश्रय, ५ बहुपुत्र, ६ स्थाणु, ७ मरीचि ८ अत्रि, ९ क्रतु १० पुलस्त्य ११ अंगिरा १२ प्रचेता १३ पुलह १४ दक्ष १५ विवस्वान १६ अरिष्टनेमि १७ और सब से पीछे कश्नेप हुए ॥७॥८॥९॥

प्रजापतेस्तु दक्षस्य बभूवुरिति विश्रुतम्।
षष्टिर्दुहितरो राम यशस्विन्यो महायशः ॥१०॥

हे महायशस्वी राम! इनमें से दक्ष प्रजापति के यशस्विनी और लोक मे विख्यात साठ कन्याएँ उत्पन्न हुई ॥१०॥

कश्यपः प्रतिजग्राह तासामष्टौ सुमध्यमाः।
अदितिं च दितिं चैव दनुमप्यथ कालिकाम् ॥११॥

इनमे से आठ अति सुन्दरी कन्याओं का विवाह कश्यप जी ने अपने साथ किआ। उन आठ कन्याओ के नाम ये हैं—१ अदिति २ दिति, ३ दनु, ४ कालिका, ॥११॥

ताम्रां क्रोधवशां चैव मनुं चाप्यनलामपि।
तास्तु कन्यास्ततः प्रीतः कश्यपः पुनरब्रवीत् ॥१२॥

५ ताम्रा ६ क्रोधवशा, ७ मनु और ८ अनला हैं। इन आठों से कश्यप ने पुन कहा ॥१२॥

पुत्रांस्त्रैलोक्यभर्तॄन् वै जनयिष्यथ मत्समान्।
अदितिस्तन्मना राम दितिश्च मनुजर्षभ ॥१३॥

कि, तुम मेरे समान और तीनों लोकों का भरण पोषण करने वाले पुत्र उत्पन्न करो। यह सुन कर, दिति, अदिति, ॥१३॥

कालिका च महाबाहो शेषास्त्वमनसोऽभवन् ।
आदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम ॥१४॥

और कालिका ने तो अंगीकार किआ और शेष ने पति की बात पर ध्यान ही न दिआ । अदिति से ३३ देवता उत्पन्न हुए ॥१४॥

[टिप्पणी—आदि में देवता तेंतीस ही थे। किन्तु मर्त्यलोक के जीव शुभ कर्मों द्वारा स्वर्ग में जब पहुँचने लगे तब उक्त संख्या बढ़ते बढ़ते अब ३३ करोड़ तक पहुँची हुई कही जाती है। इस कालिकाल में स्वर्ग की जनसंख्या तो नहीं किन्तु नरकों की जनसंख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ रही है।]

आदित्या वसवो रुद्रा ह्यश्विनौ च परन्तप ।
दितिस्त्वजनयत्पुत्रान् दैत्यांस्तात यशस्विनः ॥१५॥

अर्थात् १२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र, २ अश्विनी कुमार। हे अरिन्दम ! दिति के गर्भ से यशस्वी दैत्य उत्पन्न हुए ॥१५॥

तेषामियं वसुमती पुरासीत्सवनार्णवा ।
दनुस्त्वजनयत्पुत्रमश्वग्रीवमरिन्दम ॥१६॥

पहले वन और समुद्र सहित यह पृथिवी उन्हीं की थी। हे अरिन्दम ! दनु ने अश्वग्रीव नामक एक पुत्र उत्पन्न किआ ॥१६॥

नरकं कालकं चैव कालिकापि व्यजायत ।
क्रौञ्चीं भासीं तथा श्येनीं धृतराष्ट्रीं तथा शुकीम् ॥१७॥

कालिका ने नरक और कालक दो पुत्र उत्पन्न किए। क्रौंची, भासी, श्येनी, धृतराष्ट्री और शुकी ॥१७॥

ताम्रापि सुषुवे कन्याः पञ्चैता लोकविश्रुताः ।
उलूकाञ्जनयत्क्रौञ्ची भासी भासान् व्यजायत ॥१८॥

ये लोकविख्यात पाँच कन्याएँ, ताम्रा के गर्भ से उत्पन्न हुईं। इनमें से क्रौञ्ची के गर्भ से उलूक और भासी के गर्भ से भासक नाम के पक्षी उत्पन्न हुए ॥१८॥

श्येनी श्येनांश्च गृध्रांश्च व्यजायत सुतेजसः ।
धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः ॥१९॥

श्येनी के गर्भ से अति तेजस्वी श्येन और गीध उत्पन्न हुए और धृतराष्ट्री से सब हंस और कलहंस उत्पन्न हुए ॥१९॥

चक्रवाकांश्च भद्रं ते विजज्ञे साऽपि भामिनी ।
शुकी नतां विजज्ञे तु नताया विनता सुता ॥२०॥

चक्रवाक भी उसीके गर्भ से उत्पन्न हुए। शुकी से नता नाम्नी लड़की उत्पन्न हुई और नता से विनता की उत्पत्ति हुई ॥२०॥

दश क्रोधवशा राम विजज्ञे ह्यात्मसम्भवा ।
मृगीं च मृगमन्दां च हरिं भद्रमदामपि ॥२१॥

हे राम ! क्रोधवशा के दस लड़कियाँ उत्पन्न हुईं, जिनके नाम हैं १ मृगी, २ मृगनन्दा ३ हरी, ४ भद्रमदा ॥२१॥

मातङ्गीमपि शार्दूलीं श्वेतां च सुरभिं तथा ।
सर्वलक्षणसम्पन्नां सुरसां कद्रुकामपि ॥२२॥

५ मातङ्गी, ६ शार्दूली, ७ श्वेत, ८ सुरभि, ९ सर्वलक्षण सम्पन्ना सुरसा और १० कद्रुका ॥२२॥

अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्या नरवरोत्तम ।
ऋक्षाश्च मृगमन्दायाः सृमराश्चमरास्तथा ॥२३॥

हे नरश्रेष्ठ ! मृगी से समस्त मृग उत्पन्न हुए और मृगमन्दा से रीछ, सृमर और चमर (सुरागाय) उत्पन्न हुए ॥२३॥

हर्यांश्च हरयोऽपत्यं वानराश्च तरस्विनः ।
ततस्त्विरावती नाम जज्ञे भद्रमदा सुताम् ॥२४॥

हरी नाम स्त्री से बलवान सिंह और वानर उत्पन्न हुए। तदनन्तर इरावती नाम की कन्या भद्रमदा से उत्पन्न हुई ॥२४॥

तस्यास्त्वैरावतः पुत्रो लोकनाथो महागजः ।
मातङ्गास्त्वथ मातङ्ग्या अपत्यं मनुजर्षभ ॥२५॥

इरावती से ऐरावत नामक महागज, जो एक दिग्गज है, उत्पन्न हुआ। हे नरश्रेष्ठ! मातङ्गी से सब हाथी उत्पन्न हुए ॥२५॥

गोलाङ्गलांश्च शार्दूली व्याघ्रांश्चाजनयत्सुतान् ।
दिशागजांश्च काकुत्स्थ श्वेताऽप्यजनयत्सुतान् ॥२६॥

शार्दूली से गोलाङ्गूल (काले मुख के वानर यानी लगूर) और व्याघ्र उत्पन्न हुए। हे काकुत्स्थ! श्वेता ने दिग्गजों को उत्पन्न किया ॥२६॥

ततो दुहितरौ राम सुरभिर्द्वे व्यजायत ।
रोहिणीं नाम भद्रं ते गन्धर्वीं च यशस्विनीम् ॥२७॥

हे राम! सुरभी की दो यशस्विनी लडकियाँ हुईं। एक का नाम था रोहिणी और दूसरी का गन्धर्वी ॥२७॥

रोहिण्यजनयद्गा वै गन्धर्वी वाजिनः सुतान् ।
सुरसाजनयन्नागान् राम कद्रूस्तु पन्नगान् ॥२८॥

रोहिणी के गर्भ से गौ, बैल और गन्धर्वी से घोड़े उत्पन्न हुए। हे राम! सुरसा ने नागों को उत्पन्न किया और कद्रू ने सर्पों को ॥२८॥

मनुर्मनुष्याञ्जनयद्राम पुत्रान् यशस्विनः ।
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्छूद्रांश्च मनुजर्षभ ॥२९॥

हे राम! मनु नाम की स्त्री से यशस्वी मनुष्य अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए ॥२६॥

सर्वान् पुण्यफला[1]न् वृक्षाननलापि व्यजायत ।
विनता च शुकी पौत्री कद्रूश्च सुरसा स्वसा ॥३०॥

अनला ने अच्छे अच्छे फल वाले वृक्ष उत्पन्न किए। विनता शुकी की नतिनी थी और कद्रू तथा सुरसा ये दोनों बहिने थीं ॥३०॥

कद्रूर्नाग सहस्रास्यं विजज्ञे धरणीधरम् ।
द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु गरुडोऽरुण एव च ॥३१॥

कद्रू ने सहस्त्रों नागों को उत्पन्न किया। ये ही पृथिवी को धारण किए हुए हैं। विनता के दो पुत्र हुए, गरुड़ और अरुण ॥३१॥

तस्मा[2]ज्जातोऽहमरुणात्सम्पातिस्तु ममाग्रजः ।
जटायुरिति मां विद्धि श्येनीपुत्रमरिन्दम ॥३२॥

मैं अरुण का पुत्रहूँ और सम्पाति मेरा बड़ा भाई है। हे अरिन्दम मेरा नाम जटायु है और मुझे तुम श्येनी का पुत्र जानो ॥३२॥

सोऽहं वाससहायस्ते भविष्यामि यदीच्छसि ।
इदं दुर्गं हि कान्तारं मृगराक्षससेवितम् ।
सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे ॥३३॥

हे तात! अगर तुम चाहोगे तो मैं वनवास मे तुम्हारी सहायता करूँगा। क्योंकि यह वन बड़ा दुर्गम है और इसमे अनेक वन्यपशु

---

१ पुण्यफलान्—चारुफलान्। (गो०) २ तस्मात्—अरुणात्। (शि०)

और राक्षस कहते हैं। हे तात! जब तुम और लक्ष्मण आश्रम छोड़, कहीं चले जाओगे, तब मैं सीता की रखवाली किया करूँगा ॥३३॥

जटायुषं तं प्रतिपूज्य राघवो
मुदा परिष्वज्य च सन्नतोऽभवत्।
पितुर्हि शुश्राव सखित्वमात्मवान्
जटायुषा संकथितं पुनः पुनः ॥३४॥

श्रीरामचन्द्र जी ने जटायु का यह वृत्तान्त सुन, आदर और हर्ष सहित उसे अपने हृदय से लगाया और उसे प्रणाम किया। क्योंकि उसने कई बार अपने को श्रीरामचन्द्र जी के पिता का मित्र कह कर परिचय दिया था ॥३४॥

स तत्र सीतां परिदाय[1] मैथिलीं
सहैव तेनातिबलेन पक्षिणा।
जगाम तां पञ्चवटीं सलक्ष्मणो
रिपून् दिधक्षन् शलभानिवानलः ॥३५॥

इति चतुर्दशः सर्गः ॥

फिर लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी, सीता जी की रक्षा के लिए जटायु को अपने साथ ले एवं शत्रुओं को भस्म करने की इच्छा से तथा वन की रक्षा करने के लिए, सुप्रसिद्ध पञ्चवटी को चले ॥३५॥

अरण्यकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

१ परिदाय—रक्षणार्थाय। (गो०)

पञ्चदशः सर्गः

—❀—

ततः पञ्चवटीं गत्वा नानाव्याल[1]मृगायुताम् ।
उवाच भ्रातरं रामः सौमित्रिं दीप्ततेजसम् ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी. उस पञ्चवटी मे, जो नाना प्रकार के वनैले जीव जन्तुओ और दुष्ट सर्पो से भरी थी, पहुँच कर, तेजस्वी लक्ष्मण जी से कहने लगे ॥१॥

आगताः स्म यथोद्दिष्टममुं देशं महर्षिणा।
अयं पञ्चवटीदेशः सौम्य पुष्पितपादपः ॥२॥

हे सौम्य ! हम लोग महर्षि अगस्त्य जी के बतलाए हुए स्थान पर आ पहुँचे । यह पञ्चवटी है, जहाँ पुष्पित वृक्षो से भरा हुआ वन देख पड़ता है ॥२॥

सर्वतश्चार्यतां दृष्टिः कानने निपुणो ह्यसि ।
आश्रमः कतरस्मिन्नो देशे भवति सम्मतः ॥३॥

आश्रम बनाने के लिए उपयुक्त स्थान चुनने मे तुम निपुण हो, अत इस वन मे दृष्टि फैला कर देखो कि, हम लोगो के आश्रम के लिए कौन सी जगह ठीक होगी ॥३॥

रमते यत्र वैदेही त्वमहं चैव लक्ष्मण ।
तादृशो दृश्यतां देशः सन्निकृष्टजलाशयः ॥४॥

हे लक्ष्मण ! स्थान ऐसा होना चाहिए, जहाँ सीता जी, तुम और हम सुखपूर्वक रहैं और जल भी जहाँ से समीप हो ॥४॥

---

१ व्यालाः—दुष्ट सर्पाः । (गो०)

वनरामण्यकं यत्र जलरामण्यकं तथा ।
सन्निकृष्टं च यत्र स्यात्समित्पुष्पकुशोदकम् ॥५॥

जहाँ रमणीक वन हो, जहाँ जल भी अच्छा और बहुत हो, जहाँ समिधा पुष्प और कुश समीप मिल सकें ऐसा कोई स्थान तुम खोजो ॥५॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः संयताञ्जलिः ।
सीतासमक्षं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत् ॥६॥

श्रीरामचन्द्र जी का ऐसा वचन सुन लक्ष्मण जी ने हाथ जोड़ कर, सीता जी के सामने, श्रीरामचन्द्र जी से यह कहा ॥६॥

परवानस्मि[1] काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं[2] स्थिते ।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद ॥७॥

हे राम! मैं तो सदा से तुम्हारे अधीन हूँ। तुम स्वयं कोई रमणीक स्थान चुन कर, वहाँ मुझे आश्रम बनाने की आज्ञा दो ॥७॥

सुप्रीतस्तेन वाक्येन लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
विमृशन् रोचयामास देशं सर्वगुणान्वितम् ॥८॥

लक्ष्मण जी के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए और उन्होंने विचार कर, एक ऐसा स्थान चुना, जहाँ सब प्रकार की सुविधाएँ थीं ॥८॥

स तं रुचिरमाक्रम्य[3] देशमाश्रमकर्मणि[4] ।
हस्तौ गृहीत्वा हस्तेन रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥९॥

---

१ परवानस्मि—ममास्मिता त्वदास्मितावत् भवति पारतन्त्र्यैकवेषाननास्मीतिभावः । (गो०) २ वर्षशत—शतशब्दआनन्त्यवचनः । सार्वकालिकं मम पारतन्त्र्यमितिभावः । (गो०) ३ आक्रम्य—स्वीकारेणाभिमन्य । (गो०) ४ आश्रमकर्मणि—आश्रमनिमित्तं । (गो०)

आश्रम बनाने के लिए उपयुक्त स्थान पसद कर और अपने हाथ से लक्ष्मण जी के दोनों हाथ पकड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥६॥

अयं देशः समः श्रीमान् पुष्पितैस्तरुभिर्वृतः ।
इहाश्रमपदं सौम्य यथावत्कर्तुमर्हसि ॥१०॥

हे सौम्य ! यह स्थान समतल है और परम शोभायुक्त भी भी। क्योंकि देखो, यह पुष्पित वृक्षों से घिरा हुआ है, अत इसी स्थान पर तुम यथायोग्य आश्रम की रचना करो ॥१०॥

इयमादित्यसङ्काशैः पद्मैः सुरभिगन्धिभिः ।
अदूरे दृश्यते रम्या पद्मिनी पद्मशोभिता ॥११॥

देखो, सूर्य के समान उज्ज्वल, मन को प्रसन्न करने वाली, कमल के फूलों की सुगन्धि से युक्त यह पुष्करिणी भी यहाँ से समीप ही है ॥११॥

[टिप्पणी—भगवान् श्रीरामचन्द्र ने कमलों से युक्त पुष्करिणी के समीप का स्थान क्यों पसद किया—इसका कारण है, जो नीचे के श्लोक , स्पष्ट कर दिया गया है ।

"तुलसीकानन यत्र, यत्र पद्मवनानि च ।
वसन्ति वैष्णवा यत्र, तत्र सन्निहतो हरि. ॥"]

यथा ख्यातऽऽमगस्त्येन मुनिना भावितात्मना ।
इयं गोदावरी रम्या पुष्पितैस्तरुभिर्वृता ॥१२॥

विशुद्धात्मा अगस्त्य मुनि ने जैसा बतलाया था, वैसा ही यहाँ गोदावरी का दृश्य है। देखो, रमणीय गोदावरी नदी, फूले हुए वृक्षों से घिरी हुई है ॥१२॥

हंसकारण्डवाकीर्णा चक्रवाकोपशोभिता ।
नातिदूरेन* चासन्ने मृगयूथनिपीडिता: ॥१३॥

हंस, जलकुक्कुट और चक्रवाकों से शोभित है और वह वहाँ के न तो अति निकट और न बहुत दूर ही है। इसके तट पर वन्यपशु जल पीने के लिए आया करते हैं ॥१३॥

मयूरनादिता रम्याः प्रांशवो[1] बहुकन्दराः ।
दृश्यन्ते गिरयः सौम्य फुल्लै[2]स्तरुभिरावृताः ॥१४॥

यहाँ से ऐसे अनेक पर्वत देख पडते हैं, जिन पर मोर बोल रहे हैं, जो बडे रमणीक, ऊँचे, अनेक गुफाओं से सुशोभित और फूले वृक्षों से युक्त हैं ॥१४॥

सौवर्णै राजतैस्ताम्रैर्देशे देशे च धातुभिः ।
गवाक्षिता इवाभान्ति गजाः परमभक्तिभिः[3] ॥१५॥

ये पहाड़ जगह जगह सोने, चाँदी, ताबा आदि धातुओं से सुशोभित हैं। धातुओं के रग की रेखाओं से युक्त हाथी ऐसे जान पडते हैं, मानों मकानों मे खिड़कियाँ लगी हों ॥१५॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च खर्जूरपनसाम्रकैः[4] ।
नीवारैस्तिमिशैश्चैव पुंनागैश्चोपशोभिताः ॥१६॥

ये पहाड़ साल, ताल, तमाल, खजूर, कटहर, निम्नी, निवार, तिमिश और नागवृक्षों से सुशोभित हैं ॥१६॥

---

१ प्रांशव —उन्नता । (गो०) २ फुल्लै विकसितपुष्पै । (गो०) ३ परमभक्तिभि —उत्कृष्टरेखालङ्कारै । (गो०) ४ आम्रकै.—रवालनैः । (गो०)

* पाठान्तरे—"नातिदूरेण"

चूतैरशोकैस्तिलकैश्चम्पकैः केतकैरपि ।
पुष्पगुल्मलतोपेतैस्तैस्तैस्तरुभिरावृता: ॥१७॥

और आम, अशोक, तिलक, चम्पा, केतकी आदि पुष्प, गुल्म और लता आदि से वेष्ठित है ॥१७॥

चन्दनैः स्यन्दनैर्नीपैः पनसैर्लिकुचैरपि ।
धवाश्वकर्णखदिरैः शमीकिंशुकपाटलैः ॥१८॥

ये चन्दन, स्पन्दन, कदंब, वडहर, लुचकुचा, धव, अश्वकर्ण, खैर, शमी, किंशुक और पटल नामक वृक्षों से शोभित है ॥१८॥

इदं[1] पुण्यमिदं मेध्य[2]मिदं बहुमृगद्विजम् ।
इह वत्स्यामि सौमित्रे सार्धमेतेन पक्षिणा ॥१९॥

अतएव हे लक्ष्मण ! यह स्थान दर्शनमात्र से पुण्यप्रद है, पवित्र है और बहुत से मृगों और पक्षियों से परिपूर्ण है । अत. हे लक्ष्मण ! हम लोग जटायु के समीप इसी जगह रहेंगे ॥१९॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः परवीरहा ।
अचिरेणाश्रमं भ्रातुश्चकार सुमहाबलः ॥२०॥

जब श्रीरामचन्द्र ने यह कहा, तब लक्ष्मण जी ने अति शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी के रहने के लिए एक आश्रम बनाया ॥२०॥

पर्णशालां सुविपुलां तत्र संघात[4]मृत्तिकाम् ।
सुस्तम्भां मस्करै[3]र्दीर्घैः कृतवंशां सुशोभनाम् ॥२१॥

---

१ इदंपुण्य—दर्शनमात्रेणपुण्यसम्पादकम् । (शि०) २ मेध्य—पवित्र । (गो०) ३ मस्करै —वेणुभिः । (गो०) ४ सखातमृत्तिकाम्—भित्तीकृतमृत्तिका । (गो०)

उस प्रशस्त पर्णशाला में मट्टी की दीवालें खड़ी कीं और लम्बे बाँसों की थूनियों पर, बाँसों का ठाठ बाँधा ॥२१॥

शमीशाखाभिरास्तीर्य दृढपाशावपाशिताम् ।
कुशकाशशरैः पर्णैः सुपरिच्छादितां तथा ॥२२॥

उस ठाठ पर शमी की डालियाँ बिछा कर, उनको ठाट में कस कर बाँध दिया। फिर उन डालियों के ऊपर कुश, काँस और सरपत बिछा कर, अच्छी तरह छवनई कर दी ॥२२॥

समीकृततलां रम्यां चकार लघुविक्रमः ।
निवासं राघवस्यार्थे प्रेक्षणीयमनुत्तमम् ॥२३॥

फिर लक्ष्मण जी ने उस पर्णशाला के फर्श को समतल समान (ऊँचा नीचापन मिटा) कर, उसे श्रीरामचन्द्र जी के रहने योग्य और देखने में सुन्दर बना कर, तैयार कर दिया ॥२३॥

स गत्वा लक्ष्मणः श्रीमान् नदीं गोदावरीं तदा ।
स्नात्वा पद्मानि चादाय सफलः पुनरागतः ॥२४॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी ने गोदावरी में स्नान किए और कमल पुष्पों तथा फलों को ले, वे पर्णशाला में लौट आए ॥२४॥

ततः पुष्पबलिं कृत्वा शान्तिं च स यथाविधि ।
दर्शयामास रामाय तदाश्रमपदं कृतम् ॥२५॥

लौट कर लक्ष्मण जी ने पुष्पबलि दे तथा यथाविधान वास्तु शान्ति कर, उस (नवीन) बनाए हुए आश्रम को, श्रीरामचन्द्र को दिखलाया ॥२५॥

स तं दृष्ट्वा कृतं सौम्यमाश्रमं सह सीतया।
राघवः पर्णशालायां हर्षमाहारयद्[1]भृशम् ॥२६॥

श्रीरामचन्द्र जी सीता जी के साथ, लक्ष्मण जी की बनाई हुई और देखने में सुन्दर उस कुटी को देख, परम सन्तुष्ट हुए ॥२६॥

सुसंहृष्टः परिष्वज्य बाहुभ्यां लक्ष्मणं तदा।
अतिस्निग्धं[2] च गाढं च वचनं चेदमब्रवीत् ॥२७॥

तब प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण को अच्छी तरह छाती से लगा लिआ और यह बोले ॥२७॥

प्रीतोस्मि ते महत्कर्म त्वया कृतमिदं प्रभो।
प्रदेयो यन्निमित्तं ते परिष्वङ्गो मया कृतः ॥२८॥

हे लक्ष्मण! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। तुमने यह बड़ा भारी काम कर डाला। इसका तुम्हें पुरस्कार भी मिलना चाहिए—सो उस पुरस्कार के बदले, मैंने तुम्हें अपने हृदय से लगा लिआ ॥२८॥

भावज्ञेन[3] कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण।
त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृत्तः[4] पिता मम ॥२९॥

हे लक्ष्मण! तुम जैसे, मन की बात जान लेने वाले, उपकार मानने वाले और धर्मज्ञ पुत्र के विद्यमान होते हुए, मुझे यह जान पड़ता कि मेरे पिता मर गए हैं ॥२९॥

[टिप्पणी—इसका मतलब यह है कि, जिस प्रकार महाराज दशरथ प्रकार से मेरी आवश्यकताओं को पूरी करते थे और सदा इस बात का

१ हर्षमाहारयत्—सन्तोषप्राप्तवान्। (गो०) २ अतिस्निग्धं च गाढं चेतिपरिष्वङ्गक्रियाविशेषणं। (गो०) ३ भावज्ञेन मच्चित्तज्ञेन। (गो०) ४ न संवृत्तो न मृत। (रा०)

ध्यान रखते थे कि, मुझे किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे—उसी प्रकार हे लक्ष्मण ! तुम भी मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति और असुविधाओं को दूर करने का सदा ध्यान रखते हो ।]

एवं लक्ष्मणमुक्त्वा तु राघवो लक्ष्मिवर्धनः ।
तस्मिन् देशे बहुफले न्यवसत्सुसुखं वशी[1] ॥३०॥

शोभा बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण से इस प्रकार कह कर और जितेन्द्रिय हो, उस बहुफलयुक्त स्थान में बड़े सुख से वास करने लगे ॥३०॥

कञ्चित्कालं स धर्मात्मा सीतया लक्ष्मणेन च ।
अन्वास्यमानो न्यवसत्स्वर्गलोके यथाऽमरः ॥३१॥

इति पञ्चदशः सर्गः ॥

इस प्रकार वे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण से सेवित हो, वहाँ कुछ दिनों उसी प्रकार सुख से रहे, जिस प्रकार देवता लोग, स्वर्ग में सुखपूर्वक रहते हैं ॥३१॥

अरण्यकाण्ड का पन्द्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:o:—

षोडशः सर्गः

—:o:—

वसतस्तस्य तु सुखं राघवस्य महात्मनः ।
शरद्व्यपाये हेमन्त ऋतुरिष्टः प्रवर्तते ॥१॥

---

१ वशी—विषयचापलरहित । (गो०)

महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ सुख से वास कर, शरद्ऋतु बिता दी। तदनन्तर सब को प्रिय लगने वाली हेमन्तु ऋतु आरम्भ हुई ॥१॥

स कदाचित्प्रभातायां शर्वर्यां रघुनन्दनः।
प्रययावभिषेकार्थं रम्यां गोदावरीं नदीम् ॥२॥

एक दिन जब रात बीती और प्रात काल हुआ, तब श्रीरामचन्द्र जी रमणीय गोदावरी में स्नान करने गए ॥२॥

प्रह्वः कलशहस्तस्तं सीतया सह वीर्यवान्।
पृष्ठतोऽनुव्रजन् भ्राता सौमित्रिरिदमब्रवीत् ॥३॥

बलवान लक्ष्मण, सीता जी के साथ, हाथ में कलसा लिए हुए, श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे चले और उनसे यह बात बोले ॥३॥

अयं स कालः संप्राप्तः प्रियो यस्ते प्रियंवद।
अलंकृत इवाभाति येन[१] संवत्सरः शुभः ॥४॥

हे प्रियभाषी! तुम्हारा प्यारा हेमन्त ऋतु आ गया है। इस के आगमन से पके हुए अन्नादि से, यह शुभ संवत्सर सा जान पड़ता है ॥४॥

नीहारपरुषो लोकः[२] पृथिवी सस्यशालिनी।
जलान्यनुपभोग्यानि सुभगो हव्यवाहनः ॥५॥

---

१ येनहेमन्तेनशुभोऽय संवत्सरः—सुपकसस्यादि सपत्त्याअलंकृतइवाभाति। २ परुषोलोकः—रुक्षशरीरइति। (शि०)

सर्दी पड़ने से लोगों के शरीर का चमड़ा रूखा हो गया है, खेत अनाज से हरे भरे देख पड़ते हैं, पानी छूने को मन नहीं चाहता और आग तापने को जी चाहता है ॥५॥

नवाग्रयणपूजाभिरभ्यर्च्य पितृदेवताः ।
कृताग्रयणकाः काले सन्तो विगतकल्मषाः ॥६॥

इस समय सज्जनजन नवान्न से देवता और पितरों का पूजन कर, नवशस्य निमित्त यज्ञ करते हुए, निष्पाप हुए हैं ॥६॥

टिप्पणी—खेती आदि करने में अनेक जीवों की हिंसा करने से जो पाप लगता है, वह नवीन अन्न से देव-पितृ पूजन करने पर छूट जाता है। धर्मशास्त्र का वचन है—

नवयज्ञाधिकारस्था श्यामाका व्रीहयो यवा ।
नाश्नीयात्तात हुत्वैव मन्येष्वनियमः स्मृतः ॥

इसी प्रमाण के आधार पर उत्तरभारत में होली जलाने की प्रथा प्रचलित है]

प्राज्यकामा[1] जनपदाः सम्पन्नतरगोरसाः ।
विचरन्ति महीपाला यात्रास्था विजिगीषवः ॥७॥

इस समय सब जनपदों मे सब आवश्यक वस्तुएँ अधिकता से प्राप्त होती हैं। इस समय अन्य ऋतुओं की अपेक्षा गोरस (दूध दही घी) भी अधिक होता है। राजा लोग, जो विजय की इच्छा रखने वाले हैं, वे भी इन्हीं दिनों रण यात्रा करते हैं ॥७॥

सेवमाने दृढं सूर्ये दिशमन्तकसेविताम् ।
विहीनतिलकेव स्त्री नोत्तरा दिक्प्रकाशते ॥८॥

दक्षिणायन सूर्य होने के कारण उत्तर दिशा, तिलकहीन स्त्री की तरह शोभारहित अर्थात् प्रकाशहीन हो गई है ॥८॥

---

१ प्राज्यकामा.—प्राप्तसकलेप्सिता । (शि०)

प्रकृत्या हिमकोशाढ्यो दूरसूर्यश्च साम्प्रतम् ।
यथार्थनामा सुव्यक्तं हिमवान् हिमवान् गिरिः ॥९॥

हिमालय वैसे हो सदा बर्फ से ढका रहता है, किन्तु इन दिनों सूर्य भगवान से उसके बहुत दूर हो जाने के कारण, हिमालय का हिमवान् नाम पूरा पूरा चरितार्थ हो रहा है। अर्थात् हेमन्तऋतु में हिमालय के ऊपर अपार बर्फ जमा हो जाती है ॥९॥

अत्यन्तसुखसञ्चारा मध्याह्ने स्पर्शतः सुखाः ।
दिवसाः सुभगादित्याश्छायासलिलदुर्भगाः ॥१०॥

इस ऋतु मे दोपहर के समय घूमना फिरना अच्छा लगता है, क्योंकि धूप की तेजी से सर्दी न लग कर, धूप सुखदायिनो लगती है। इन दिनों सूर्य सब को सुख देने वाले होते हैं और छाया तथा जल अच्छे नहीं लगते ॥१०॥

मृदुसूर्याः सनीहाराः पटुशीताः[१] समारुताः ।
शून्यारण्या[२] हिमध्वस्ता दिवसा भान्ति साम्प्रतम् ॥११॥

इस ऋतु में सूर्य मे पहले जैसी गर्मी नहीं रहती। कुहरा पडने तथा शीतल पवन चलने से शीत की अधिकना हो जाती है। शीत प्वल हो जाता है। वन मे बसने वाले लोग, खुले .ने में रहने के कारण, शीत से पीड़ित हो, वन में इधर उधर ो घूमते। अत वन सूने से जान पडते हैं ॥११॥

निवृत्ताकाशशयनाः पुष्यनीता हिमारुणाः ।
शीता वृद्धतरा यामास्त्रियामा[३] यान्ति साम्प्रतम् ॥१२॥

---

१ पटुशीताः—प्रबलशीता.। (गो०) २ शून्यारण्य'—अरण्यावनचराः तै शून्याः आवरणरहितत्वेन शीतपीडिता न वहि. सचरन्तीत्यर्थ.। (गो•)। ३ त्रियामाः—रात्रयः। (रा०)।

पुण्य नक्षत्र युक्त इस पुण्य मास में और पाला पड़ती हुई धूसर रंग की रात में, कोई खुले मैदान में नहीं सो सकता। दिन की अपेक्षा रात में सर्दी अधिक पड़ती है और दिन की अपेक्षा रात बड़ी भी होती है ॥१२॥

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारारुणमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥१३॥

जैसे मुँह की भाप से दर्पण धुंधला पड़ जाता है, वैसे ही चन्द्रमा भी, जिसका सम्पूर्ण सौन्दर्य और मनोहरता, सूर्य मण्डल में चली गई है, धुँधला जान पड़ता है ॥१३॥

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते ।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते ॥१४॥

कुहरा के कारण चन्द्रमा की चांदनी अब पूर्णिमा की रात में भी नहीं चटकती (खिलती)। उसका केवल कुछ कुछ धुँधला सा प्रकाश देख पड़ता है। जैसे धूप के मारे श्याम वर्ण हुई सीता जी केवल पहिचानी तो जाती हैं, किन्तु शोभित नहीं होतीं ॥१४॥

प्रकृत्या शीतलस्पर्शो हिमविद्धश्च साम्प्रतम् ।
प्रवाति पश्चिमो वायुः काले द्विगुणशीतलः ॥१५॥

देखो, इस ऋतु में पश्चिम का वायु जो स्वभाव से ठंडा है, कुहरा के कारण, दुगुना ठंडा हो कर, चल रहा है ॥१५॥

वाष्पच्छन्नान्यरण्यानि यवगोधूमवन्ति च ।
शोभन्तेऽभ्युदिते सूर्ये नदद्भिः क्रौञ्चसारसैः ॥१६॥

ये जौ और गेहूँ के खेतों से भरे हुए और कुहरे से छाए हुए वन, सूर्योदय के समय बोलते हुए क्रौंच एवं सारस पक्षियों कैसे शोभा युक्त जान पड़ते हैं ॥१६॥

खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः ।
शोभन्ते किञ्चिदानम्राः शालयः कनकप्रभाः ॥१७॥

ये सुनहले शालि समूह, खजूर के फूल की तरह, धानो की बालों के बोझ से, कुछ झुके हुए, कैसे सुशोभित हो रहे हैं ॥१७॥

मयूखैरुपसर्पद्भिर्हिमनीहारसंवृतैः ।
दूरमभ्युदितः सूर्यः शशाङ्क इव लक्ष्यते ॥१८॥

यह सूर्य कितना ऊँचा चढ़ आया है, तो भी, पाले के मारे किरणों का प्रकाश न होने के कारण, चन्द्रमा की तरह देख पडता है ॥१८॥

अग्राह्यवीर्यः पूर्वाह्णे मध्याह्ने स्पर्शतः सुखः ।
सरक्तः किञ्चिदापाण्डुरातपः शोभते क्षितौ ॥१९॥

सवेरे तो सूर्य की धूप मे तेजी जान ही नही पड़ती, परन्तु दोपहर को धूप तेज होने पर भी अच्छी लगती है। इस समय सूर्य का प्रकाश कुछ पीला सा हो, पृथिवी को शोभित कर रहा है ॥१९॥

अवश्याय[१]निपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला[२] ।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा ॥२०॥

ओस की बूदों के गिरने से हरी हरी घास तर हो गई है, इस [घा]स पर जब प्रात कालीन सूर्य की किरण पडती है, तब वन की [भू]मि की शोभा देखते ही बन आती है ॥२०॥

स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥२१॥

---

१ अवश्यायः—हिम, हिमबिन्दु । (गो०) २ शाद्वल.—शष्पप्रचुरा-भूमिः । (रा०)

देखो, यह जंगली हाथी, जो बहुत प्यासा है, इस अत्यन्त शीतल जल को (पीना तो एक ओर रहा) स्पर्श करते ही, अपनी सूँड सकोड़ लेता है ॥२१॥

एते हि समुपासीना विहगा जलचारिणः ।
न विगाहन्ति सलिलमप्रगल्भा इवाहवम्[1] ॥२२॥

ये जल में विहार करने वाले पक्षी, जल में डुबकी नहीं मारते, केवल चुपचाप तट पर बैठे हैं जैसे कायर योद्धा, संग्राम से डर कर, चुपचाप बैठ रहते हैं ॥२२॥

अवश्याय[2]तमोनद्धा[3] नीहारतमसावृताः ।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः ॥२३॥

पुष्पशून्य वनश्रेणी, कुहरा के अन्धकार से ढक जाने पर, ऐसी जान पड़ती हैं, मानों सो रही हों ॥२३॥

वाष्पसञ्छन्नसलिला रुत[4]विज्ञेयसारसाः ।
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम् ॥२४॥

इस समय नदियाँ, जो कुहरे से ढकी हैं और जिनकी बालू कोहरे से तर है, केवल तटों से जान पड़ती हैं. (इसी प्रकार) सारस भी इस समय (कोहरे के अंधकार के कारण) केवल बोली से पहचाने जाते हैं ॥२४॥

तुषारपतनाच्चैव मृदुत्वाद्भास्करस्य च ।
शैत्यादगाग्रस्थमपि[5] प्रायेण रसव[6]ज्जलम् ॥२५॥

निर्मल शिलातल का जल भी तुषार के गिरने और सूर्य की

---

१ आहव—युद्ध। (गो०) २ अवश्याय—हिममलिन। (गो०) ३ नद्धा—बद्धा.। (गो०) ४ रुत—शब्द। (गो०) ५ अगाग्र स्थमपि—निर्मलशिलातलस्थमपि। (गो०) ६ रसवत्—विषवत्। (गो०)

उष्णता मद पड़ जाने के कारण, विष की तरह अनुपादेय हो रहा है ॥२५॥

जराजर्झरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः ।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भान्ति कमलाकराः ॥२६॥

कमलों के पत्ते जीर्ण होकर, झड गए, कमल के फूलों की कर्णिका और केसर भी गिर गई हैं, मारे पाले के उनमे, केवल डंडी मात्र रह गई हैं। इसी से कमल के तड़ाग अब शोभाहीन हो रहे हैं ॥२६॥

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रः काले दुःखसमन्वितः ।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे ॥२७॥

हे पुरुषसिंह ! इस समय धर्मात्मा भरत जी आपके वियोग-जनित दुःख से दुःखी हो, अयोध्या जी मे, तुम्हारी भक्ति के वशवर्त्ती हो, तपस्या करते होंगे ॥२७॥

त्यक्त्वा राज्यं[1] च मानं[2] च भोगांश्च[3] विविधान् बहून् ।
तपस्वी[4] नियताहारः[5] शेते शीते[6] महीतले ॥२८॥

प्रभुत्व को और राजपुत्र होने के अभिमान को तथा फूलों के हार, चन्दन तथा वनितादि राजाओं के भोगने योग्य तरह तरह के नेक भोगों को त्याग और जटा वल्कल धारण कर तथा फल खाकर, भरतजी इस शीतकाल मे जमीन पर सोते होंगे ॥२८॥

सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः ।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम् ॥२९॥

---

१ राज्य—प्रभुत्व । (गो०) २ मान—राजपुत्राहमित्यभिमान । (गो०) ३ भोगान्—स्रकचन्दनवनितादीन् । (गो०) ४ तपस्वी—तपस्विचिह्नजटादिमान् । (गो०) ५ नियताहार.—फलमूलाद्यशनः । (गो०) ६ शीत—इत्यनेनावरणराहित्यमुच्यते । (गो०)

वे भी निश्चय ही इस समय अपने मंत्रियों के साथ सरयू नदी में स्नान करने को जाते होंगे ॥२९॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः* ।
कथं त्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते ॥३०॥

जो भरत अत्यन्त सुख से पाले पोसे गए हैं और स्वभाव ही से सुकुमार हैं, वे भरत, किस प्रकार पाला पड़ने के समय पिछली रात में सरयू में स्नान करते होंगे ॥३०॥

पद्मपत्रेक्षणो वीरः श्यामो निरुदरो[1] महान् ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च ह्रीनिषेधो[2] जितेन्द्रियः ॥३१॥
प्रियाभिलापी मधुरो दीर्घबाहुररिन्दमः ।
सन्त्यज्य विविधान्भोगानार्यं सर्वात्मना श्रितः ॥३२॥

जो भरत कमलनेत्र श्यामवर्ण सूक्ष्मोदर (थोंदधृतीले नहीं अर्थात् बड़े पेट वाले नहीं) प्रशंसनीय धर्मज्ञ, सत्यवादी परस्त्री-विमुख, जितेन्द्रिय प्रियभाषी मनोहर, लम्बी भुजाओं वाले और शत्रुओं को दमन करने वाले हैं, वे समस्त राजसुखोचित भोगों को त्याग कर, हे राम! सब प्रकार से आप ही के आश्रित हैं ॥३१॥३२॥

जितः[3] स्वर्ग[4]स्तव भ्रात्रा भरतेन महात्मना ।
वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते ॥३३॥

यद्यपि तुम्हारे भाई महात्मा भरत तपस्वी के भेष से वनवासी नहीं हुए, तथापि उन्होंने तुम्हारे अनुरूप तपस्वी का भेष

[1] निरुदरो—अतुन्दिल । (गो०) ह्रीनिषेधो —[illegible] । (गो०) [3] जित —तिरस्कृत । (गो०) [4] स्वर्ग —[illegible] स्वर्ग । (गो०)

*पाठान्तरे—"सुखोचित"

धारण कर और तपस्वियों के नियमों का पालन कर, स्वर्ग को जीत लिआ है, अर्थात् तुम्हारे वियोग में स्वर्ग का भी तिरस्कार कर दिआ है। इसका भाव यह है कि, तुम्हारे बिना उन्होंने राज्य के स्वर्गीय भोगों को तिलाञ्जलि दे दी है ॥३३॥

न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा[1] इति ।
ख्यातो लोकप्रवादोऽयं भरतेनान्यथा कृतः ॥३४॥

संसार में जो यह कहावत प्रचलित है कि, मनुष्य में पिता का स्वभाव नहीं आता, वरन् माता ही का स्वभाव आता है, सो भरत जी ने इस कहावत को झूठा करके दिखा दिआ। (कहावत—"माँ पै पूत, पिता पै घोड़ा, बहुत नहीं तो थोड़ा थोड़ा।") ॥३४॥

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः ।
कथं नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी* ॥३५॥

परन्तु जिसके पति तो महाराज दशरथ हों और पुत्र साधु भरत जैसा हो, वह माता कैकेयी क्यों कर ऐसी क्रूर स्वभाव की हुई? ॥३५॥

इत्येवं लक्ष्मणे वाक्यं स्नेहाद्ब्रुवति धार्मिके ।
परिवाद जनन्यास्तमसहन्राघवोऽब्रवीत् ॥३६॥

महात्मा लक्ष्मण जी ने, भ्रातृस्नेह के वशवर्ती हो, जब ऐसे वचन कहे, तब श्रीरामचन्द्र जी, माता कैकेयी की निन्दा न सह कर, बोले ॥३६॥

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कथञ्चन ।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु ॥३७॥

---

१ द्विपदा—मनुष्याः। (गो०)

* पाठान्तरे—"क्रूरशीलिनी।

हे भाई लक्ष्मण! तुम मझली माता कैकेयी की निन्दा मत करो। तुम तो केवल इक्ष्वाकुनाथ भरत की चर्चा करो ॥३७॥

निश्चिताऽपि हि मे बुद्धिर्वनवासे दृढव्रता।
भरतस्नेहसन्तप्ता बालिशी[1] क्रियते पुनः ॥३८॥

यद्यपि मैं १४ वर्षों तक वनवास करने का अब तक दृढ निश्चय किए हुए हूँ और उसके लिए दृढ़व्रत हूँ, तथापि भरत के स्नेह का जब मुझे स्मरण आता है, तब मैं विकल हो जाता हूँ और मेरी बुद्धि बालकों जैसी हो जाती है ॥३८॥

संस्मराम्यस्य वाक्यानि प्रियाणि मधुराणि च।
हृद्यान्यमृतकल्पानि मनःप्रह्लादनानि च ॥३९॥

भरत जी की प्रिय, मधुर, हृदय को अमृत की तरह तृप्त करने वाली और मन को प्रसन्न करने वाली बातें, मुझे याद आ रही हैं ॥३९॥

कदा न्वहं समेष्यामि भरतेन महात्मना।
शत्रुघ्नेन च वीरेण त्वया च रघुनन्दन ॥४०॥

नहीं कह सकता मैं कब महात्मा भरत जी और वीर शत्रुघ्न से तुम्हारे सहित फिर मिलूँगा ॥४०॥

इत्येवं विलपंस्तत्र प्राप्य गोदावरीं नदीम्।
चक्रेऽभिषेकं काकुत्स्थः सानुजः सह सीतया ॥४१॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी विलाप करते करते लक्ष्मण और सीता सहित गोदावरी नदी पर पहुँच गए और तीनों ने गोदावरी में स्नान किया ॥४१॥

[1] बालिशा—मन्दबुद्धिरविनयानि। (गो०)

तर्पयित्वाथ सलिलैस्ते पितॄन् दैवतानि च ।
स्तुवन्ति[१] स्मोदितं सूर्यं देवताश्च[२] समाहिताः ॥४२॥

तदनन्तर उन्होंने गोदावरी के जल से देवपितरों का तर्पण कर उदय होते हुए सूर्य का उपस्थान कर, सन्ध्यादि देवता की अर्थात् सूर्यमण्डल-मध्यवर्ती-नारायण की एकाग्रचित्त से स्तुति की ॥४२॥

[टिप्पणी—इस श्लोक में—" तर्पयित्वाथ सलिलैस्ते पितॄन् देवतानि च" देखकर अवगत होता है कि रामायणकाल में भी जल द्वारा देव ऋषि और पितृदेवों का तर्पण करने की प्रथा प्रचलित थी ।]

कृताभिषेकः स रराज रामः
सीताद्वितीयः सह लक्ष्मणेन ।
कृताभिषेको गिरिराजपुत्र्या
रुद्रः सनन्दी भगवानिवेशः ॥४३॥

॥ इति षोडशः सर्गः ॥

उस समय स्नान कर के श्रीरामचन्द्र जी, सीता और लक्ष्मण सहित उसी प्रकार शोभा को प्राप्त हुए या सुशोभित हुए, जिस प्रकार पार्वती और नन्दी सहित भगवान् शिव जी शोभा को प्राप्त होते हैं ॥४३॥

अरण्यकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

१ स्तुवन्ति—उपतस्थिरे । (गो०) २ देवता.—सन्ध्यादि देवता । (गो०)

सप्तदशः सर्गः

—*—

कृताभिषेको रामस्तु सीता सौमित्रिरेव च ।
तस्माद्गोदावरीतीरात्ततो जग्मुः स्वमाश्रमम् ॥१॥

श्रीरामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण स्नान कर, गोदावरी के तट से अपने आश्रम को लौटे ॥१॥

आश्रमं तमुपागम्य राघवः सहलक्ष्मणः ।
कृत्वा पौर्वाह्णिकं[1] कर्म पर्णशालामुपागमत् ॥२॥

श्रीरामचन्द्र जी ने आश्रम में पहुँच कर लक्ष्मण जी सहित पूर्वाह्णिक—ब्रह्मयज्ञादि कर्म कर पर्णशाला में प्रवेश किया ॥२॥

उवास सुखितस्तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चकार विविधाः कथाः ॥३॥

वहाँ श्रीरामचन्द्र जी महर्षियों द्वारा पूजित हो कर, सुख से रहने लगे और लक्ष्मण से अनेक प्रकार की पुराण एवं इतिहासों की कथाएँ कहने लगे ॥३॥

स रामः पर्णशालायामासीनः सह सीतया ।
विरराज महाबाहुश्चित्रया चन्द्रमा इव ॥४॥

उस पर्णशाला में सीता जी के साथ बैठे हुए महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी वैसे ही शोभित होते थे, जैसे चित्रा नक्षत्र के सहित चन्द्रमा शोभित होता है ॥४॥

---

[1] पौर्वाह्णिकं—ब्रह्मयज्ञादि नत्वग्निहोत्रम् अनुदितहोमपक्षेण तस्य होमस्य स्नानानन्तरभावित्वाभावात् । (गो०)

तथाऽऽसीनस्य रामस्य कथासंसक्तचेतसः ।
तं देशं राक्षसी काचिदाजगाम यदृच्छया ॥५॥

श्रीरामचन्द्र जी तो बैठे हुए बातचीत कर रहे थे कि, इतने में एक राक्षसी अकस्मात् वहाँ जा पहुँची ॥५॥

सा तु शूर्पनखा नाम दशग्रीवस्य रक्षसः ।
भगिनी राममासाद्य ददर्श त्रिदशोपमम् ॥६॥
सिंहोरस्कं महाबाहुं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ।
आजानुबाहुं दीप्तास्यमतीव प्रियदर्शनम् ॥७॥
गजविक्रान्तगमनं जटामण्डलधारिणम् ।
सुकुमारं महासत्त्वं[1] पार्थिवव्यञ्जनान्वितम्[2] ॥८॥
राममिन्दीवरश्यामं कन्दर्पसदृशप्रभम् ।
बभूवेन्द्रोपमं दृष्ट्वा राक्षसी काममोहिता ॥९॥

उस राक्षसी का नाम शूर्पनखा था और वह रावण की बहिन थी। देवताओं के समान, सिंह जैसी छाती वाले, महाबाहु, कमल पत्र के समान विशाल नेत्र वाले, घुटनों तक लंबी भुजाओं वाले, तेजस्वी, देखने में अतीव सुन्दर, मदमत्त गज की तरह चलने वाले, जटामण्डलधारी, सुकुमार, महाबलवान, राजलक्षणों से युक्त, नील कमल के तुल्य श्याम वर्णवाले और कामदेव के समान सुन्दर, श्रीरामचन्द्र जी को इन्द्र की तरह बैठा हुआ देख, वह राक्षसी काम से मोहित हो गई अर्थात् उन पर आसक्त हो गई ॥६॥७॥८॥९॥

---

१ महासत्त्वं—महाबल । (गो०) २ पार्थिवव्यञ्जनान्वितम्—राजलक्षणानि । (गो०)

सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं[1] महोदरी ।
विशालाक्षं विरूपाक्षी[2] सुकेशं[3] ताम्रमूर्धजा ॥१०॥

श्रीरामचन्द्र जी का मुख सुन्दर था और उस राक्षसी का बुरा। श्रीरामचन्द्र जी के शरीर का मध्यभाग न बहुत बड़ा था न छोटा था और उस राक्षसी के शरीर का मध्य भाग बहुत बड़ा था अर्थात् वह बड़े पेट वाली थी। श्रीरामचन्द्र जी के नेत्र बड़े बड़े थे और उस राक्षसी के नेत्र विकट थे। श्रीरामचन्द्र जी के सिर के केश नीले थे और उस राक्षसी के लाल लाल थे ॥१०॥

प्रीतिरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वरा ।
तरुणं दारुणा वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी ॥११॥

श्रीरामचन्द्र जी देखने में सुन्दर थे और वह राक्षसी देखने में महाकुरूपा थी। श्रीरामचन्द्र जी का कण्ठस्वर मधुर था, उस राक्षसी का नितान्त कर्कश। श्रीरामचन्द्र जी जवान थे और वह राक्षसी महावृद्धा थी। श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त मधुरभाषी थे और वह राक्षसी सदा टेढ़ी ही बातें बोला करती थी ॥११॥

न्यायवृत्तं[4] सुदुर्वृत्ता प्रियमप्रियदर्शना ।
शरीरजसमाविष्टा[5] राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥१२॥

श्रीरामचन्द्र जी का आचरण उचित था और उस राक्षसी का अत्यन्त गर्हित। श्रीरामचन्द्र जी देखने में जितने प्रिय थे वह राक्षसी उतनी ही भयङ्कर थी। ऐसी वह राक्षसी कामातुर हो, श्रीरामचन्द्र जी से बोली ॥१२॥

१ वृत्तमध्य—अनुमध्य (गो०) २ विरूपाक्षी—विकटनेत्री (गो०) ३ सुकेश—नीलकेश। (गो०) ४ न्यायवृत्त—उचिताचार। (गो०)। ५ शरीरजो—मन्मथ। (गो०)

जटी तापसरूपेण सभार्यः शरचापधृत्।
आगतस्त्वमिमं देशं कथं राक्षससेवितम् ॥१३॥

जटा धारण किए, तपस्वी का भेष बनाए और तीर कमान लिये, स्त्री सहित तुम इस राक्षसों से सेवित वन में, क्यों आए हो ? ॥१३॥

किमागमनकृत्यं ते तत्त्वमाख्यातुमर्हसि।
एवमुक्तस्तु राक्षस्या शूर्पणख्या परन्तपः ॥१४॥
ऋजुबुद्धितया[1] सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे।
अनृतं न हि रामस्य कदाचिदपि सम्मतम् ॥१५॥

तुम्हारे यहाँ आने का क्या प्रयोजन है, ठीक ठीक बतलाओ। शत्रुओं के तपाने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने शूर्पनखा के ये वचन सुन, सरलता से अपना समस्त वृत्तान्त कहना आरम्भ किया। क्योंकि श्रीरामचन्द्र झूठ बोलना कभी, पसन्द नहीं करते ॥१४॥१५॥

विशेषेणाश्रमस्थस्य[2] समीपे स्त्रीजनस्य च।
आसीद्दशरथो नाम राजा त्रिदशविक्रमः ॥१६॥

सो भी विशेष कर तपोवन में बैठ कर और स्त्रियों के सामने। ...त. श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—देवतुल्य पराक्रमी महाराज दशरथ ...ाम के महाराज थे ॥१६॥

तस्याहमग्रजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः।
भ्राताऽयं लक्ष्मणो नाम यवीयान् मामनुव्रतः ॥१७॥

उन्हींका मैं ज्येष्ठपुत्र हूँ। संसार में मैं राम के नाम से प्रसिद्ध हूँ। यह मेरा आज्ञाकारी छोटा भाई है। इसका नाम लक्ष्मण है ॥१७॥

---

१ ऋजुबुद्धितया—सरलस्वभावेन। (शि०) २ आश्रमस्थस्य—तपोवनस्थस्य (गो०)

इय भार्या च वैदेही मम सीतेति विश्रुता।
नियोगात्तु[2] नरेन्द्रस्य पितुर्मातुश्च यन्त्रितः[1] ॥१८॥

और यह विदेहनन्दिनी मेरी भार्या है और इसका नाम सीता है। अपने पिता महाराज दशरथ और माता की आज्ञा से प्रेरित हो ॥१८॥

धर्मार्थं[3] धर्मकाङ्क्षी[4] च वनं वस्तुमिहागतः।
त्वां तु वेदितुमिच्छामि कथ्यतां काऽसि कस्य वा ॥१९॥

तपोरूपी धर्म की सिद्धि के लिए और पिता की आज्ञा का पालन करने की आकाँक्षा से, मैं इस वन में आया हूँ। अब मैं तुम्हारा परिचय भी जानना चाहता हूँ। सो तुम बतलाओ कि तुम कौन हो और किसकी स्त्री हो और किसकी लड़की हो? ॥१९॥

न हि तावन् मनोज्ञाङ्गी राक्षसी प्रतिभासि मे।
इह वा किंनिमित्तं त्वमागता ब्रूहि तत्त्वतः ॥२०॥

तुम जैसी बनठन कर आई हो, सो वास्तव में तुम वैसी हो तो नहीं। तुम तो मुझे कोई राक्षसी जान पड़ती हो अब तुम ठीक ठीक बतलाओ कि, तुम यहाँ किस लिए आई हो? ॥२०॥

साऽब्रवीद्वचनं श्रुत्वा राक्षसी मदनार्दिता।
श्रूयतां राम वक्ष्यामि तत्त्वार्थं वचनं मम ॥२१॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, वह कामातुर राक्षसी बोली—हे राम! मेरे वचन सुनिए मैं अब अपना परिचय तुम्हें ठीक ठीक देती हूँ ॥२१॥

---

१ यन्त्रितः—नियतः। (गो०) २ नियोगात्—आज्ञाबलात्। (गो०) ३ धर्मार्थं—तपोरूपधर्मसिद्ध्यर्थं। (गो०) ४ धर्मकाङ्क्षी—पितृवचनपालनरूपधर्मकाङ्क्षी। (गो०)

अहं शूर्पनखा नाम राक्षसी कामरूपिणी ।
अरण्यं विचरामीदमेका सर्वभयङ्करा ॥२२॥

मैं शूर्पनखा नाम की कामरूपिणी राक्षसी हूँ । मैं सब को डराती हुई अकेली इस वन में घूमा करती हूँ ॥२२॥

रावणो नाम मे भ्राता बलीयान् राक्षसेश्वरः ।
वीरो विश्रवसः पुत्रो यदि ते श्रोत्रमागतः ॥२३॥

बड़ा बलवान्, शूर और विश्रवामुनि का पुत्र तथा राक्षसों का राजा, जिसका नाम कदाचित् तुमने सुना हो, रावण मेरा भाई है ॥२३॥

प्रवृद्धनिद्रश्च सदा कुम्भकर्णो महाबलः ।
विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षसचेष्टितः ॥२४॥

मेरे मझले भाई का नाम कुम्भकर्ण है जो सदा सोया करता है, किन्तु है बड़ा बलवान् । मेरे सब से छोटे भाई का नाम विभीषण है । वह बड़ा धर्मात्मा है, इसीसे वह जन्म से राक्षस होने पर भी, उसके आचरण राक्षसों जैसे नहीं है ॥२४॥

प्रख्यातवीर्यौ च रणे भ्रातरौ खरदूषणौ ।
तानहं समतिक्रान्ता राम त्वा पूर्वदर्शनात् ॥२५॥
समुपेतास्मि भावेन भर्तारं पुरुषोत्तमम् ।
अहं प्रभावसम्पन्ना स्वच्छन्दबलगामिनी ॥२६॥

खर और दूषण नाम के मेरे दो भाई और हैं, जो युद्ध करने में बड़े प्रसिद्ध पराक्रमी हैं । हे राम ! तुमको पहिली बार देखते ही, (तुम पर आसक्त हो), मैं उन सब की कुछ भी परवाह न कर, तुम जैसे उत्तम पुरुष को अपना पति बनाने को यहाँ आई हूँ ।

मैं बड़ी प्रभावशालिनी और बलवती हूँ। इसीलिए मैं स्वच्छन्द घूमती रहती हूँ। अर्थात् जहाँ चाहती हूँ वहाँ जाती हूँ ॥२५॥२६॥

चिराय भव मे भर्ता सीतया किं करिष्यसि ।
विकृता च विरूपा च न चेयं सदृशी तव ॥२७॥

सो तुम चिरकाल के लिए मेरे पति बनो। तुम सीता को ले कर क्या करोगे? यह तो विकराल और कुरूपा है। अतः यह तुम्हारे योग्य नहीं है ॥२७॥

[टिप्पणी—"भव मे भर्ता" से जान पड़ता है कि, तत्कालीन राक्षससमाज में विधवाएँ पुनर्विवाह कर सकती थीं।]

अहमेवानुरूपा ते भार्यारूपेण पश्य माम् ।
इमां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ॥२८॥
अनेन ते सह भ्रात्रा भक्षयिष्यामि मानुषीम् ।
ततः पर्वतशृङ्गाणि वनानि विविधानि च ॥
पश्यन् सह मया कान्त दण्डकान् विचरिष्यसि ॥२९॥

सौन्दर्य की दृष्टि से मैं तुम्हारी भार्या बनने योग्य हूँ। अतः तुम मुझे अपनी स्त्री की तरह देखो। इस कुरूपा, कुलटा, विकटाकार और थलथल थोंद वाली, मानुषी सीता को, तुम्हारे इस भाई के सहित, मैं खा डालूँगी। तब तुम मेरे साथ पर्वत के इन शिखरों पर और इन विविध वनों को देखते हुए, इस दण्डकवन में विचरना ॥२८॥२९॥

इत्येवमुक्तः काकुत्स्थः प्रहस्य मदिरेक्षणाम् ।
इदं वचनमारेभे वक्तुं वाक्यविशारदः ॥३०॥

॥ इति सप्तदशः सर्गः ॥

सौन्दर्य के योग्य ही तुम्हारा भार्या बनूँगी तब तुम मेरे साथ सुख पूर्वक इस समूचे दण्डकवन में विचरना ॥७॥

एवमुक्तस्तु सौमित्री राक्षस्या वाक्यकोविदः ।
ततः शूर्पनखां स्मित्वा लक्ष्मणो युक्तमब्रवीत् ॥८॥

शूर्पनखा की यह बात सुन, वाक्पटु लक्ष्मण जी मुसक्या कर उससे यह युक्तियुक्त वचन बोले ॥८॥

कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि ।
सोऽहमार्येण परवान् भ्रात्रा कमलवर्णिनि ॥९॥

हे कमलवर्णिनि ! (कमल समान रंग के शरीरवाली) तू मुझ जैसे परदास की स्त्री बन कर, क्यों दासी बनना चाहती है ? क्योंकि मैं तो अपने उन बड़े भाई का आश्रित परवश हूँ ॥९॥

समृद्धार्थस्य सिद्धार्थामुदितामलवर्णिनी ।
आर्यस्य त्वं विशालाक्षि भार्या भव यवीयसी ॥१०॥

हे विशालनेत्रवाली ! तू तो सर्व ऐश्वर्य-सम्पन्न मेरे बड़े भाई की यदि छोटी या दूसरी स्त्री बनेगी, तो तेरी सभी मनोकामनाएँ पूरी होंगी और तू बहुत प्रसन्न होगी ॥१०॥

एनां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ।
भार्यां वृद्धां परित्यज्य त्वामेवैष भजिष्यति ॥११॥

फिर जब तू इनसे विवाह कर लेगी, तब ये इस कुरूपा, कुलटा, कराली, बड़े पेट वाली और बूढ़ी स्त्री को छोड़, तेरे ही अनुरागी बन जायँगे ॥११॥

को हि रूपमिदं श्रेष्ठं सन्त्यज्य वरवर्णिनि ।
मानुषीषु वरारोहे कुर्याद्भावं विचक्षणः ॥१२॥

हे वरवर्णिनी ! हे वरारोहे ! भला कौन ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य होगा, जो तेरे इस सर्वश्रेष्ठ रूप का अनादर कर, मानुषी में अनुराग करेगा ॥१२॥

इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी ।
मन्यते तद्वचस्तथ्यं परिहासाविचक्षणा* ॥१३॥

जब लक्ष्मण जी ने उससे इस प्रकार कहा तब वह बड़े पेटवाली और भयङ्कर राक्षसी लक्ष्मण द्वारा किए उपहास के मर्म को न समझ उनकी बातों को सत्य ही मान बैठी ॥१३॥

सा रामं पर्णशालायामुपविष्टं परन्तपम् ।
सीतया सह दुर्धर्षमब्रवीत्काममोहिता ॥१४॥

वह कामपीड़ित तो थी ही सो वह पर्णकुटी में सीता जी के साथ बैठे हुए शत्रुओं को तपाने वाले दुर्द्धर्ष श्रीरामचन्द्र जी के पास जा कर कहने लगी ॥१४॥

एनां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ।
वृद्धां भार्यामवष्टभ्य मां न त्वं बहुमन्यसे ॥१५॥

हे राम ! इस कुरूप कुलटा भयङ्कर मोटपेट वाली बूढ़ी के सामने तुम (मेरी जैसी सुन्दरी का) कुछ भी ख्याल नहीं करते ॥१५॥

अद्येमां भक्षयिष्यामि पश्यतस्तव मानुषीम् ।
त्वया सह चरिष्यामि निःसपत्ना यथासुखम् ॥१६॥

देखो मैं अभी तुम्हारे सामने इस मानुषी को खाए डालती हूँ और फिर सौत का खटका दूर कर मैं तुम्हारे साथ इस वन में आनन्दपूर्वक विहार करूँगी ॥१६॥

* परिहासविचक्षणा — परिहासानभिज्ञा [illegible])

इत्युक्त्वा मृगशावाक्षीमलातसदृशेक्षणा ।
अभ्यधावत्सुसंक्रुद्धा महोल्का रोहिणीमिव ॥१७॥

यह कह कर, दहकते हुए अङ्गार के समान नेत्रों वाली शूर्पनखा, महाक्रुद्ध हो, हिरनी के बच्चे जैसे नेत्रों वाली सीता जी पर वैसे ही झपटी, जैसे रोहिणी की ओर उल्कापिण्ड वेग से झपटता हो ॥१७॥

तां मृत्युपाशप्रतिमामापतन्तीं महाबलः ।
निगृह्य[1] रामः कुपितस्ततो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥१८॥

यम की फाँसी के समान राक्षसी को आते देख श्री रामचन्द्रजी ने क्रोध में भर, हुङ्कार से उसे रोका और लक्ष्मण जी से कहा ॥१८॥

क्रूरैरनार्यैः सौमित्रे परिहासः कथञ्चन ।
न कार्यः पश्य वैदेहीं कथञ्चित्सौम्य जीवतीम्[2] ॥१९॥

हे लक्ष्मण ! ऐसे असभ्य और क्रूर जनों से हँसी दिल्लगी न करनी चाहिए । हे सौम्य ! शूर्पनखा की यह क्रूरता देख, सीता कैसे स्वस्थ रह सकती है ? ॥१९॥

इमां विरूपामसतीमतिमत्तां महोदरीम् ।
राक्षसीं पुरुषव्याघ्र विरूपयितुमर्हसि ॥२०॥

हे पुरुषव्याघ्र ! तुम इस कुरूपा, कुलटा, अत्यन्त मतवाली, और बड़े पेटवाली राक्षसी को और भी कुरूप कर दो ॥२०॥

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्याः क्रुद्धो रामस्य पश्यतः* ।
उद्धृत्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासं महाबलः ॥२१॥

---

१ निगृह्य हुंकारेण प्रतिषिध्य । (गो०) २ कथञ्चिज्जीवतीं शूर्पणखाया । क्रौर्यमालोक्यकथञ्चित्स्वास्थ्यमापन्ना । (गो०)

* पाठान्तरे—"पार्श्वतः" ।

महाबलवान् लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन, क्रुद्ध हो और तलवार निकाल कर, श्रीरामचन्द्र जी के सामने ही, उस राक्षसी के नाक कान काट डाले ॥२१॥

निकृत्तकर्णनासा तु विस्वरं सा विनद्य च ।
यथागतं प्रदुद्राव घोरा शूर्पणखा वनम् ॥२२॥

तब तो वह भयङ्कर राक्षसी शूर्पणखा कान और नाक कटने के कारण विकट चीत्कार करती हुई, जिधर से आई थी, उधर ही वन में भागी ॥२२॥

सा विरूपा महाघोरा राक्षसी शोणितोक्षिता ।
ननाद विविधान्नादान् यथा प्रावृषि तोयदः ॥२३॥

अति भयानक शरीरवाली और कुरूपा वह राक्षसी, रुधिर से सनी, वर्षाकालीन बादल की तरह नाना प्रकार के शब्द करती हुई गरजने लगी ॥२३॥

सा विक्षरन्ती रुधिरं बहुधा घोरदर्शना ।
प्रगृह्य बाहू गर्जन्ती प्रविवेश महावनम् ॥२४॥

वह पहले से भी अधिक भयानक रूपवाली हो, बाहें उठा, पावों से रुधिर टपकाती हुई, महावन में घुस गई ॥२४॥

ततस्तु सा राक्षससङ्घसंवृतं
खरं जनस्थानगतं विरूपिता ।
उपेत्य तं भ्रातरमुग्रदर्शनं
पपात भूमौ गगनाद्यथाऽशनिः ॥२५॥

तदनन्तर वह कुरूपा राक्षसी, जनस्थान में, जहाँ खर नाम का उग्रतेजवान् उसका भाई राक्षसों की मण्डली में बैठा था, जा कर, उसके सामने, आकाश से गिरे हुए वज्र की तरह, पृथ्वी पर धम्म से गिर पड़ी ॥२५॥

ततः सभार्यं भयमोहमूर्छिता
सलक्ष्मणं राघवमागतं वनम् ।
विरूपणं चात्मनि शोणितोक्षिता
शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा ॥२६॥

इति अष्टादश सर्ग ॥

रुधिर से सनी, भय और मोह से अचेत अर्थात् जिसका चित्त ठिकाने न था) खर की बहिन राक्षसी शूर्पनखा ने, खर को, सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी का वन में आना और उनके द्वारा अपनी नाक और कानों के काटे जाने का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया ॥२६॥

अरण्यकाण्ड का अठारहवां सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

एकोनविंशः सर्गः

—❀—

तां तथा पतितां दृष्ट्वा विरूपां शोणितोक्षिताम् ।
भगिनीं क्रोधसन्तप्तः खरः पप्रच्छ राक्षसः ॥१॥

विरूप और रुधिर से सनी हुई अपनी बहिन को जमीन पर गिरी हुई देख, खर नामक राक्षस ने क्रोध से सन्तप्त हो, अपनी बहिन से पूँछा ॥१॥

उत्तिष्ठ तावदाख्याहि प्रमोहं जहि सम्भ्रमम्।
व्यक्तमाख्याहि केन त्वमेवंरूपा विरूपिता ॥२॥

उठ कर बैठ जा और अपना जी ठिकाने कर के अपना हाल तो कह। निर्भय हो, साफ साफ बतला कि तुझे किसने कुरूप किया ॥२॥

कः कृष्णसर्पमासीनमाशीविषमनागसम्।
तुदत्यभिसमापन्नमङ्गुल्यग्रेण लीलया ॥३॥

कुण्डली बाँधे सामने बैठे हुए निरपराध विषधर काले साँप को खेल के मिस अथवा अनायास, उँगली से किसने छेड़ा ॥३॥

कः कालपाश[1]मासज्य[2] कण्ठे मोहान्न बुध्यते[3]।
यस्त्वामद्य[4] समासाद्य पीतवान् विषमुत्तमम् ॥४॥

कौन अपने गले में काल की फाँसी लगा कर यह नहीं जानता कि पीछे इससे उसे मरना होगा। जिसने तेरे साथ ऐसा व्यवहार किया है अर्थात जिसने तेरी नाक और कान काटे हैं उसने मानो हलाहल विष पिया है ॥४॥

बलविक्रमसम्पन्ना कामगा कामरूपिणी।
इमामवस्थां नीता त्वं केनान्तकसमा गता ॥५॥

अरे तू तो ऐसी बल विक्रम वाली स्वच्छन्द घूमने वाली, काम रूपिणी और काल के समान है तेरी ऐसी दुर्दशा किसने कर डाली? ॥५॥

१ कालपाश—मृत्युपाश (गो०) २ आसज्य—[illegible]। (गो०) ३ न बुध्यते—इह कृते स्वमरणं न जानाति। (गो०) ४ अद्य—[illegible]। (गो०)

देवगन्धर्वभूतानामृषीणां च महात्मनाम् ।
कोऽयमेवं विरूपां त्वां महावीर्यश्चकार ह ॥६॥

देवताओं, गन्धर्वों, भूतपिशाचों, ऋषियों और महात्माओं में कौन ऐसा महापराक्रमी है जिसने तेरे नाक कान काट डाले? ॥६॥

न हि पश्याम्यहं लोके यः कुर्यान् मम विप्रियम् ।
अन्तरेण सहस्राक्षं महेन्द्रं पाकशासनम् ॥७॥

मैं तो सहस्रलोचन इन्द्र को भी यह सामर्थ्य नहीं देखता कि, वह मेरे साथ छेड़खानी करे—फिर मनुष्यों की तो गिनती ही किसमें है ॥७॥

अद्याहं मार्गणैः[1] प्राणानादास्ये जीवितान्तकैः[2] ।
सलिले क्षीरमासक्तं निष्पिबन्निव सारसः[4] ॥८॥

जिस प्रकार हंस जल मिश्रित दूध को, जल से अलग कर पी लेता है उसी प्रकार आज मैं भी प्राण हरण करने वाले अपने बाणों से उस शत्रु के, जिसने तुझे विरूप किया है, प्राण शरीर से अलग कर दूँगा ॥८॥

निहतस्य मया संख्ये[3] शरसंकृत्तमर्मणः ।
सफेनं रुधिरं रक्तं मेदिनी कस्य पास्यति ॥९॥

युद्ध में मेरे चलाए हुए बाणों से विदीर्ण हो, कौन मरना चाहता है? और किसका फेन सहित रक्त यह पृथ्वी पीना चाहती है? ॥९॥

कस्य पत्ररथाः[5] कायान् मांसमुत्कृत्य सङ्गताः ।
प्रहृष्टा भक्षयिष्यन्ति निहतस्य मया रणे ॥१०॥

---

१ मार्गणैः—बाणैः । (गो०) २ जीवितान्तकैः—शत्रुजीवितविनाशकरैः । (गो०) ३ संख्ये—युद्धे । (गो०) ४ सारसः—हंसविशेषः । (गो०) ५ पत्ररथाः—पक्षिणः (गो०)

युद्ध मे मेरे हाथ से मरे हुए किस पुरुष की देह का मास नोंच नोंच कर, गिद्धादि पक्षियो के झुंड, प्रसन्न हो कर खाया चाहते है ? ॥१०॥

त न देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
मयापकृष्टं कृपणं शक्तास्रातुमिहाहवे ॥११॥

मैं जिस पर चढ़ाई करूँगा उसे अपराधी को न देवता न गन्धर्व, न पिशाच और न राक्षस बचा सकेंगे ॥११॥

उपलभ्य शनैः सज्ञां त मे शंसितुमर्हसि ।
येन त्वं दुर्विनीतेन वने विक्रम्य निर्जिता ॥१२॥

अब तू अपना जी धीरे धीरे ठिकाने कर उस दुष्ट का नाम पता आदि मुझे बतला, जिसने तुझे इस वन मे अपने पराक्रम से जीता है ॥१२॥

इति भ्रातुर्वचः श्रुत्वा क्रुद्धस्य च विशेषतः ।
ततः शूर्पणखा वाक्यं सबाष्पमिदमब्रवीत् ॥१३॥

अतिशय क्रुद्ध भाई के ये वचन सुन, शूर्पनखा आँसुओं से टपटपाती हुई आँखे बना बोली ॥१३॥

तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ॥१४॥

तरुण, सुस्वरूप सुकुमार महाबली कमललोचन चीर और काले मृग का चर्म धारण किए हुए, ॥१४॥

१ कृपणं—अपराधिनं । (शि०) ... ।(गो०) ३ दुर्विनीतेन—दुर्वृत्तेन । (गो०) ४ विक्रम्य—... । (गो०)

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ धर्मचारिणौ ।
पुत्रौ दशरथस्यास्तां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥१५॥

फलमूलाहारी, जितेन्द्रिय, तपस्वी और धर्मचारी महाराज दशरथ के दो राजपुत्र राम और लक्ष्मण नाम के दो भाई हैं ॥१५॥

गन्धर्वराजप्रतिमौ पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ ।
देवौ वा मानुषौ वा तौ न तर्कयितुमुत्सहे ॥१६॥

वे देखने में गन्धर्वराज की तरह और राजलक्षणों से युक्त जान पड़ते हैं। वे दोनों देवता हैं या मनुष्य हैं, इसका कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता ॥१६॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता ।
दृष्टा तत्र मया नारी तयोर्मध्ये सुमध्यमा ॥१७॥

मैंने, उन दोनों के साथ पतली कमर वाली युवती, सुन्दरी और सब भूषणों से भूषित, एक स्त्री भी देखी ॥१७॥

ताभ्यामुभाभ्यां सम्भूय प्रमदामधिकृत्य[1] ताम् ।
इमामवस्थां नीताऽहं यथाऽनाथाऽसती तथा ॥१८॥

उस स्त्री के निमित्त अथवा उस स्त्री के कहने से उन दोनों भाइयों ने मिल कर, मेरी वैसी दशा की, जैसी कि, किसी अनाथा और कुलटा स्त्री की, की जाती है ॥१८॥

तस्याश्चानृजुवृत्तायाः[2] तयोश्च हतयोरहम् ।
सफेनं पातुमिच्छामि रुधिरं रणमूर्धनि ॥१९॥

१ प्रमदामधिकृत्य—निमित्तीकृत्य । (गो०) २ अनृजुवृत्ताया -कुटिलवृत्ताया । (गो०)

हे भाई ! मैं अब यह चाहती हूँ कि, युद्ध में वे दोनों कुटिल भाई मय उस स्त्री के मारे जाँय और मैं उनका फेन सहित (अर्थात ताजा, टटका) खून पीऊँ ॥१६॥

एष मे प्रथमः[1] कामः[2] कृतस्तात त्वया भवेत् ।
तस्यास्तयोश्च रुधिरं पिबेयमहमाहवे ॥२०॥

मेरी सब से बढ़ कर (या श्रेष्ठ) यही अभिलाषा है। इसे तुम पूर्ण करो कि, जिससे मैं युद्धक्षेत्र में उन तीनों का रक्त पान करूँ ॥२०॥

इति तस्यां ब्रुवाणायां चतुर्दश महाबलान् ।
व्यादिदेश खरः क्रुद्धो राक्षसानन्तकोपमान् ॥२१॥

शूर्पनखा के यह कहने पर, खर ने क्रुद्ध हो यमराज के समान बलवान अथवा भयङ्कर १४ राक्षसों को आज्ञा दी कि, ॥२१॥

मानुषौ शस्त्रसम्पन्नौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ।
प्रविष्टौ दण्डकारण्यं घोरं प्रमदया सह ॥२२॥

जो शस्त्र धारण किए हुए हैं काले मृग का चर्म ओढ़े हुए हैं और चीर पहिने हुए हैं तथा जो इस घोर दण्डकवन में स्त्री सहित आए हुए हैं ॥२२॥

तौ हत्वा तां च दुर्वृत्तामपावर्तितुमर्हथ ।
इयं च रुधिरं तेषां भगिनी मम पास्यति ॥२३॥

इन दोनों जनों को, उस दुष्ट स्त्री के सहित मार कर लौट आओ। क्योंकि यह मेरी बहिन उनका रुधिर पीवेगी ॥२३॥

[1] प्रथम—श्रेष्ठ। (गो०) २ काम—अभिलाष। (गो०)

मनोरथोऽयमिष्टोऽस्या[1] भगिन्या मम राक्षसः ।
शीघ्रं सम्पाद्यतां तौ च प्रमथ्य[2] स्वेन तेजसा ॥२४॥

हे राक्षसो ! मेरी बहिन का यह मनोरथ है और मुझे भी यही इष्ट है कि, तुम लोग शीघ्र उन तीनों को अपने बल पराक्रम से मार डालो ॥२४॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
तत्र जग्मुस्तया सार्धं घना वातेरिता यथा ॥२५॥

इति एकोनविंश सर्गः ॥

इस प्रकार खर की आज्ञा पा कर, चौदहों राक्षस, वायु से उड़ाए हुए मेघों की तरह, शूर्पनखा के साथ वहाँ गए, जहाँ श्रीरामाश्रम था ॥२५॥

अरण्यकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— ❀ —

विंशः सर्गः

— ❀ —

ततः शूर्पणखा घोरा राघवाश्रममागता ।
रक्षसामाचचक्षे तौ भ्रातरौ सह सीतया ॥१॥

तदनन्तर वह भयङ्कर रूपवाली शूर्पनखा, श्रीरामाश्रम में पहुँची और उन दोनों भाई राम, लक्ष्मण तथा सीता को, उन राक्षसों को दिखलाया ॥१॥

---

१ अस्याश्चयमनोरथ ममचायमिष्टः सम्मतइत्यर्थः । (गो०) २ प्रमथ्य—हत्वा । (गो०)

ते रामं पर्णशालायामुपविष्टं महाबलम् ।
ददृशुः सीतया सार्धं वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥२॥

उन राक्षसों ने पर्णकुटी में महाबली श्रीराम को सीता और लक्ष्मण सहित बैठे हुए देखा ॥२॥

तान् दृष्ट्वा राघवः श्रीमानागतां तां च राक्षसीम् ।
अब्रवीद्भ्रातरं रामो लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥३॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उन राक्षसों को और शूर्पनखा को वहाँ देख, तेजस्वी लक्ष्मण से कहा ॥३॥

मुहूर्तं भव सौमित्रे सीतायाः प्रत्यनन्तरः[1] ।
इमानस्या वधिष्यामि पदवीमागतान्[2]निह ॥४॥

हे लक्ष्मण ! थोड़ी देर तुम सीता के पास रह कर इनकी रखवाली करो । इतने में मैं इस राक्षसी के इन हिमायतियों को मार डालूँगा ॥४॥

वाक्यमेतत्ततः श्रुत्वा रामस्य विदितात्मनः ।
तथेति लक्ष्मणो वाक्यं रामस्य प्रत्यपूजयत् ॥५॥

लक्ष्मण जी ने विदितात्मा श्रीरामचन्द्र के वचन सुन कर और उनके कथन को स्वीकार करते हुए 'बहुत अच्छा ' कहा ॥५॥

राघवोऽपि महच्चापं चामीकरविभूषितम् ।
चकार सज्यं धर्मात्मा तानि रक्षांसि चाब्रवीत् ॥६॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने भी सुवर्णभूषित अपने बड़े धनुष पर रोदा चढ़ा, इन राक्षसों से कहा ॥६॥

१ प्रत्यनन्तर — रक्षार्थं [illegible] वर्तस्व । (शि०) २ [illegible] — [illegible]मार्गेण प्राप्तान् । (शि०)

मनोरथोऽयमिष्टोऽस्या[1] भगिन्या मम राक्षसः ।
शीघ्रं सम्पाद्यतां तौ च प्रमथ्य[2] स्वेन तेजसा ॥२४॥

हे राक्षसो ! मेरी बहिन का यह मनोरथ है और मुझे भी यही इष्ट है कि, तुम लोग शीघ्र उन तीनों को अपने बल पराक्रम से मार डालो ॥२४॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
तत्र जग्मुस्तया सार्धं घना वातेरिता यथा ॥२५॥

इति एकोनविंश सर्गः ॥

इस प्रकार खर की आज्ञा पा कर, चौदहो राक्षस, वायु से उड़ाए हुए मेघों की तरह, शूर्पनखा के साथ वहाँ गए, जहाँ श्रीरामाश्रम था ॥२५॥

अरण्यकाण्ड का उन्नीसवा सर्ग पूरा हुआ ।

— ❀ —

विंशः सर्गः

— ❀ —

ततः शूर्पणखा घोरा राघवाश्रममागता ।
रक्षसामाचचक्षे तौ भ्रातरौ सह सीतया ॥१॥

तदनन्तर वह भयङ्कर रूपवाली शूर्पनखा, श्रीरामाश्रम मे पहुँची और उन दोनो भाई राम, लक्ष्मण तथा सीता को, उन राक्षसो को दिखलाया ॥१॥

---

१ अस्याश्चायमनोरथः ममचायमिष्टः सम्मतइत्यर्थः । (गो०) २ प्रमथ्य—हत्वा । (गो०)

ते रामं पर्णशालायामुपविष्टं महाबलम् ।
ददृशुः सीतया सार्धं वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥२॥

उन राक्षसों ने पर्णकुटी में महाबली श्रीराम को सीता और लक्ष्मण सहित बैठे हुए देखा ॥२॥

तान् दृष्ट्वा राघवः श्रीमानागतां तां च राक्षसीम् ।
अब्रवीद्भ्रातरं रामो लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥३॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उन राक्षसों को और शूर्पनखा को वहाँ देख, तेजस्वी लक्ष्मण से कहा ॥३॥

मुहूर्तं भव सौमित्रे सीतायाः प्रत्यनन्तरः[१] ।
इमानस्या वधिष्यामि पदवीमागतानिह[२] ॥४॥

हे लक्ष्मण ! थोड़ी देर तुम सीता के पास रह कर इनकी रखवाली करो। इतने में मैं इस राक्षसी के इन हिमायतियों को मार डालूँगा ॥४॥

वाक्यमेतत्ततः श्रुत्वा रामस्य विदितात्मनः ।
तथेति लक्ष्मणो वाक्यं रामस्य प्रत्यपूजयत् ॥५॥

लक्ष्मण जी ने विदितात्मा श्रीरामचन्द्र के वचन सुन कर और उनके वचन को स्वीकार करते हुए 'बहुत अच्छा' कहा ॥५॥

राघवोऽपि महच्चापं चामीकरविभूषितम् ।
चकार सज्यं धर्मात्मा तानि रक्षांसि चाब्रवीत् ॥६॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने भी सुवर्णभूषित अपने बड़े धनुष पर रोदा चढ़ा, इन राक्षसों से कहा ॥६॥

---

१ प्रत्यनन्तरः—रक्षार्थं समीपवर्ती भव । (शि०) २ पदवीमागतान्—अनुसरणेन प्राप्तान् । (शि०)

पुत्रौ दशरथस्यावां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
प्रविष्टौ सीतया सार्धं दुश्चरं दण्डकावनम् ॥७॥

देखो हम दोनों महाराज दशरथ के पुत्र, सीता को अपने साथ ले, इस दुर्गम दण्डकवन में आए हैं ॥७॥

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ धर्मचारिणौ ।
वसन्तौ दण्डकारण्ये किमर्थमुपहिंसथ ॥८॥

हम फलमूल खाने वाले, जितेन्द्रिय तपस्वी और धर्मचारी हो, इस दण्डकवन में रहते हैं सो तुम हमारे ऊपर क्यों चढ कर आए हो अथवा हमें मारने आए हो ? ॥८॥

युष्मान् पापात्मकान् हन्तुं विप्रकारान् महाहवे ।
ऋषीणां तु नियोगेन प्राप्तोऽहं सशरायुधः ॥९॥

(हम तपस्वी तो हैं, किन्तु हम लोगों के धनुष धारण करने का कारण यह है कि,) हम इस महावन में, तुम्हारे जैसे पापिष्ठों को, जो ऋषियों को सताया करते हैं, ऋषियों की आज्ञा से, मारने के लिए, धनुष बाण ले कर, आए हैं ॥९॥

तिष्ठतैवात्र सन्तुष्टा[1] नोपावर्तितुमर्हथ[2] ।
यदि प्राणैरिहार्थो वा निवर्तध्वं निशाचराः ॥१०॥

इसलिए तुम निर्भय जहाँ के तहाँ खड़े रहना—भागना मत । और यदि अपने प्राण बचाने हों तो, हे राक्षसो ! तुम यहाँ से लौट जाओ ॥१०॥

---

१ सन्तुष्टा—अभीता । (गो०) २ नोपावर्तितुमर्हथ—मा पलायध्व-मित्यर्थः । (गो०)

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
ऊचुर्वाच सुसंक्रुद्धा ब्रह्मघ्नाः शूलपाणयः ॥११॥

श्रीरामचन्द्र के ये वचन सुन, वे ब्रह्मघाती और शूलधारी चौदह राक्षस, महाक्रुद्ध हो बोले ॥११॥

संरक्तनयना घोरा रामं सरक्तलोचनम् ।
परुषं मधुराभाषं हृष्टा दृष्टपराक्रमम् ॥१२॥

वे लाल लाल नेत्र कर लाल लाल नेत्रों वाले, मधुरभाषी सदा परम प्रसन्न रहने वाले और दृढ पराक्रमी श्रीरामचन्द्र से कठोर वचन बोले ॥१२॥

क्रोधमुत्पाद्य नो भर्तुः खरस्य सुमहात्मनः ।
त्वमेव हास्यसे प्राणानद्यास्माभिर्हतो युधि ॥१३॥

देखो तुमने हमारे श्रीमान खर को अपने ऊपर क्रुद्ध स्वय किया है। अतः तुम आज लड़ाई में हमारे हाथ से मारे जाओगे ॥१३॥

का हि ते शक्तिरेकस्य बहूनां रणमूर्धनि ।
अस्माकमग्रतः स्थातु किं पुनर्योद्धुमाहवे ॥१४॥

तुम्हारे अकेले की क्या ताब है, जो हमारे सामने रण में खड़े भी रह सको। हमारे साथ लड़ना तो बात ही निराली है ॥१४॥

एहि बाहुप्रयुक्तैर्नः[1] परिघैः शूलपट्टिशैः[2] ।
प्राणांस्त्यक्ष्यसि वीर्यं च धनुश्च करपीडितम् ॥१५॥

[1] परिघ —गदाभेद । (गो०) [2] पट्टिश —खड्गभेदः । (गो०) [3] ... —... हट ... (शि०)

हमारी चलाई इन गदाओं और तलवारों से घायल हो, तुमको केवल अपने हाथ का यह धनुष ही नहीं त्यागना पड़ेगा, किन्तु तुम्हें अपने बलवीर्य और प्राणों से भी हाथ धोने पड़ेंगे॥१५॥

इत्येवमुक्त्वा संक्रुद्धा राक्षसास्ते चतुर्दश।
उद्यतायुधनिस्त्रिंशा राममेवाभिदुद्रुवुः॥१६॥

यह कह वे चौदहों राक्षस क्रुद्ध हो और अपने आयुधों को उठा एक साथ श्रीरामचन्द्र जी की ओर झपटे॥१६॥

चिक्षिपुस्तानि शूलानि राघवं प्रति दुर्जयम्।
तानि शूलानि काकुत्स्थः समस्तानि चतुर्दश॥१७॥
तावद्भिरेव चिच्छेद शरैः काञ्चनभूषणैः।
ततः पश्चान् महातेजा नाराचान्[1] सूर्यसन्निभान्॥१८॥
जग्राह परमक्रुद्धश्चतुर्दश शिलाशितान्[2]।
गृहीत्वा धनुरायस्य लक्ष्यानुद्दिश्य राक्षसान्॥१९॥
मुमोच राघवो बाणान्वज्रानिव शतक्रतुः।
ते भित्त्वा रक्षसां वेगाद्वक्षांसि रुधिराप्लुताः॥२०॥

दुर्जेय श्रीरामचन्द्र जी पर उन लोगों ने त्रिशूल फैंके। तब श्रीरामचन्द्रजी ने उन समस्त चौदहों त्रिशूलों को सुवर्णभूषित उतने ही (१४) बाणों से काट डाला। तदनन्तर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त क्रुद्ध हो, सूर्य के समान चमचमाते, बिना फरके और सिली पर पैनाये हुए चौदह बाण ले, उनको धनुष पर रखा और राक्षसों को लक्ष्य कर उसी प्रकार उन्हें छोड़े, जिस प्रकार इन्द्र वज्र

---

[1] नाराचान्—अपत्रकान् बाणान् (गो०) २ शिलाशितान्—शाणोपल निघृष्टान्। शिलानिर्भेदक्षमानित्यर्थः। (गो०—रा०)

को चलाते हैं। वे सब बाण, बड़े वेग से राक्षसों की छाती फोड़, रुधिर में सने. ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

विनिष्पेतुस्तदा भूमौ न्यमज्जन्ताशनिस्वनाः ।
ते भिन्नहृदया भूमौ च्छिन्नमूला इव द्रुमाः ॥२१॥

वज्र की तरह घहराते हुए पृथिवी पर जा गिरे। बाणों के आघात से वे चौदहों राक्षस भी विदीर्ण हृदय हो, जड़ से कटे हुए वृक्ष की तरह भूमि पर गिर पड़े ॥२१॥

निपेतुः शोणितार्द्राङ्गा विकृता विगतासवः[१] ।
तान् दृष्ट्वा पतितान् भूमौ राक्षसी क्रोधमूर्छिता ॥२२॥

वे राक्षस खून से लथर पथर थे, उनकी शक्लें बिगड़ गई थीं और वे निर्जीव हो गये थे। उनको जमीन पर गिरा हुआ देख, शूर्पनखा क्रोध से अधीर हो गई ॥२२॥

परित्रस्ता पुनस्तत्र व्यासृजद्भैरवस्वनान् ।
सा नदन्ती[२] महानादं जवाच्छूर्पणखा पुनः ॥२३॥

और भयभीत हो उसने वहाँ पुन बड़ा भयङ्कर शब्द किया और महानाद करती हुई वह शूर्पनखा, ॥२३॥

उपगम्य खरं सा तु किञ्चित्संशुष्कशोणिता ।
पपात पुनरेवार्ता सनिर्यासेव वल्लरी[३] ॥२४॥

जिसके शरीर का खून सूख गया था—खर के पास पहुँची और पावर से सूखी हुई लता की तरह फिर गिर पड़ी ॥२४॥

---

[१] विगतासव — गतप्राणा । (गो०)
[२] पाठान्तरे 'पुनर्नाद'। [३] पाठान्तरे—"वल्लरी"।

इत्येवमुक्ता दुधर्षा ख[illegible] [illegible]न्विता ।
विमृज्य नयने सास्रे ख[illegible] [illegible]रमब्रवीत् ॥६॥

जब [illegible] ने इस प्रकार उस [illegible] को धीरज बँधाया, तब वह आँसुओं [illegible] पोछ कर, अपने [illegible] [illegible] कहने लगी ॥६॥

अस्[illegible]ादानीमह प्राप्ता ह[illegible]नासिका ।
शोणितौघपरिक्लिन्ना [illegible] [illegible]न्विता ॥७॥

हे ख[illegible] ! नाक और कानों [illegible] [illegible] लोहू से तरवतर, मैं जब (पहले) तेरे पास आई थी तब तून [illegible]रज बँधा कर ॥७॥

प्रेषिताश्च त्वया वीर [illegible] चतुर्दश ।
निहन्तु राघवं क्रोधान्म[illegible] सलक्ष्मणम् ॥८॥

और [illegible] हो कर, चौदह [illegible] मेरे सन्तोषार्थ, लक्ष्मण सहित श्री[illegible]मचन्द्र का वध [illegible] [illegible] ॥८॥

ते [illegible] [illegible] [illegible] ।
स[illegible] निहताः सर्वे स[illegible] [illegible]भिः ॥९॥

श्रीरा[illegible] ने मर्मभेदी [illegible] से शूल पटा आदि हाथों में लिये हुए [illegible] क्रोध में भरे [illegible] [illegible] राक्षसों को युद्ध में मार डाला ॥९॥

तान् दृष्ट्वा पतितान् भू[illegible] [illegible] महाबलान् ।
[illegible] च महत्कर्म [illegible] [illegible]ऽभवन् मम ॥१०॥

उन [illegible] राक्षसों का [illegible] [illegible] से पृथिवी पर गिरना (अर्थात् [illegible]) तथा श्रीरा[illegible]चन्द्र के [illegible] महत् कर्म को देख, मुझे बड़ा डर लगा ॥१०॥

अहमस्मि समुद्विग्ना[1] विषण्णा[2] च निशाचर ।
शरणं त्वां पुनः प्राप्ता सर्वतोभयदर्शिनी ॥११॥

हे निशाचर ! मैं भयभीत और दुखी हूँ और हर ओर मुझे भय ही भय देख पडता है । इसीसे पुन तेरी शरण मे आई हूँ ॥११॥

विषादनक्राध्युषिते परित्रासोर्मिमालिनि ।
किं मां न त्रायसे मग्नां विपुले शोकसागरे ॥१२॥

विषाद रूपी मगरों से पूर्ण और त्रास रूपी लहरों से लहराते हुए महासागर मे, मैं डूब रही हूँ। सो मुझे तू क्यों नहीं बचाता ? ॥१२॥

एते च निहता भूमौ रामेण निशितैः शरैः ।
येऽपि मे पदवीं प्राप्ता राक्षसाः पिशिताशनाः १३॥

जो मासभक्षी हिंसायती राक्षस तूने मेरे साथ भेजे थे वे श्रीराम के पैने बाणों से मारे जा कर जमीन मे पडे हैं ॥१३॥

मयि ते यद्यनुक्रोशो यदि रक्षःसु तेषु च ।
रामेण यदि ते शक्तिस्तेजो वास्ति निशाचर ॥१४॥

यदि मेरे ऊपर और इन राक्षसों के ऊपर तुझे दया हो और श्रीराम के साथ युद्ध करने की तुझमे शक्ति और तेज अर्थात् पराक्रम हो ॥१४॥

दण्डकारण्यनिलयं जहि राक्षसकण्टकम् ।
यदि राम ममामित्रं न त्वमद्य वधिष्यसि ॥१५॥

तो दण्डकारण्यवासी राक्षसों के इस कण्टक अर्थात् शत्रु को मार डाल। यदि आज ही तू मेरे शत्रु राम को नहीं मार डालेगा ॥१५॥

---

[1] समुद्विग्ना—भीता । (गो०) [2] विषण्णा—दुःखिता । (गो०)

तत्र चैवाग्रतः प्राणांस्त्यक्ष्यामि निरपत्रपा ।
बुद्ध्याहमनुपश्यामि न त्वं रामस्य संयुगे ॥१६॥
स्थातु प्रतिमुखे शक्तः सबलश्च महात्मनः ।
शूरमानी न शूरस्त्वं मिथ्यारोपितविक्रमः ॥१७॥

तो मैं तेरे सामने ही लाज छोड़, अपने प्राण दे दूँगी। क्योंकि, मैं यह जानती हूँ कि, तू श्रीरामचन्द्र के साथ युद्ध में बड़ी भारी सेना को साथ ले कर भी नहीं ठहर सकता। तू अपने को शूर समझे हुए बैठा है, पर वास्तव में तू शूर है नहीं और तू अपने पराक्रम की जो डींगे मारता है, वे सब झूठी हैं ॥१६॥१७॥

मानुषौ यौ शक्नोषि हन्तुं तौ रामलक्ष्मणौ ।
रामेण यदि ते शक्तिस्तेजो वास्ति निशाचर ॥१८॥

क्योंकि तू उन दो मनुष्यों अर्थात् श्रीराम और लक्ष्मण को भी नहीं मार सकता। अगर तुझमें श्रीराम के साथ युद्ध करने की शक्ति और तेज नहीं है, ॥१८॥

दण्डकारण्यनिलयं जहि तं कुलपांसन ।
निःसत्त्वस्याल्पवीर्यस्य वासस्ते कीदृशस्त्विह ॥१९॥

तो हे कुलाधम! तू दण्डकारण्य में वसना छोड़ कर, चला जा। क्योंकि तुझ जैसा निःसत्व और निर्बल यहाँ कैसे रह सकता है ॥१९॥

अपयाहि जनस्थानात्त्वरितः सहबान्धवः ।
रामतेजोभिभूतो हि त्वं क्षिप्रं विनशिष्यसि ॥२०॥

तू शीघ्र अपने कुटुम्ब को साथ ले, जनस्थान से चला जा। नहीं तो तू श्रीरामचन्द्र के पराक्रम से पराजित हो, शीघ्र ही मारा जायगा ॥२०॥

स हि तेजःसमायुक्तो रामो दशरथात्मजः ।
भ्राता चास्य महावीर्यो येन चास्मि विरूपिता ॥२१॥

क्योंकि दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र एक तेजस्वी पुरुष हैं और उनका भाई भी, जिसने मेरी नाक और कान काटे, बड़ा पराक्रमी है ॥२१॥

एवं विलप्य बहुशो राक्षसी विततोदरी[1] ।
भ्रातुः समीपे दुःखार्ता नष्टसंज्ञा बभूव ह ।
कराभ्यामुदरं हत्वा रुरोद भृशदुःखिता ॥२२॥

इति एकविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार वह बड़े पेटवाली राक्षसी बहुत भाँति विलाप कर, भाई के निकट, शोकाकुल हो, मूर्छित हो गई और फिर होश में आ, अत्यन्त दुःखी हो, दोनों हाथों से अपना पेट पीट कर, रोने लगी ।२२॥

अरण्यकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:o:—

द्वाविंशः सर्गः

—:o:—

एवमाधर्षितः शूरः शूर्पणख्या खरस्तदा ।
उवाच रक्षसां मध्ये खरः खरतरं वचः ॥१॥

जब शूर्पनखा ने खर को बुरी तरह धिक्कारा, तब वह शूर, राक्षसों के बीच (शूर्पनखा से) ये कठोर वचन बोला ॥१॥

---

१ विततोदरी—विस्तृतोदरी । (गो०)

तवापमानप्रभवः क्रोधोऽयमतुलो मम ।
न शक्यते धारयितुं लवणाम्भ[1] इवोत्थितम् ॥२॥

हे शूर्पनखे ! तेरा अपमान होने से मेरे मन में जो क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह अतुल क्रोध मुझसे वैसे ही नहीं सम्हाला जाता, जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र अपने जल के वेग को नहीं सम्हाल सकता ॥२॥

न रामं गणये वीर्यन् मानुषं क्षीणजीवितम् ।
आत्मदुश्चरितैः प्राणान् हतो योऽद्य विमोक्ष्यति ॥३॥

मैं अपने बल के सामने मरणोन्मुख मनुष्य शरीरधारी श्रीराम को कुछ भी नहीं गिनता । उसने जो कुकर्म किया है, उससे उसे आज ही अपने प्राण त्यागने पड़ेंगे ॥३॥

बाष्पः संह्रियतामेष सम्भ्रमश्च विमुच्यताम् ।
अहं रामं सह भ्रात्रा नयामि यमसादनम् ॥४॥

अब तू अपना रोना धोना बंद कर, व्याकुलता को त्याग दे। श्रीराम को, उनके भाई सहित मैं यमपुरी भेजता हूँ ॥४॥

परश्वध[2]हतस्याद्य मन्दप्राणस्य संयुगे ।
रामस्य रुधिरं रक्तमुष्णं पास्यसि राक्षसि ॥५॥

हे राक्षसी ! युद्ध में कुठार से काटे गए और अधमरे श्रीराम का गर्मागर्म और लाल लाल लोहू का तू पीना ॥५॥

सा प्रहृष्टा वचः श्रुत्वा खरस्य वदनाच्च्युतम् ।
प्रशशंस पुनर्मौर्ख्याद्भ्रातरं रक्षसां वरम् ॥६॥

---

१ लवणाम्भ इवोत्थितम्—लवण समुद्र उत्वण पर्वोत्थित स्ववेगमिव। (शि०) २ परश्वध —कुठार.। (गो०)

खर के मुख से निकले हुए इन वचनों को सुन, शूर्पनखा बहुत प्रसन्न हो गई और मूर्खतावश राक्षसश्रेष्ठ खर की पुनः प्रशंसा करने लगी ॥६॥

तया परुषितः पूर्वं पुनरेव प्रशंसितः ।
अब्रवीद्दूषणं नाम खरः सेनापतिं तदा ॥७॥

इस प्रकार पहिले धिक्कारा हुआ और पीछे प्रशंसित खर, अपने सेनापति दूषण से बोला ॥७॥

चतुर्दश सहस्राणि मम चित्तानुवर्तिनाम् ।
रक्षसां भीमवेगानां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥८॥

नीलजीमूतवर्णानां घोराणां क्रूरकर्मणाम् ।
लोकहिंसाविहाराणां बलिनामुग्रतेजसाम् ॥९॥

तेषां शार्दूलदर्पाणां महास्यानां महौजसाम् ।
सर्वोद्योगमुदीर्णानां[1] रक्षसां सौम्य कारय ॥१०॥

हे सौम्य ! मेरे मन के अनुसार काम करने वाले, अति वेगवान युद्ध में कभी पीठ न दिखाने वाले काले मेघों के समान वर्णवाले घोर रूपधारी क्रूरकर्मा और लोगों की हत्या कर के सदा खेलनेवाले बलवान उग्रतेजधारी शार्दूल की तरह दर्पवाले विकट मुखवाले बड़े पराक्रमी युद्ध के सब कार्यों में गर्वीले चौदह हजार राक्षसों को लड़ने के लिये तैयार करो ॥८॥९॥१०॥

उपस्थापय मे क्षिप्रं रथं सौम्य धनूंषि च ।
शरांश्चित्रांश्च खड्गांश्च शक्तीश्च विविधाः शिताः ॥११॥

[1] [illegible]

और हे सौम्य! मेरे रथ को धनुष को, विचित्र बाणों को पैनी पैनी अनेक तलवारो तथा शक्तियों को ला कर, शीघ्र उपस्थित करो ॥११॥

अग्रे निर्यातुमिच्छामि पौलस्त्यानां महात्मनाम्।
वधार्थं दुर्विनीतस्य रामस्य रणकोविदः ॥१२॥

हे रणपण्डित! मैं, इन पुलस्त्य कुलोद्भव महानुभाव राक्षसों के आगे आगे, उस दुष्ट राम को मारने के लिए, प्रस्थान करना चाहता हूँ ॥१२॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य सूर्यवर्णं महारथम्।
सदश्वैः शबलैर्युक्तमाचचक्षेऽथ दूषणः ॥१३॥

खर के ये वचन सुन, दूषण ने, सूर्य की तरह चमचमाते रथ मे, चितकबरे घोड़े जोत कर, उसे खर के सामने ला खडा किया ॥१३॥

तं मेरुशिखराकारं तप्तकाञ्चनभूषणम्।
हेमचक्रमसंबाधं वैडूर्यमयकूबरम् ॥१४॥

खर के रथ का आकार, मेरु पर्वत जैसा था, विशुद्ध खरे सोने के सामान से वह रथ सजाया गया था, रथ के पहिये भी सोने ही के थे और उसके जुए मे वैडूर्य मणि (पन्ने) जडे हुए थे ॥१४॥

मत्स्यैः पुष्पैर्द्रुमैः शैलैश्चन्द्रसूर्यैश्च काञ्चनैः।
मङ्गलैः[1] पक्षिसङ्घैश्च ताराभिरभिसंवृतम् ॥१५॥

उस रथ के भीतर सोने की मछलियाँ, पुष्पित वृक्ष, पहाड, चन्द्र, सूर्य, तारागण और तरह तरह के पक्षियो के आकार की मङ्गलकारी प्रतिमाएँ यथास्थान जड़ी गई थीं ॥१५॥

ध्वजनिस्त्रिंश[1]सम्पन्नं किङ्किणीकविराजितम् ।
सदश्वयुक्तं सोऽमर्षादारुरोह खरो रथम् ॥१६॥

रथ पर ध्वजा फहरा रही थी । उसके भीतर यथास्थान खड्गादि सब शस्त्र रखे हुए थे और छोटी छोटी घंटियाँ उसके चारों ओर लटक रही थीं । इस रथ में अच्छी जाति के घोड़े जुते हुए थे । ऐसे उत्तम रथ पर खर अत्यन्त कुपित हो, सवार हुआ ॥१६॥

निशाम्य तु रथस्थं तं राक्षसा भीमविक्रमाः ।
तस्थुः सम्परिवार्यैनं दूषणं च महाबलम् ॥१७॥

खर को रथ में बैठा देख, महापराक्रमी राक्षसों की सेना सहित दूषण भी, खर को घेर कर, जाने को तैयार हो गया ॥१७॥

खरस्तु तान् महेष्वासान् घोरवर्मायुधध्वजान् ।
निर्यातेत्यब्रवीद्धृष्टो रथस्थः सर्वराक्षसान् ॥१८॥

खर ने, रथ में बैठे हुए महाधनुष लिए और बड़े मजबूत जिरह-बख्तर पहिने तथा तलवार ढाल ध्वजा आदि अनेक प्रकार के आयुधों से सज्जित सब राक्षसों से प्रसन्न हो कर, आगे बढ़ने को कहा ॥१८॥

ततस्तद्राक्षसं सैन्यं घोरवर्मायुधध्वजम् ।
निर्जगाम जनस्थानान् महानादं महाजवम् ॥१९॥

तब वह अस्त्र शस्त्र से सजी हुई राक्षसों की सेना, महानाद करती हुई बड़ी तेज़ी के साथ जनस्थान से रवाना हुई ॥१९॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः सुतीक्ष्णैश्च परश्वधैः ।
खड्गैश्चक्रैश्च हस्तस्थैर्भ्राजमानैश्च तोमरैः ॥२०॥

---

[1] निस्त्रिंश—खड्ग इति । (शि०)

उस राक्षस सैन्य के योद्धा, मुद्गर, पट्टा, पैने त्रिशूल, फरसे, तलवार, चक्र, बल्लम आदि हथियार हाथों में लिए हुए थे और उन्हें घुमाते हुए, शोभायमान हो रहे थे ॥२०॥

शक्तिभिः परिघैर्घोरैरतिमात्रैश्च कार्मुकैः ।
गदासिमुसलैर्वज्रैर्गृहीतैर्भीमदर्शनैः ॥२१॥

शक्ति, परिघ, महाभयङ्कर धनुष, गदा, तलवार मूसल, वज्र, आदि भयङ्कर अस्त्र शस्त्रों को धारण कर, ॥२१॥

राक्षसानां सुघोराणां सहस्राणि चतुर्दश ।
निर्यातानि जनस्थानात्खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥२२॥

चौदह हजार भयङ्कर राक्षस, जो खर के मन के अनुसार काम किया करते थे, जनस्थान से चले ॥२२॥

तांस्त्वभिद्रवतो दृष्ट्वा राक्षसान् भीमविक्रमान् ।
खरस्यापि रथः किञ्चिज्जगाम तदनन्तरम् ॥२३॥

जब वे भीम विक्रमी राक्षस महावेग से चल दिए, तब उनको जाते हुए देख, खर का रथ भी कुछ अन्तर पर, उनके साथ साथ चला ॥२३॥

ततस्ताञ्शबलानश्वांस्तप्तकाञ्चनभूषितान् ।
खरस्य मतिमाज्ञाय सारथिः समचोदयत् ॥२४॥

सारथी ने खर की आज्ञा से उन चितकबरे घोड़ों को जिन पर सोने का साज कसा हुआ था, हाँका ॥२४॥

स चोदितो रथः शीघ्रं खरस्य रिपुघातिनः ।
शब्देनापूरयामास दिशश्च प्रदिशस्तदा ॥२५॥

उस समय शत्रुघाती खर का चलता हुआ रथ, अपने चलने के शब्द से दिशाओं और विदिशाओं को नादित करता हुआ, चला ॥२८॥

महद्धमन्युस्तु खरः खरस्वनो
रिपोर्वधार्थं त्वरितो यथाऽन्तकः ।
अचूचुदत्सारथिमुन्नदन्घनं
महाबलो मेघ इवाश्मवर्षवान् ॥२६॥

इति द्वाविंश सर्ग ॥

वह अति बलवान उच्च स्वर वाला खर, अत्यन्त क्रुद्ध हो यम-राज की तरह शत्रु के वध के लिए शीघ्रता के साथ, ओले बरसाने वाले मेघ की तरह गरजता हुआ सारथी से बोला कि रथ शीघ्र हाँको ॥२६॥

अरण्यकाण्ड का बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— ॐ —

त्रयोविंशः सर्गः

— ॐ —

तं प्रयान्तं जनस्थानादशिवं शोणितोदकम्¹ ।
अभ्यवर्षन्महामेघस्तुमुलो गर्दभारुणः ॥१॥

जब जनस्थान से वह राक्षससेना युद्ध के लिए रवाना हुई, तब गधे के शरीर जैसे धूसर रंग के महामेघों ने खून जैसे लाल रंग का अमङ्गलसूचक जल बरसाया ॥१॥

¹ [illegible] ([illegible])
² [illegible]

निपेतु[१]स्तुरगास्तस्य रथयुक्ता[२] महाजवाः ।
समे पुष्पचिते[३] देशे राजमार्गे यदृच्छया[४] ॥२॥

खर के रथ मे जो तेज चलने वाले घोडे जुते हुए थे, वे चलते चलते राजमार्ग पर, जिस पर फूल बिछे हुए थे और जो समथर था दैवयोग से गिर पडे ॥२॥

श्यामं रुधिरपर्यन्तं[५] बभूव परिवेषणम् ।
अलातचक्रप्रतिमं परिगृह्य[६] दिवाकरम् ॥३॥

सूर्य के चारों ओर श्याम वर्ण का घेरा बन गया, इस घेरे का बाहिरी भाग लाल रङ्ग का था ॥३॥

ततो ध्वजमुपागम्य हेमदण्डं समुच्छ्रितम्[७] ।
समाक्रम्य महाकायस्तस्थौ गृध्रः सुदारुणः ॥४॥

एक बड़े डीलडौल का और भयङ्कर गीध, रथ की ऊँची ध्वजा पर, जिसकी डडी सोने की थी, चक्कर लगा कर, बैठ गया ॥४॥

जनस्थानसमीपे तु समागम्य खरस्वनाः[८] ।
विस्वरान्[९] विविधांश्चक्रुर्मांसादा मृगपक्षिणः ॥५॥

जनस्थान के निकट जा, मांस-भक्षी एव विकट शब्दकारी पशुपक्षी भयङ्कर शब्द कर, चिल्लाने लगे ॥५॥

---

१ निपेतु —स्खलिता । (गो०) २ रथयुक्ता —रथेबद्धा । (गो०) ३ पुष्पचिते—पुष्पैर्निबिडे । (गो०) ४ यदृच्छया—दैवगत्या । (गो०) ५ पर्यन्ते—प्रान्ते । (गो०) ६ परिगृह्य—परितोव्याप्य । (गो०) ७ समुच्छ्रित—उन्नत । (गो०) ८ खरस्वना—परुषस्वना । (गो०) ९ विस्वरान्—विकृतस्वरान् (गो०)

व्याजह्रुश्च प्रदीप्तायां दिशि वै भैरवस्वनम् ।
अशिवं यातुधानानां शिवा[1]घोरा महास्वनाः ॥६॥

भयानक सियार सूर्य की ओर मुख कर, राक्षसों के लिए अमङ्गल सूचक भयङ्कर शब्द कर, चिल्लाने लगे ॥६॥

प्रभिन्न[2]गिरिसङ्काशास्तोयशोणितधारिणः ।
आकाशं तदनाकाशं चक्रुर्भीमा बलाहकाः ॥७॥

इन्द्र द्वारा काटे हुए पर वाले पर्वतों की तरह बड़े-बड़े मेघ, जिन में लाल रंग का जल भरा हुआ था, आकाश में छा गए। अर्थात् लाल लाल रंग के बड़े बड़े बादलों से आकाश छिपगया ॥७॥

बभूव तिमिरं घोरमुद्धतं रोमहर्षणम् ।
दिशो वा विदिशो वाऽपि न च व्यक्तं चकाशिरे ॥८॥

उस समय ऐसा रोमाञ्चकारी और घोर अन्धकार छा गया कि, समस्त दिशाएँ और विदिशाएँ ढक गईं थीं और कुछ भी नहीं सूझ पड़ता था ॥८॥

क्षतजार्द्र[3]सवर्णाभा सन्ध्या कालं विना बभौ ।
खरस्याभिमुखा नेदुस्तदा घोरमृगाः खगाः ॥९॥

सूर्यास्त का समय न होने पर भी खून से भींगे कपड़े की तरह, लाल सन्ध्या हुई जान पड़ने लगी। भयङ्कर पशु पक्षी खर की ओर मुख कर भयङ्कर स्वर से चिल्लाने लगे ॥९॥

कङ्क[4]गोमायुगृध्राश्च चुक्रुशुर्भयशंसिनः ।
नित्याशिवकरा[*] युद्धे शिवा घोरनि[illegible] १०॥

---

[1] शिवा—शृगाला। (गो०) २ प्रभिन्ना—इ[illegible] (गो०)
[3] [illegible]—क्षतजेन रक्तेनार्द्रे क्लिन्नः सन् पटादिः [illegible] (गो[illegible]
[4] कङ्क—दीर्घपादा बकविशेषाः। (गो०) * पा[illegible]

भयङ्कर सियार और गीध, खर के हृदय को दहलाने वा स्वर से शब्द करने लगे। युद्ध में जिनका बोलना सदा अप सूचक माना गया है, ऐसी सियारने भी भय उपजाती हुई ॥

नेदुर्बलस्याभिमुखं ज्वालोद्गारिभिराननैः ।
कबन्ध[1] परिघाभासो[2] दृश्यते भास्करान्तिके ॥११

सेना के सामने मुख से आग उगलती हुई, घोर चीत्कार लगीं। सूर्य के निकट परिघ (लोहे का डंडा) की तरह पुच्छल तारा देख पड़ा ॥११॥

जग्राह सूर्यं स्वर्भानुरपर्वणि महाग्रहः ।
प्रवाति मारुतः शीघ्रंनिष्प्रभोऽभूद्दिवाकरः ॥१२॥

ग्रहण लगने का समय न होने पर भी राहु ने सूर्य को लिया। हवा भी बड़े वेग से चलने लगी। सूर्य प्रभाहीन गया ॥१२॥

उत्पेतुश्च विना रात्रिं ताराः खद्योतसप्रभाः ।
संलीनमीनविहगा नलिन्यः शुष्कपङ्कजाः ॥१३॥

रात न होने पर भी जुगनू की तरह आकाश में तारे चम गे। मछलियां जल के भीतर और पक्षी पेड़ों के पत्तों में पे। तालावों के कमल सूख गए ॥१३॥

तस्मिन् क्षणे बभूवुश्च विना पुष्पफलैर्द्रुमाः ।
उद्धूतश्च विना वातं रेणुर्जलधरारुणः ॥१४॥

उस समय वहाँ के पेड़ों के फूल और फल अपने आप ि पड़े। विना पवन के अंधड़ उठा। बादलों का रंग लाल गया ॥१४॥

---

१ कबन्धो—धूमकेतु । (रा०) २ परिघ—आयुधविशेष । (रा०)

वीचींकूचीति वाश्यन्त्यो बभूवुस्तत्र शारिकाः ।
उल्काश्चापि सनिर्घाता निपेतुर्घोरदर्शनाः ॥१५॥

मैना (पक्षी) चीची चूं चूं करने लगी कड कड शब्द के साथ भयङ्कर उल्कापात होने लगे ॥१५॥

प्रचचाल मही सर्वा सशैलवनकानना ।
खरस्य च रथस्थस्य नर्दमानस्य धीमतः ॥१६॥

जब धीमान् खर रथ में बैठा हुआ, गरजने लगा तब वन और पर्वतों के सहित पृथिवी काँप उठी ॥१६॥

प्राकम्पत भुजः सव्यः स्वरश्चास्यावसज्जत ।
सास्रा सम्पद्यते दृष्टिः पश्यमानस्य सर्वतः ॥१७॥

तब उसकी बाम भुजा फडकी । उसका स्वर बिगड गया । इधर उधर देखते हुए खर के नेत्रों से आँसू निकल पड़े ॥१७॥

ललाटे च रुजा जाता न च मोहान्न्यवर्तत ।
तान् समीक्ष्य महोत्पातानुत्थितान् रोमहर्षणान् ॥१८॥

उसके माथे में दर्द होने लगा । तो भी मोहवश वह युद्ध-क्षेत्र में जाने से न रुका । प्रत्युत इन सब रोमाञ्चकारी महाउत्पातों को देख कर भी ॥१८॥

अब्रवीद्राक्षसान् सर्वान् प्रहसन्स खरस्तदा ।
महोत्पातानिमान् सर्वानुत्थितान्घोरदर्शनान् ॥१९॥

न चिन्तयाम्यहं वीर्याद्बलवान् दुर्बलानिव ।
तारा अपि शरैस्तीक्ष्णैः पातयामि नभःस्थलात्

वह खर हँसता रहा और सब राक्षसों से बोला—इन सब भयङ्कर उत्पातों को मैं अपने पराक्रम के सामने वैसे ही कुछ भी नहीं गिनता जैसे बलवान् पुरुष अपने सामने निर्बल पुरुष को कुछ भी नहीं समझता। मैं तो अपने पैने तीरों से आकाश से तारों को गिरा सकता हूँ ॥१९॥२०॥

मृत्युं मरणधर्मेण सक्रुद्धो योजयाम्यहम्।
राघवं तं बलोत्सिक्तं भ्रातरं चास्य लक्ष्मणम् ॥२१॥

और क्रुद्ध होने पर मृत्यु को भी मार सकता हूँ। अब तो मैं अपने को बलवान् समझने वाले श्रीरामचन्द्र और उनके भाई लक्ष्मण को ॥२१॥

अहत्वा सायकैस्तीक्ष्णैर्नोपावर्तितुमुत्सहे।
सकामा भगिनी मेऽस्तु पीत्वा तु रुधिरं तयोः ॥२२॥

पैने बाणों से बिना मारे मैं लौट नहीं सकता। मेरी बहिन उन दोनों का रक्तपान कर, सफल मनोरथ होवे, ॥२२॥

यन्निमित्तस्तु रामस्य लक्ष्मणस्य विपर्ययः।
न क्वचित्प्राप्तपूर्वो मे संयुगेषु पराजयः ॥२३॥

जिसके लिए श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण की बुद्धि उल्टी हो गयी। आज तक मैं कभी किसी युद्ध मे पराजित नहीं हुआ ॥२३॥

युष्माकमेतत्प्रत्यक्षं नानृतं कथयाम्यहम्।
देवराजमपि क्रुद्धो मत्तैरावतयायिनम् ॥२४॥
वज्रहस्तं रणे हन्यां किं पुनस्तौ कुमानुषौ।
सा तस्य गर्जितं श्रुत्वा राक्षसस्य महाचमूः ॥२५॥

यह तो तुम सब लोग अपनी आँखों से देखे हुए हो। मैं मिथ्या कुछ भी नहीं कह रहा हूँ। मैं तो क्रुद्ध हो, मत्त ऐरावत पर सवार होकर चलने वाले और वज्रधारी देवराज को भी युद्ध में मार सकता हूँ। फिर इन दो दुष्ट मनुष्यों का मारना मेरे लिए कौन बड़ी बात है। इस प्रकार खर का गर्जन सुन कर, वह राक्षसों की बड़ी सेना ॥२४॥२५॥

स हर्षमतुलं लेभे मृत्युपाशावपाशिता।
समेयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षिणः ॥२६॥

जो मरणोन्मुखी थी, अत्यन्त हर्षित हुई। इधर युद्ध देखने के लिये महात्मा लोग आए ॥२६॥

ऋषयो देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः।
समेत्य चोचुः सहितास्तेऽन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥२७॥

उन आने वालों में ऋषि, देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारणों के अतिरिक्त और भी अन्य पुण्यात्मा जन वहाँ एकत्र हो कर कहने लगे ॥२७॥

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्योऽस्तु लोकानां येऽभिसङ्गताः[१]।
जयतां राघवः संख्ये पौलस्त्यान् रजनीचरान् ॥२८॥
चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानसुरपुङ्गवान्।
एवमन्यच्च बहुशो ब्रुवाणाः परमर्षयः ॥२९॥

जिस प्रकार चक्रधारी भगवान विष्णु ने समस्त बड़े बड़े असुरों का वध किया था—उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी इन पुलस्त्य कुलोत्पन्न राक्षसों को जीत कर, गौओं, ब्राह्मणों तथा लोकों का मङ्गल करें। परमर्षियों ने ऐसे तथा और भी अनेक प्रकार के वचन आपस में कहे ॥२८॥२९॥

---

१ [illegible] —[illegible] । (गो०)

वह खर हँसता रहा और सब राक्षसों से बोला—इन सब भयङ्कर उत्पातों को मैं अपने पराक्रम के सामने वैसे ही कुछ भी नहीं गिनता जैसे बलवान् पुरुष अपने सामने निर्बल पुरुष को कुछ भी नहीं समझता। मैं तो अपने पैने तीरों से आकाश से तारों को गिरा सकता हूँ ॥१६॥२०॥

मृत्युं मरणधर्मेण संक्रुद्धो योजयाम्यहम्।
राघवं तं बलोत्सिक्तं भ्रातरं चास्य लक्ष्मणम् ॥२१॥

और क्रुद्ध होने पर मृत्यु को भी मार सकता हूँ। अब तो मैं अपने को बलवान् समझने वाले श्रीरामचन्द्र और उनके भाई लक्ष्मण को ॥२१॥

अहत्वा सायकैस्तीक्ष्णैर्नोपावर्तितुमुत्सहे।
सकामा भगिनी मेऽस्तु पीत्वा तु रुधिरं तयोः ॥२२॥

पैने बाणों से बिना मारे मैं लौट नहीं सकता। मेरी बहिन उन दोनों का रक्तपान कर, सफल मनोरथ होवे, ॥२२॥

यन्निमित्तस्तु रामस्य लक्ष्मणस्य विपर्ययः।
न क्वचित्प्राप्तपूर्वो मे संयुगेषु पराजयः ॥२३॥

जिसके लिए श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण की बुद्धि उल्टी हो गयी। आज तक मैं कभी किसी युद्ध में पराजित नहीं हुआ ॥२३॥

युष्माकमेतत्प्रत्यक्षं नानृतं कथयाम्यहम्।
देवराजमपि क्रुद्धो मत्तैरावतयायिनम् ॥२४॥
वज्रहस्तं रणे हन्यां किं पुनस्तौ कुमानुषौ।
सा तस्य गर्जितं श्रुत्वा राक्षसस्य महाचमूः ॥२५॥

यह तो तुम सब लोग अपनी आँखों से देखे हुए हो। मैं मिथ्या कुछ भी नहीं कह रहा हूँ। मैं तो क्रुद्ध हो, मत्त ऐरावत पर सवार होकर चलने वाले और वज्रधारी देवराज को भी युद्ध में मार सकता हूँ। फिर इन दो दुष्ट मनुष्यों का मारना मेरे लिए कौन बड़ी बात है। इस प्रकार खर का गर्जन सुन कर, वह राक्षसों की बड़ी सेना ॥२४॥२५॥

प्रहर्षमतुलं लेभे मृत्युपाशावपाशिता।
समीयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षिणः ॥२६॥

जो मरणोन्मुखी थी, अत्यन्त हर्षित हुई। उधर युद्ध देखने के लिये महात्मा लोग आए ॥२६॥

ऋषयो देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः।
समेत्य चोचुः सहितास्तेऽन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥२७॥

उन आने वालों में ऋषि देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारणों के अतिरिक्त और भी अन्य पुण्यात्मा जन वहाँ एकत्र हो कर कहने लगे ॥२७॥

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्योऽस्तु लोकानां येऽभिसङ्गताः[1]।
जयतां राघवः संख्ये पौलस्त्यान् रजनीचरान् ॥२८॥
चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानसुरपुङ्गवान्।
एतच्चान्यच्च बहुशो ब्रुवाणाः परमर्षयः ॥२९॥

जिस प्रकार चक्रपाणि भगवान विष्णु ने समस्त बड़े बड़े दैत्यों को जीत लिया था—उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी इन पुलस्त्य वंशी राक्षसों को जीत कर गौओं, ब्राह्मणों तथा [illegible] का मङ्गल करें। परमर्षियों ने ऐसे तथा और भी [illegible] कौतूहल से कहे ॥२८॥२९॥

---

[1] [illegible] —[illegible]। (गो०)

जातकौतूहलास्तत्र विमानस्थाश्च देवताः ।
ददृशुर्वाहिनीं तेषां राक्षसानां गतायुषाम् ॥३०॥

कूतूहलवश विमानो मे बैठे हुए देवता गण, गतायु राक्षसों की सेना को देखने लगे ॥३०॥

रथेन तु खरो वेगादुग्रसैन्यो विनिःसृतः ।
तं दृष्ट्वा राक्षसं भूयो राक्षसाश्च विनिःसृताः ॥३१॥

खर अपना रथ सेना के आगे ले गया। उसको आगे जाते देख, उसके अङ्गरक्षक बारह राक्षस भी उसके साथ आगे बढ़े ॥३१॥

श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहङ्गमः ।
दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः ॥३२॥
मेघमाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः ।
द्वादशैते महावीर्याः प्रतस्थुरभितः खरम् ॥३३॥

उस समय उसको घेर कर बारह बड़े पराक्रमी राक्षस चले। उन राक्षसो के नाम थे १ श्येनगामी, २ पृथुग्रीव, ३ यज्ञशत्रु, ४ विहङ्गम ५ दुर्जय, ६ करवीराक्ष, ७ परुष, ८ कालकार्मुक, ९ मेघमाली, १० महामाली, ११ सर्पास्य और १२ रुधिराशन ॥३२॥३३॥

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथी त्रिशिरास्तथा ।
चत्वार एते सेनान्यो दूषणं पृष्ठतो ययुः ॥३४॥

महाकपाल, स्थूलाक्ष, प्रमाथी और त्रिशिरा, ये चार सेनापति दूषण के पीछे पीछे चले जाते थे ॥३४॥

सा भीमवेगा समराभिकामा
महाबला राक्षसवीरसेना ।

तौ राजपुत्रौ सहसाऽभ्युपेता
माला ग्रहाणामिव चन्द्रसूर्यौ ॥३५॥

इति त्रयोविंश सर्ग ॥

जिस प्रकार ग्रहों की माला सूर्य और चन्द्रमा को घेरती है इसी प्रकार भयङ्कर वेगवाली और युद्ध की अभिलाषा रखने वाली राक्षसों की महाबलवती वीर सेना ने सहसा जा कर राजकुमारों को घेर लिया ॥३५॥

अरण्यकाण्ड का तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

— ❀ —

चतुर्विंशः सर्गः

— ❀ —

आश्रमं प्रतियाते तु खरे खरपराक्रमे।
तानेवौत्पातिकान् रामः सह भ्रात्रा ददर्श ह ॥१॥

जब कठोर पराक्रमी खर श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम की ओर चला तब उसके चलने के समय जो अपशकुन अथवा अमङ्गल सूचक उत्पात हुए थे, उन्हें श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने देखा ॥१॥

तानुत्पातान् महाघोरानुत्थितान् रोमहर्षणान्।
प्रजानामहितान् दृष्ट्वा वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥२॥

इन रोमकम्पकारी घोर उत्पातों को जो प्रजाजनों के लिए अहितकारी थे देख कर श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥२॥

इमान् पश्य महाबाहो सर्वभूतापहारिणः ।
समुत्थितान् महोत्पातान् संहर्तुं सर्वराक्षसान् ॥३॥

हे महाबाहो ! देखो, ये सब प्राणिनाशक उत्पात, राक्षसकुल का संहार करने के लिए हो रहे हैं ॥३॥

अमी रुधिरधारास्तु विसृजन्तः खरस्वनान् ।
व्योम्नि मेघा विवर्तन्ते[1] परुषा गर्दभारुणाः ॥४॥

गधे के समान, मटमैले रंग वाले बादल, आकाश में इधर उधर दौड़ कर, भयङ्कर शब्द के साथ, रुधिर बरसा रहे हैं ॥ ४ ॥

सधूमाश्च शराः सर्वे मम युद्धाभिनन्दिनः ।
रुक्मपृष्ठानि चापानि[2] विवेष्टन्ते* च लक्ष्मण ॥५॥

हे लक्ष्मण ! देखो मेरे बाणों से धुआँ निकल रहा है, मानो युद्ध होने का ये आनन्द मना रहे हैं और सुवर्ण से भूषित पीठ वाले मेरे धनुष चलायमान हो रहे हैं ॥ ५ ॥

यादृशा[3] इह कूजन्ति पक्षिणो वनचारिणः ।
अग्रतो नो भयं प्राप्तं संशयो जीवितस्य च ॥६॥

इन वनचारी पक्षियों के इस प्रकार बोलने से, ऐसा जान पड़ता है कि, शीघ्र ही भय उपस्थित होने वाला है। यही क्यों, प्रत्युत प्राण-सङ्कट मालूम होता है ॥ ६ ॥

सम्प्रहारस्तु[4] सुमहान् भविष्यति न संशयः ।
अयमाख्याति मे बाहुः स्फुरमाणो मुहुर्मुहुः ॥७॥

---

१ विवर्तन्त—सञ्चरन्ति । (गो०) २ विवेष्टन्ते—चलन्ति । (गो०)
३ यादृशाः—प्रसिद्धाः । (गो०) ४ सम्प्रहार —युद्ध । (गो०)

* पाठान्तरे—"विवर्तन्ते" ।

निस्सन्देह महासमर होगा। किन्तु मेरे दक्षिण बाहु का बार बार फड़कना यह बतलाता है कि ॥ ७ ॥

सन्निकर्षे तु नः शूर जयं शत्रोः पराजयम् ।
सप्रभ च प्रसन्नं च तव वक्त्रं हि लक्ष्यते ॥८॥

हे शूर! शीघ्र ही मेरा विजय और शत्रुओं का पराजय होने वाला है। (इस अनुमान की पुष्टि इससे भी हो रही है कि,) तुम्हारा मुख कान्तिमय और हर्षित देख पड़ता है ॥ ८ ॥

उद्यताना हि युद्धार्थं येषा भवति लक्ष्मण ।
निष्प्रभ वदन तेषा भवत्यायुःपरिक्षयः । ॥९॥

हे लक्ष्मण! युद्ध के लिए उद्यत पुरुषों का मुख यदि प्रभाहीन देख पड़े तो जानना चाहिए कि, उनका आयु क्षीण हो चुका है अर्थात् युद्ध में वे अवश्य मारे जायेंगे ॥९॥

रक्षसा नर्दता घोरः श्रूयते च महाध्वनिः ।
आहताना च भेरीणा राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥१०॥

राक्षसों के गर्जने की ध्वनि भी सुनाई पड़ती है और क्रूरकर्मा राक्षसों के [illegible] नगाड़ों की भी [illegible] ध्वनि सुनाई दे रही है ॥१०॥

अनागतविधान तु कर्तव्य शुभमिच्छता ।
आपद शङ्कमानेन पुरुषेण विपश्चिता ॥११॥

[illegible]

तस्माद्गृहीत्वा वैदेहीं शरपाणिर्धनुर्धरः ।
गुहामाश्रय शैलस्य दुर्गा पादपसङ्कुलाम् ॥१२॥

अतएव हाथ मे धनुष बाण ले तथा सीता जी को साथ ले, तुम वृक्षों की झुरमुट मे छिपी हुई किसी दुर्गम पर्वतकन्दरा मे शीघ्र जा बैठो ॥१२॥

प्रतिकूलितुमिच्छामि न हि वाक्यमिदं त्वया ।
शापितो मम पादाभ्यां गम्यतां वत्स मा चिरम् ॥१३॥

मै यह नहीं चाहता कि, तुम मेरे कथन के प्रतिकूल कुछ कहो। हे वत्स ! तुम्हें मेरे चरणो का शपथ है। तुम शीघ्र जानकी को ले कर, गिरिकन्दरा मे चले जाओ ॥१३॥

त्वं हि शूरश्च बलवान् हन्या ह्येतान्न संशयः ।
स्वयं तु हन्तुमिच्छामि सर्वानेव निशाचरान् ॥१४॥

इसमे सन्देह नहीं कि, तुम शूर हो और बलवान हो और (तुम अकेले ही) इन सब राक्षसों का वध कर सकते हो। किन्तु मैं स्वय ही इन सब राक्षसो को मारना चाहता हूँ ॥१४॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः सह सीतया ।
शरानादाय चापं च गुहां दुर्गा समाश्रयत् ॥१५॥

जब श्रीराम ने यह कहा, तब लक्ष्मण जी अपने साथ सीताजी को ले और हाथ मे धनुर्बाण धारण कर, पर्वत की एक दुर्गम गुफा मे चले गए ॥१५॥

तस्मिन् प्रविष्टे तु गुहां लक्ष्मणे सह सीतया ।
हन्त निर्युक्तमित्युक्त्वा रामः कवचमाविशत् ॥१६॥

जब सीता जी को साथ ले लक्ष्मण जी गिरिगुहा में चले गए तब श्रीरामचन्द्र जी इस बात से कि, लक्ष्मण ने उनका कहना मान लिया, प्रसन्न हुए और उन्होंने कवच (ज़िरह बख्तर) धारण किया ॥१६॥

स तेनाग्निनिकाशेन कवचेन विभूषितः ।
बभूव रामस्तिमिरे विधूमोऽग्निरिवोत्थितः ॥१७॥

अग्नि की तरह चमचमाते कवच को धारण करने से, श्रीरामचन्द्र जी उसी प्रकार शोभित हुए, जिस प्रकार अन्धकार में प्रज्वलित अग्नि की ज्वाला शोभित होती है ॥१७॥

स चापमुद्यम्य महच्छरानादाय वीर्यवान् ।
बभूवावस्थितस्तत्र ज्यास्वनैः पूरयन्दिशः ॥१८॥

तदनन्तर वीर्यवान श्रीरामचन्द्र जी धनुष को उठा, बाणों को ले, धनुष के रोदे की टङ्कार से दशों दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए खड़े हो गये ॥१८॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ।
समेयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षिणः ॥१९॥

इसके अनन्तर, युद्ध देखने की इच्छा से देवता, गन्धर्व, सिद्ध, चारण और महात्मा लोग इकट्ठे हुए ॥१९॥

ऋषयश्च महात्मानो लोके ब्रह्मर्षिसत्तमाः ।
समेत्य चोचुः सहिता ह्यन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥२०॥

[illegible] पुण्यात्मा [illegible] आपस में कहने लगे ॥२०॥

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्योऽस्तु लोकानां येऽभिसङ्गताः ।
जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान् रजनीचरान् ॥२१॥

गौ, ब्राह्मण और साधुओं का मङ्गल हो और श्रीरामचन्द्र जी युद्ध में पुलस्त्यवंशी निशाचरों को (इसी प्रकार) जीते ॥२१॥

चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानसुरपुङ्गवान् ।
एवमुक्त्वा पुनः प्रोचुरालोक्य च परस्परम् ॥२२॥

जिस प्रकार हाथ में चक्र ले, विष्णु भगवान् ने सब श्रेष्ठ असुरों को जीता था। यह कह कर और आपस में एक दूसरे को देख, वे लोग फिर कहने लगे ॥२२॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति ॥२३॥

इन चौदह हजार भीमकर्मा राक्षसों के साथ, अकेले श्रीरामचन्द्र कैसे युद्ध कर सकेंगे ? ॥२३॥

इति राजर्षयः सिद्धाः सगणाश्च द्विजर्षभाः ।
जातकौतूहलास्तस्थुर्विमानस्थाश्च देवताः ॥२४॥

राजर्षि, सिद्ध, परिकरसहित ब्राह्मण श्रेष्ठ और विमानों में बैठे देवतागण, कौतूहलाक्रान्त हो, वहाँ उपस्थित थे ॥२४॥

आविष्टं तेजसा रामं संग्रामशिरसि[1] स्थितम् ।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि भयाद्विव्यथिरे तदा ॥२५॥

उस समय तेजस्वी और संग्राम के लिए तैयार श्रीरामचन्द्र जी को खड़ा देख, प्राणिमात्र ही त्रस्त हो, दुःखी हुए ॥२५॥

---

१ संग्रामशिरसि—युद्धाग्रे । (गो०)

रूपमप्रतिमं तस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
बभूव रूपं क्रुद्धस्य रुद्रस्येव पिनाकिनः ॥२६॥

क्योंकि उस समय अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी का अनुपम रूप ऐसा देख पड़ता था, जैसा क्रुद्ध और धनुषधारी रुद्र का होता है ॥२६॥

इति सम्भाष्यमाणे तु देवगन्धर्वचारणैः ।
ततो गम्भीरनिर्ह्रादं घोरवर्मायुधध्वजम् ॥२७॥
अनीकं यातुधानानां समन्तात्प्रत्यदृश्यत ।
सिंहनादं विसृजतामन्योन्यमभिगर्जताम्[1] ॥२८॥

देवता, गन्धर्व और चारण इस प्रकार आपस में बातचीत कर ही रहे थे कि, इतने में महागम्भीर शब्द करती तथा कवच आयुध धारण किए तथा ध्वजा फहराती हुई राक्षसों की सेना, चारों ओर से आती हुई देख पड़ी। इस सेना में राक्षस वीर सिंहनाद कर रहे थे और आपस में कह रहे थे कि, हम शत्रु को मारेंगे हम शत्रु को मारेंगे ॥२७॥२८॥

चापानि विस्फारयतां जृम्भतां चाप्यभीक्ष्णशः ।
विप्रघुष्टस्वनानां च दुन्दुभींश्चापि निघ्नताम् ॥२९॥

उनमें से कोई कोई अपने धनुषों को बार बार टंकोरते थे। कोई कोई जंभाई लेते थे और कोई कोई उच्च स्वर से चिल्लाते थे और कोई कोई नगाड़े बजा रहे थे ॥२९॥

तेषां सुतुमुलः शब्दः पूरयामास तद्वनम् ।
तेन शब्देन वित्रस्ताः श्वापदा वनचारिणः ॥३०॥

[1] [illegible]

उन राक्षसो ने ऐसा घोर कोलाहल किया कि, वह समस्त वन उस कोलाहल से प्रतिध्वनित होने लगा और उसे सुन कर, वनचारी जीव डर गए ॥३०॥

दुद्रुवुर्यत्र निःशब्दं पृष्ठतो न व्यलोकयन् ।
तत्त्वनीकं महावेगं रामं समुपसर्पत ॥३१॥

और जिस ओर कोलाहल का शब्द नहीं सुन पड़ता था, उस ओर भागे जाते थे और उनमे से कोई पीछे मुड कर नहीं देखता था। उस ओर वह राक्षसी सेना बडे वेग के साथ श्रीरामचन्द्र जी के समीप आ पहुँची ॥३१॥

धृतनानाप्रहरणं गम्भीरं सागरोपमम् ।
रामोऽपि चारयंश्चक्षुः सर्वतो रणपण्डितः ॥३२॥

उस सेना के योद्धा तरह तरह के हथियार लिए हुए थे वह सेना गम्भीर समुद्र की तरह उफनाती हुई आ पहुँची। तब रण-विद्या मे निपुण श्रीरामचन्द्र जी ने अपने चारो ओर देखा ॥३२॥

ददर्श खरसैन्यं तद्युद्धाभिमुखमुत्थितम् ।
वितत्य च धनुर्भीमं तूण्योश्चोद्धृत्य सायकान् ॥३३॥
क्रोधमाहारयत्तीव्रं वधार्थं सर्वरक्षसाम् ।
दुष्प्रेक्षः सोऽभवत्क्रुद्धो युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ३४॥

श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, खर का सेना, लडने के लिए, चली आती है। तब श्रीरामचन्द्र जी, अपने भङ्कर धनुष को उठा और तरकस से बाणों को निकाल, सब राक्षसो का बध करने के लिए अत्यन्त क्रुद्ध हुए। उस समय क्रोध मे भरे श्रीराम-चन्द्र जी की ओर देखना, उसी प्रकार दुष्कर था, जिस प्रकार प्रलयकालीन अग्नि को देखना दुष्कर होता है ॥३३॥३४॥

तं दृष्ट्वा तेजसाऽऽविष्टं प्राद्रवन् वनदेवताः ।
तस्य क्रुद्धस्य रूपं तु रामस्य ददृशे तदा ।
दक्षस्येव क्रतुं हन्तुमुद्यतस्य पिनाकिनः ॥३५॥

तेजोयुक्त श्रीरामचन्द्र जी को देख, वनदेवता भाग खड़े हुए। उस समय क्रुद्ध हुए श्रीरामचन्द्र जी का रूप ऐसा जान पड़ता था, मानो दक्षयज्ञ को विध्वंस करने को उद्यत शिव जी का रूप हो गया था ॥३५॥

आविष्टं तेजसा रामं संग्रामशिरसि स्थितम् ।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि भयार्तानि प्रदुद्रुवुः ॥३६॥

तेज से आविष्ट श्रीरामचन्द्र जी को युद्धार्थ खड़ा देख सब लोग डर कर इधर उधर भाग गए ॥३६॥

तत्कार्मुकैराभरणैर्ध्वजैश्च
तैर्वर्मभिश्चाग्निसमानवर्णैः ।
बभूव सैन्यं पिशिताशनानां
सूर्योदये नीलमिवाभ्रवृन्दम् ॥३७॥

[illegible]

[illegible] ॥३७॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

—❀—

अवष्टब्धधनुं रामं क्रुद्धं च रिपुघातिनम् ।
ददर्शाश्रममागम्य खरः सह पुरःसरैः ॥१॥

अपने साथियों सहित खर ने श्रीरामाश्रम में जा, श्रीरामचन्द्र जी को क्रुद्ध हो, हाथ में धनुष लिए और शत्रुओं का वध करने को उद्यत देखा ॥१॥

तं दृष्ट्वा सशरं चापमुद्यम्य खरनिःस्वनम् ।
रामस्याभिमुखं सूत चोद्यतामित्यचोदयत् ॥२॥

यह देख, उसने बाण सहित धनुष उठा, सारथी से उच्चस्वर से कहा कि श्रीरामचन्द्र के सामने रथ ले चलो ॥२॥

स खरस्याज्ञया सूतस्तुरगान् समचोदयत् ।
यत्र रामो महाबाहुरेको धुन्वन् स्थितो धनुः ॥३॥

खर की आज्ञा के अनुसार सारथी ने घोड़े हाँके और वह रथ वहाँ ले गया, जहाँ पर महाबाहु श्रीराम धनुष को टंकोरते हुए अकेले खड़े थे ॥३॥

तं तु निष्पतितं दृष्ट्वा सर्वे ते रजनीचराः ।
नर्दमाना महानादं सचिवाः पर्यवारयन् ॥४॥

खर को श्रीरामचन्द्र जी के सामने जाते देख, उसके समस्त राक्षस सैनिक और सचिव गर्जना करते उसके पास जा और उसे घेर कर, खड़े हो गए ॥४॥

स तेषां यातुधानानां मध्ये रथगतः खरः ।
बभूव मध्ये ताराणां लोहिताङ्ग इवोदितः ॥५॥

तब रथ पर चढा हुआ खर, राक्षसों के बीच ऐसा देख पडता था मानों तारों के बीच मङ्गल का तारा हो ॥५॥

ततः शरसहस्रेण राममप्रतिमौजसम् ।
अर्दयित्वा महानादं ननाद समरे खरः ॥६॥

खर ने एक हजार बाणों से श्रीरामचन्द्र जी को पीडित कर बड़े जोर से गर्जना की ॥६॥

ततस्तं भीमधन्वानं क्रुद्धाः सर्वे निशाचराः ।
रामं नानाविधैः शस्त्रैरभ्यवर्षन्त दुर्जयम् ॥७॥

तब तो सब राक्षस क्रुद्ध हो महा-धनुर्धर एवं दुर्जय श्रीराम-चन्द्र जी के ऊपर तरह तरह के शस्त्रों की वर्षा करने लगे ॥७॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः प्रासैः खड्गैः परश्वधैः ।
राक्षसाः समरे रामं निजघ्नू रोषतत्पराः ॥८॥

[illegible] श्रीरामचन्द्र जी को [illegible] से मारने लगे ॥८॥

ते बलाहकसंकाशा महानादा महौजसः ।
अभ्यधावन्त काकुत्स्थं रथैर्वाजिभिरेव च ॥९॥

[illegible]
[illegible] ॥१०॥

वे सब राक्षस जो वडे वलवान और मेघ के समान गर्जना कर रहे थे, रथों, घोड़ो और पर्वत समान हाथियों को दौडा कर, श्रीरामचन्द्र जी को मार डालने के लिए उन पर वाणो की वर्षा कर, आक्रमण करने लगे ॥६॥॥१०॥

शैलेन्द्रमिव धाराभिर्वर्षमाणाः वलाहकाः ।
स तैः परिवृतो घोरैं राघवो रक्षसां गणैः ॥११॥

जैसे मेघ, पर्वतों पर जल की वर्षा करते हैं, वैसे ही राक्षसों ने श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर वाणों की वर्षा की। उस समय उन भयङ्कर राक्षसो ने श्रीरामचन्द्र जी को घेर लिआ ॥११॥

तानि मुक्तानि शस्त्राणि यातुधानैः स राघवः ।
प्रतिजग्राह[१] विशिखैर्नद्योघानिव[२] सागरः ॥१२॥

राक्षसो के फेके हुए शस्त्रों को श्रीरामचन्द्र जी ने उसी प्रकार अपने वाणो से रोका, जिस प्रकार समुद्र नदियों की धारों को रोकता है ॥१२॥

स तैः प्रहरणैर्घोरैर्भिन्नगात्रो न विव्यथे ।
रामः प्रदीप्तैर्बहुभिर्वज्रैरिव महाचलः ॥१३॥

उनके फेके शस्त्रों के प्रहार से घायल हो कर भी श्रीरामचन्द्र जी वैसे ही व्यथित न हुए, जैसे जाज्वल्यमान बहुत से वज्रों के गिरने से हिमालय पर्वत व्यथित नहीं होता ॥१३॥

स विद्धः क्षतजैर्दिग्धः[३] सर्वगात्रेषु राघवः ।
बभूव रामः सन्ध्याभ्रैर्दिवाकर इवावृतः ॥१४॥

---

१ प्रतिजग्राह—प्रतिरुरोध । (गो०) नद्योघान्—नदीप्रवाहान् । (गो०) ३ क्षतजदिग्ध रुधिरालिप्त । (गो०)

उस समय श्रीरामचन्द्र के समस्त अंगों के घायल हो जाने और घावों से रुधिर बहने के कारण वे ऐसे जान पड़ते थे, जैसे सन्ध्या काल में मेघों से घिरा हुआ सूर्य हो ॥१४॥

विषेदुर्देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
एकं सहस्रैर्बहुभिः[1]तदा दृष्ट्वा समावृतम् ॥१५॥

अकेले श्रीरामचन्द्र जी को चौदह हज़ार राक्षसों से घिरा देख, देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि गण दुखी हुए ॥१५॥

ततो रामः सुसंक्रुद्धो मण्डलीकृतकार्मुकः ।
ससर्ज विशिखान् बाणाञ्शतशोऽथ सहस्रशः ॥१६॥

तब तो श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त क्रुद्ध हो, अपने धनुष को मण्डलाकार कर, सैकड़ों हज़ारों पैने बाण छोड़े ॥१६॥

दुरावारान् दुर्विषहान्[2]कालदण्डोपमान् रणे ।
मुमोच लीलया रामः कङ्कपत्रानजिह्मगान्[3] ॥१७॥

रणक्षेत्र में ये बाण कालदण्ड की तरह न तो किसी के रोके रुकते थे और न उनकी मार कोई सह ही सकता था। श्रीरामचन्द्र जी ने अनायास (अर्थात् खेल ही खेल में) सुवर्ण भूषित [illegible] कङ्कपत्र से युक्त तथा अपनी सीध पर जाने वाले हज़ारों बाण छोड़े ॥१७॥

ते शराः शत्रुसैन्येषु मुक्ता रामेण लीलया ।
आददू रक्षसां प्राणान् पाशाः कालकृता इव ॥१८॥

[illegible]

श्रीरामचन्द्र जी के अनायास फेंके बाणों ने, कालपाश की तरह, राक्षसों के प्राण हरण किए ॥१८॥

भित्त्वा राक्षसदेहांस्तांस्ते शरा रुधिराप्लुताः ।
अन्तरिक्षगता रेजुर्दीप्ताग्निसमतेजसः ॥१६॥

श्रीरामचन्द्र जी के फेंके बाण राक्षसों के शरीर को भेद और ख़ून से तर हो, आकाश में जा, जाज्वल्यमान अग्नि की तरह शोभायमान हुए ॥१६॥

असंख्येयास्तु रामस्य सायकाश्चापमण्डलात् ।
विनिष्पेतुरतीवोग्रा रक्षःप्राणापहारिणः ॥२०॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के धनुषमण्डल से अगणित बाण, जो अति उग्र थे और राक्षसों के लिए प्राणनाशक थे, छूट रहे थे ॥२०॥

ते रथो साङ्गदान् बाहून् सहस्ताभरणान् भुजान् ।*
धनूंपि च ध्वजाग्राणि वर्माणि च शिरांसि च ॥२१॥

राक्षसों के बाजूबन्दों सहित बाहुओं और हाथ में पहिनने के गहनों सहित भुजाओं, धनुषों, ध्वजाओं के अग्रभागों, कवचों और शिरों को श्रीरामचन्द्र के बाणों ने काट गिराया ॥२१॥

चिच्छिदुर्विभिदुश्चापि रामचापगुणाच्युता ।
बाहून् सहस्ताभरणानूरून् करिकरोपमान् ॥२२॥

श्रीरामचन्द्र जी के धनुष के रोदे से छूटे हुए बाणों ने राक्षसों के हाथ में पहनने योग्य आभूषणों सहित बाहुओं और हाथी की तरह जंघाओं को छिन्न भिन्न कर डाला ॥२२॥

---

* पाठान्तरे—"चर्माणि" ।

† २१ वे श्लोक का यह पाठ कई संस्करणों में नहीं पाया जाता ।

चिच्छेद रामः समरे शतशोथ सहस्रशः ।
हयान् काञ्चनसन्नाहान् रथयुक्तान् ससारथीन् ॥२३॥

श्रीरामचन्द्र जी ने इस युद्ध में सैकड़ों हजारों काञ्चन भूषित रथों में जुते हुए घोड़ों को सारथी सहित काट कर गिरा दिया ॥२३॥

गजांश्च सगजारोहान् सहयान् सादिनस्तथा ।
पदातीन् समरे हत्वा ह्यनयद्यमसादनम् ॥२४॥

श्रीरामचन्द्र जी ने हाथियों को उनके सवारों सहित तथा घोड़ों को घुड़सवारों सहित और पैदल सैनिकों को मार कर यमालय भेज दिया ॥२४॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः ।
भीमैरार्तस्वरं चक्रुर्भिद्यमाना निशाचराः ॥२५॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

केचिद्भीमबलाः शूराः शूलान् खड्गान् परश्वधान् ।
रामस्याभिमुखं गत्वा चिक्षिपुः परमायुधान्[१] ॥२७॥

राक्षससेना के किसी किसी बलवान शूर योद्धा ने, श्रीरामचन्द्र जी के सामने जा, उन पर अपने बडे बड़े आयुध—यथा त्रिशूल, तलवारें और फरसे चलाए ॥२७॥

तानि बाणैर्महाबाहुः शस्त्राण्यावार्य राघवः ।
जहार समरे प्राणांश्चिच्छेद च शिरोधरान् ॥२८॥

परन्तु श्रीरामचन्द्र जी ने अपने बाणों से केवल उनके फेंके शस्त्रों को ही नहीं काट कर गिराया, प्रत्युत उन उन चलाने वालों के सिरों को काट कर, उनको मार भी डाला ॥२८॥

ते छिन्नशिरसः पेतुश्छिन्नवर्मशरासनाः ।
सुपर्णवातविक्षिप्ता जगत्यां पादपा यथा ॥२९॥

वे राक्षस सिरों के कट जाने से, कटे हुए कवचों और धनुषों को लिए हुए ऐसे गिरे, जैसे गरुड जी के पखों की हवा के झोंकों से वृक्ष उखड कर, जमीन पर गिर पड़ते हैं ॥२९॥

अवशिष्टाश्च ये तत्र विषण्णा[२]श्च निशाचराः ।
खरमेवाभ्यधावन्त शरणार्थं[३] शरार्दिताः ॥३०॥

जो राक्षस मारे जाने से बच गए थे वे बाणों की मार से पीडित हो रक्षा के लिए खर की ओर दौडे ॥३०॥

तान् सर्वान् पुनरादाय समाश्वास्य च दूषणः ।
अभ्यधावत काकुत्स्थं क्रुद्धो रुद्रमिवान्तकः[४] ॥३१॥

---

१ परमायुधानिति शूलादि विशेषणं । (गो०) २ विषण्णा — दुःखिता. । (गो०) ३ शरणार्थं—रक्षणार्थं (गो०) ५ रुद्रमिवान्तक — रुद्रपराजितोपमः । (गो०)

दूषण ने उन सब को धीरज बँधाया और उनको अपने साथ ले, वह रुद्र से पराजित क्रुद्ध यमराज की तरह, श्रीरामचन्द्र जी की ओर दौड़ा ॥३१॥

निवृत्तास्तु पुनः सर्वे दूषणाश्रयनिर्भयाः।
राममेवाभ्यधावन्त सालतालशिलायुधाः ॥३२॥

दूषण का सहारा पा कर वे सब भागे हुए राक्षस निर्भीक हो और साल, ताल (वृक्ष विशेष) एवं शिला रूपी आयुधों को ले, फिर श्रीरामचन्द्र जी के सामने गए ॥३२॥

शूलमुद्गरहस्ताश्च चापहस्ता महाबलाः।
सृजन्तः शरवर्षाणि शस्त्रवर्षाणि संयुगे[1] ॥३३॥

वे महाबली राक्षस हाथों में त्रिशूलों, मुगदरों और धनुषों को ले, श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर युद्धक्षेत्र में बाणों और शस्त्रों की वर्षा करने लगे ॥३३॥

द्रुमवर्षाणि मुञ्चन्तः शिलावर्षाणि राक्षसाः।
तद्बभूवाद्भुतं युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥३४॥

राक्षसों ने वृक्षों और शिलाओं की श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर वर्षा की। उस समय अपूर्व अद्भुत और रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ ॥३४॥

रामस्य च महाघोरं पुनस्तेषां च रक्षसाम्।
ते समन्तादभिक्रुद्धा राघवं पुनरभ्ययुः ॥३५॥

[illegible] हुआ। [illegible] श्रीरामचन्द्र जी पर [illegible] ॥३५॥

१ संयुगे—[illegible]। [illegible]

वा० रा० अ०—१३

तैश्च सर्वा दिशो दृष्ट्वा प्रदिशश्च समावृताः ।
राक्षसैरुद्यतप्रासैः शरवर्षाभिवर्षिभिः ॥३६॥
स कृत्वा भैरव नादमस्त्रं परमभास्वरम् ।
संयोजयत गान्धर्वं राक्षसेषु महाबलः ॥३७॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, सब दिशाएँ और विदिशाएँ राक्षसों से भरी हुई हैं और राक्षस मेरे ऊपर चारो ओर से, प्रास और बाणों की वर्षा करने को उद्यत हैं, तब उन्होंने बड़ा भयकर नाद कर, प्रज्वलित गान्धर्वास्त्र को राक्षसों पर छोड़ने के लिए धनुप पर रखा ॥३६॥३७॥

ततः शरसहस्राणि निर्ययुश्चापमण्डलात्[1] ।
सर्वा दश दिशो बाणैरावार्यन्त समागतैः ॥३८॥

उस समय गन्धर्वास्त्र से हजारों बाण निकले, जिनसे दसों दिशाएँ ढक गई ॥३८॥

नाददानं शरान् घोरान्न मुञ्चन्त शिलीमुखान् ।
विकर्षमाणं पश्यन्ति राक्षसास्ते शरार्दिताः ॥३९॥

श्रीरामचन्द्र जी ऐसी फुर्ती से बाण छोड़ रहे थे कि बाणों से पीडित राक्षसों को यह न मालूम पडता था कि, श्रीरामचन्द्र जी कब भयकर पैने बाणों को तरकस से निकालते और कब छोड़ते थे ॥३९॥

शरान्धकारमाकाशमावृणोत्सदिवाकरम् ।
बभूवावस्थितो रामः प्रवमन्निव ताञ्शरान् ॥४०॥

---

१ चापमण्डलात्—सहितगान्धर्वस्त्रात् । (गो०)

उन बाणों ने आकाश को ढक लिया और सूर्य के ढक जाने से अंधकार छा गया। किन्तु तिस पर भी श्रीरामचन्द्र जी धीर भाव से खड़े हुए उन पर बाणों की वर्षा करते ही रहे ॥४०॥

युगपत्पतमानैश्च युगपच्च हतैर्भृशम् ।
युगपत्पतितैश्चैव विकीर्णा वसुधाभवत् ॥४१॥

उन बाणों से कितने ही राक्षस एक साथ गिर पड़ते, कितने ही अत्यन्त आहत (घायल) होते और बहुत से एक साथ ही मूर्छित हो गिर पड़ते थे। उनके शरीरों से (रणभूमि) ढक गई ॥४१॥

निहताः[1] पतिताः[2] क्षीणाश्[3]छिन्ना[4]भिन्ना[5]विदारिताः[6] ।
तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते राक्षसास्ते सहस्रशः ॥४२॥

उस रणाङ्गण में हजारों राक्षस जिधर देखो उधर ही युद्ध में मारे गए दिखलाई पड़े जो भयभीत हो भूमि पर पड़े थे, और उनके प्राण कण्ठ में अटके हुए थे इनमें से किसी किसी के तो शरीर के दो दो टुकड़े हो गए थे। अनेक ऐसे भी थे जिनके कट कट कर टुकड़े टुकड़े हो गए थे और जिनके पेट फटे हुए थे ॥४२॥

सोष्णीषैरुत्तमाङ्गैश्च साङ्गदैर्बाहुभिस्तथा ।
ऊरुभिर्जानुभिश्छिन्नैर्नानारूपविभूषणैः ॥४३॥

कहीं पर राक्षसों के पगड़ी सहित कटे सिर, कहीं पर उनकी बाजूबन्द सहित कटी बांहें, कहीं पर उनके कटे हुए ऊरु, कहीं पर उनकी कटी हुई जांघें और कहीं पर उनके तरह तरह के गहने पड़े हुए थे ॥४३॥

---

१ निहताः—देहत्यक्तप्राणाः। (गो०) २ पतिताः—[illegible] भूपतिताः। (गो०) ३ क्षीणाः—[illegible]। (गो०) ४ छिन्नाः—द्विधा कृताः। (गो०) ५ भिन्नाः—[illegible]। (गो०) ६ विदारिताः—[illegible]। (गो०)

हयैश्च द्विपमुख्यैश्च रथैर्भिन्नैरनेकशः ।
चामरैर्व्यजनैश्छत्रैर्ध्वजैर्नानाविधैरपि ॥४४॥

उस रणक्षेत्र मे, अनेक मरे हुए घोडे, हाथी तथा अनेक टूटे हुए रथ और तरह तरह के छत्र, चवर, पखा तथा ध्वजाएँ टूटी पड़ी हुई थीं ॥४४॥

रामस्य बाणाभिहतैर्विचित्रैः शूलपट्टिशैः ।
खड्गैः खण्डीकृतैः प्रासैर्विकीर्णैश्च परश्वधैः ॥४५॥

श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से कटे हुए त्रिशूल, पट, और तलवारें, भाले, फरसे आदि शस्त्र रणभूमि पर बिखरे हुए थे ॥४५॥

चूर्णिताभिः शिलाभिश्च शरैश्चित्रैरनेकशः ।
विच्छिन्नैः समरे भूमिर्विकीर्णाभूद्भयङ्करा ॥४६॥

तथा टूटी शिलाओं और अनेक कटे हुए शरो के इधर उधर रणक्षेत्र मे पड़े रहने से, वहाँ की भूमि बड़ी भयानक देख पड़ती थी ॥४६॥

तान् दृष्ट्वा निहतान् संख्ये राक्षसान् परमातुरान् ।
न तत्र सहितुं शक्ता रामं परपुरञ्जयम् ॥४७॥

॥इति पञ्चविंशः सर्ग.॥

बहुसख्यक आतुर राक्षसों को युद्ध में मरा हुआ देख, जो राक्षस जीते बच गए थे, वे शत्रुओं को जीतनेवाले श्रीरामचन्द्र जी के प्रहार को न सह सके। अर्थात् भाग खड़े हुए ॥४७॥

अरण्यकाण्ड का बाईसवा सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

षड्विंशः सर्गः

—:※:—

दूषणस्तु स्वकं सैन्यं हन्यमानं निरीक्ष्य सः ।
सन्दिदेश महाबाहुर्भीमवेगान् दुरासदान् ॥१॥
राक्षसान् पञ्च साहस्रान् समरेष्वनिवर्तिनः ।
ते शूलैः पट्टिशैः खड्गैः शिलावर्षैर्द्रुमैरपि ॥२॥

महाबाहु दूषण ने जब देखा कि, उसकी सेना मारी जाती है, तब उसने भयङ्कर आक्रमणकारी, दुर्धर्ष और रणक्षेत्र में कभी पीठ न दिखाने वाले पांच हजार राक्षसों को युद्ध करने की आज्ञा दी। दूषण की आज्ञा पा कर, वे सैनिक राक्षस शूलों, पटों, खड्गों, शिलाओं और वृक्षों की वर्षा करने लगे ॥१॥२॥

शरवर्षैरविच्छिन्नं ववृषुस्तं समन्ततः ।
स द्रुमाणां शिलानां च वर्षं प्राणहरं महत् ॥३॥

इसके अतिरिक्त उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर अविच्छिन्न रूप से और चारों ओर से बाणों की वृष्टि भी की। वृक्षों और शिलाओं की यह महावृष्टि प्राणों की हरने वाली थी ॥३॥

प्रतिजग्राह धर्मात्मा राघवस्तीक्ष्णसायकैः ।
प्रतिगृह्य च तद्वर्षं निर्मीलित इवर्षभः ॥४॥

---

१ [illegible]—[illegible] । (गो०)

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने अपने पैने बाणों से उस वृष्टि को रोका। जैसे बैल आँख बन्द कर वर्षा को सहता है (अर्थात् जिस प्रकार बैल वृष्टि की कुछ भी परवाह नहीं करता) वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी ने उस वृष्टि की कुछ भी परवाह न की ॥४॥

राम: क्रोधं परं भेजे वधार्थं सर्वरक्षसाम् ।
ततः क्रोधसमाविष्टः प्रदीप्त इव तेजसा ॥५॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन सब राक्षसों के मारने का दृढ़ निश्चय किया। उस समय क्रोध और तेज से प्रकाशमान हो उन्होंने ॥५॥

शरैरवाकिरत्सैन्यं सर्वतः सहदूषणम् ॥
ततः सेनापतिः क्रुद्धो दूषणः शत्रुदूषणः ॥६॥

दूषण और उसकी सेना के ऊपर तीरों की वर्षा की। फिर शत्रुदूषण सेनापति दूषण क्रुद्ध हो कर, ॥६॥

शरैरशनिकल्पैस्तं राघवं समवाकिरत् ।
ततो रामः सुसंक्रुद्धः क्षुरेणास्य महद्धनुः ॥७॥

वज्र तुल्य बाणों से श्रीरामचन्द्र के ऊपर वृष्टि करने लगा। श्रीरामचन्द्र जी ने क्रुद्ध हो छुरे की धार के समान पैने बाणों दूषण का बड़ा धनुष ॥७॥

चिच्छेद समरे वीरश्चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।
हत्वा चाश्वाञ्शरैस्तीक्ष्णैरर्धचन्द्रेण सारथेः ॥८॥
शिरो जहार तद्रक्षस्त्रिभिर्विव्याध वक्षसि ।
स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ॥९॥

काट कर और चार बाण चला, उसके रथ के चारों घोड़ों को मार डाला। फिर घोड़ों को मार, एक अर्धचन्द्राकार बाण से दूषण के सारथी का सिर काट गिराया, और तीन बाण दूषण की छाती में मारे। तब दूषण ने, जिसका धनुष काटा जा चुका था, और घोड़ों के और सारथी के मारे जाने के कारण, जो रथहीन हो गया था ॥८॥९॥

जग्राह गिरिशृङ्गाभं परिघं रोमहर्षणम् ।
वेष्टितं काञ्चनैः पट्टैर्देवसैन्यप्रमर्दनम् ॥१०॥

गिरिशृङ्ग के तुल्य, रोमाञ्चकारी एक परिघ को उठाया। यह परिघ, सुवर्ण से मढ़ा हुआ था और देवताओं की सेना को मर्दन करने वाला था ॥१०॥

आयसैः शङ्कुभिस्तीक्ष्णैः कीर्णं परवसोक्षितम्[1] ।
वज्राशनिसमस्पर्शं परगोपुरदारणम् ॥११॥

उसमें लोहे की पैनी नुकीली कीलें जड़ी थीं और वह शत्रुओं की चर्बी से सना हुआ था। वह वज्र के समान दृढ़ था और वह शत्रु के नगर के फाटक को तोड़ने वाला था ॥११॥

तं महोरगसङ्काशं प्रगृह्य परिघं रणे ।
दूषणोऽभ्यपतद्रामं क्रूरकर्मा निशाचरः ॥१२॥

महासर्प के समान उस परिघ को उठा युद्धक्षेत्र में, क्रूरकर्मा राक्षस दूषण श्रीरामचन्द्र के ऊपर दौड़ा ॥१२॥

तस्याभिपतमानस्य दूषणस्य स राघवः ।
द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद सहस्ताभरणौ भुजौ ॥१३॥

---

१ परवसोक्षितम्—शत्रुमेदोक्षितम्। (गो०)

तब उसको अपनी ओर आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने हाथों सहित उसकी दोनों भुजाएँ, जो भूषणों से भूषित थीं दो बाण मार कर, काट डालीं ॥१३॥

भ्रष्टः[1]तस्य[2] महाकायः[3] पपात रणमूर्धनि ।
परिघश्छिन्नहस्तस्य शक्रध्वज इवाग्रतः ॥१४॥

भुजाओं के कटने से उसका वह वृहदाकार परिघ भी इन्द्रध्वजा की तरह रणक्षेत्र में गिर पड़ा ॥१४॥

स कराभ्यां विकीर्णाभ्यां पपात भुवि दूषणः ।
विषाणाभ्यां विशीर्णाभ्यां मनस्वीव[4] महागजः ॥१५॥

हाथों के कटने से दूषण जमीन पर उसी प्रकार गिरा, जिस प्रकार, दांतों के टूट जाने पर धीर गजराज गिरता है ॥१५॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ दूषणं निहतं रणे ।
साधु साध्विति काकुत्स्थं सर्वभूतान्यपूजयन्[5] ॥१६॥

दूषण को युद्ध में मरा और जमीन पर पड़ा देख, सब लोगों (दर्शक लोग) साधु साधु कह कर, श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा ॥१६॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धास्त्रयः सेनाग्रयायिनः ।
संहत्याभ्यद्रवन् रामं मृत्युपाशावपाशिताः ॥१७॥

---

१ भ्रष्टः—हस्ताच्च्युतः । (गो०) २ तस्य—दूषणस्य । (गो०) ३ महाकायः—महाप्रमाणः । (गो०) ४ मनस्वी—धीरः । (गो) ५ अपूजयन्—अस्तुवन् । (गो०)

इसी बीच में एकत्र हो, खर के तीन सेनाग्रगण्य (सेनापति) मृत्यु के वशवर्ती होने के कारण, क्रोध मे भर, श्रीरामचन्द्र जी का सामना करने को आगे बढ़े ॥१७॥

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथी च महाबलः ।
महाकपालो विपुलं शूलमुद्यम्य राक्षसः ॥१८॥

इन महाबलवान राक्षस सेना-पातियों के नाम महाकपाल, स्थूलाक्ष और प्रमाथी थे। इनमे से महाकपाल एक बड़ा त्रिशूल उठा ॥१८॥

स्थूलाक्षः पट्टिशं गृह्य प्रमाथी च परश्वधम् ।
दृष्ट्वैवापततस्तूर्णं राघवः सायकैः शितैः ॥१९॥
तीक्ष्णाग्रैः प्रतिजग्राह सम्भाप्तानतिथीनिव ।
महाकपालस्य शिरश्चिच्छेद परमेषुभिः ॥२०॥

और स्थूलाक्ष पटा ले कर तथा प्रमाथी फरसा ले कर, श्रीराम-चन्द्र जी की ओर झपटे। इन तीनो के फेंके हुए शस्त्रों को अपने ऊपर आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने पैने बाणों से इन तीनों का वैसा ही स्वागत किया जैसा कि, आए हुए पाहुने का किया जाता है। श्रीरामचन्द्र जी ने एक पैने बाण से महाकपाल का सिर काट डाला ॥१९॥२०॥

असंख्येयैस्तु बाणौघैः प्रममाथ[1] प्रमाथिनम् ।
स पपात हतो भूमौ विटपीव महाद्रुमः ॥२१॥

तदनन्तर असंख्य बाणों से प्रमाथी का सिर चूर चूर कर दिया। वह कटे हुए महावृक्ष की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥२१॥

---

१ प्रममाथ—चूर्णीकृतवान् । (गो०)

तब उसको अपनी ओर आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने हाथों सहित उसकी दोनों भुजाएँ, जो भूषणों से भूषित थीं दो बाण मार कर, काट डालीं ॥१३॥

भ्रष्टः[१]तस्य[२] महाकायः[३] पपात रणमूर्धनि ।
परिघश्छिन्नहस्तस्य शक्रध्वज इवाग्रतः ॥१४॥

भुजाओं के कटने से उसका वह वृहदाकार परिघ भी इन्द्रध्वजा की तरह रणक्षेत्र में गिर पड़ा ॥१४॥

स कराभ्यां विकीर्णाभ्यां पपात भुवि दूषणः ।
बिषाणाभ्यां विशीर्णाभ्यां मनस्वीव[४] महागजः ॥१५॥

हाथों के कटने से दूषण जमीन पर उसी प्रकार गिरा, जिस प्रकार, दांतों के टूट जाने पर धीर गजराज गिरता है ॥१५॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ दूषणं निहतं रणे ।
साधु साध्विति काकुत्स्थं सर्वभूतान्यपूजयन्[५] ॥१६॥

दूषण को युद्ध में मरा और जमीन पर पड़ा देख, सब लोगों ने (दर्शक लोग) साधु साधु कह कर, श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा की ॥१६॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धास्त्रयः सेनाग्रयायिनः ।
संहत्याभ्यद्रवन् रामं मृत्युपाशावपाशिताः ॥१७॥

---

१ भ्रष्ट,—हस्ताच्च्युतः । (गो०) २ तस्य—दूषणस्य । (गो०) ३ महाकायः—महाप्रमाणः । (गो०) ४ मनस्वी—धीरः । (गो) ५ अपूजयन्—अस्तुवन् । (गो०)

इसी बीच में एकत्र हो, खर के तीन सेनाग्रगण्य (सेनापति) मृत्यु के वशवर्ती होने के कारण, क्रोध मे भर, श्रीरामचन्द्र जी का सामना करने को आगे बढ़े ॥१७॥

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथी च महाबलः ।
महाकपालो विपुलं शूलमुद्यम्य राक्षसः ॥१८॥

उन महाबलवान राक्षस सेना-पातियों के नाम महाकपाल, स्थूलाक्ष और प्रमाथी थे । इनमें से महाकपाल एक बड़ा त्रिशूल उठा ॥१८॥

स्थूलाक्षः पट्टिशं गृह्य प्रमाथी च परश्वधम् ।
दृष्ट्वैवापततस्तूर्णं राघवः सायकैः शितैः ॥१९॥
तीक्ष्णाग्रैः प्रतिजग्राह सम्प्राप्तानतिथीनिव ।
महाकपालस्य शिरश्चिच्छेद परमेषुभिः ॥२०॥

और स्थूलाक्ष पटा ले कर तथा प्रमाथी फरसा ले कर, श्रीरामचन्द्र जी की ओर झपटे । इन तीनों के फेंके हुए शस्त्रों को अपने ऊपर आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने पैने बाणों से उन तीनों का वैसा ही स्वागत किया, जैसा कि, आए हुए पाहुने का किया जाता है । श्रीरामचन्द्र जी ने एक पैने बाण से महाकपाल का सिर काट डाला ॥१९॥२०॥

असङ्ख्येयैस्तु बाणौघैः प्रममाथ[1] प्रमाथिनम् ।
स पपात हतो भूमौ विटपीव महाद्रुमः ॥२१॥

तदनन्तर अगणित बाणों से प्रमाथी का सिर चूर चूर कर दिया । वह कटे हुए महावृक्ष की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥२१॥

---

१ प्रममाथ—चूर्णीचकारेत्यर्थः । (गो०)

स्थूलाक्षस्याक्षिणी तीक्ष्णैः पूरयामास सायकैः ।
दूषणस्यानुगान् पञ्चसाहस्रान् कुपितः क्षणात् ॥२२॥

श्रीरामचन्द्र जी ने पैने पैने बाणों से स्थूलाक्ष की आँखें भर दीं, क्षण भर में श्रीरामचन्द्र जी ने दूषण के पाच हज़ार ॥२२॥

बाणौघैः पञ्चसाहस्रैरनयद्यमसादनम् ।
दूषणं निहतं दृष्ट्वा तस्य चैव पदानुगान् ॥२३॥

अनुयायी राक्षस सैनिकों को क्रोध में भर और पाँच हज़ार बाण चला, यमालय को भेज दिया। दूषण और उसकी पैदल सेना को मरा हुआ देख, ॥२३॥

व्यादिदेश खरः क्रुद्धः सेनाध्यक्षान् महाबलवान् ।
अयं विनिहतः संख्ये दूषणः सपदानुगः ॥२४॥

खर ने क्रोध में भर अन्य महाबलवान् सेनापतियों को यह आज्ञा दी कि, यह दूषण तो अपने पैदल सैनिकों सहित युद्ध में मारा गया ॥२४॥

महत्या सेनया सार्धं युध्वा रामं कुमानुषम् ।
शस्त्रैर्नानाविधाकारैर्हनध्वं सर्वराक्षसाः ॥२५॥

अब तुम सब लोग मिल कर और अपनी महती सेना को साथ ले, विविध प्रकार के शस्त्रों से मनुष्याधम राम को मार डालो ॥२५॥

एवमुक्त्वा खरः क्रुद्धो राममेवाभिदुद्रुवे ।
श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहङ्गमः ॥२६॥
दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः ।
मेघमाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः ॥२७॥

द्वादशैते महावीर्या बलाध्यक्षाः ससैनिकाः ।
राममेवाभ्यवर्तन्त विसृजन्तः शरोत्तमान् ॥२८॥

यह कह कर और क्रोध में भर स्वय ही खर ने श्रीरामचन्द्र जी पर आक्रमण किया । श्येनगामी, पृथुग्रीव, यज्ञशत्रु, विहङ्गम, दुर्जय, करवीराक्ष, पुरुष, कालकार्मुक, मेघमाली, महामाली, सर्पास्य और रुधिराशन नाम के १२ महावली सेनाध्यक्षों ने अपनी अधीनस्थ सेनाओं को साथ ले और वड़े पैने पैने वाण छोड़कर श्रीरामचन्द्र जी पर आक्रमण किया ॥२६॥२७॥२८॥

ततः पावकसङ्काशैर्हेमवज्रविभूषितैः ।
जघान शेषं तेजस्वी तस्य सैन्यस्य सायकैः ॥२९॥

तब तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी अग्नि तुल्य तथा सुवर्ण और हीरों से भूषित वाणों से उस बची हुई सेना का नाश करने लगे ॥२९॥

ते रुक्मपुङ्खा विशिखाः सधूमा इव पावकाः ।
निजघ्नुस्तानि रक्षांसि वज्रा इव महाद्रुमान् ॥३०॥

जिस प्रकार वज्र के आघात से बड़े बड़े वृक्ष गिर जाते हैं, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने अपने सुवर्ण पुङ्ख एवं सधूम अग्नि के समान वाणों से राक्षसों को मार कर, गिराना आरम्भ किया ॥३०॥

रक्षसां तु शतं रामः शतेनैकेन कर्णिना[1] ।
सहस्रं च सहस्रेण जघान रणमूर्धनि ॥३१॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने युद्ध में एक सौ (कान के आकार के) वाण फेंक कर, एक सहस्र राक्षसों का एक एक वार में संहार किया ॥३१॥

१ कर्णिना—कर्णाकारशरीरेण । (गो०)

खर को श्रीरामचन्द्र के सामने जाते देख, त्रिशिरा नाम के सेनापति ने, खर के समीप जा कर, यह बात कही ॥१॥

मां नियोजय विक्रान्त सन्निवर्तस्व साहसात्।
पश्य रामं महाबाहुं संयुगे विनिपातितम् ॥२॥

हे स्वामिन्! आप इस समय रामचन्द्र जी के सामने जाने का साहस न कीजिए और (अपने बदले) मुझ पराक्रमी को राम से लड़ने के लिए नियुक्त कीजिए। देखिए, मैं इस महाबाहु रामचन्द्र को युद्ध में मार कर, अभी गिराए देता हूँ ॥२॥

प्रतिजानामि ते सत्यमायुधं चाहमालभे[1]।
यथा रामं वधिष्यामि वधार्हं सर्वरक्षसाम् ॥३॥

मैं हथियार छू कर, आपके सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि, मैं इस राम को, जो समस्त राक्षसों के मारने योग्य है, अवश्य मारूँगा ॥३॥

अहं वाऽस्य रणे मृत्युरेष वा समरे मम।
विनिवृत्य रणोत्साहात् मुहूर्तं प्राश्निको[2] भव ॥४॥

चाहे तो मैं इसको मारूँ अथवा यह मुझे मार डाले। आप युद्ध मे प्रवृत्त न हो कर, मुहूर्त्त भर मध्यस्थ बन कर, दोनों ओर का युद्ध देखिए ॥४॥

*प्रहृष्टो[3] वा हते रामे जनस्थानं प्रयास्यसि।
मयि वा निहते रामं संयुगायो[4]पयास्यसि ॥५॥

---

१ आलभे—स्पृशामि। (गो०) २ प्राश्निकः—जयापजयनिर्णायकः। (गो०) ३ प्रहृष्टे। (गो०) ४ संयुगाय—युद्धकर्तुं। (गो०)

*पाठान्तरे—"प्रहृष्टे"

यदि राम मारा जाय, तो आप गर्व सहित जनस्थान को चले जाइयेगा और यदि कहीं मैं ही मारा जाऊँ, तो आप उससे युद्ध करने को जाना ॥५॥

खरस्त्रिशिरसा तेन मृत्युलोभात्प्रसादितः ।
गच्छ युध्येत्यनुज्ञातो राघवाभिमुखो ययौ ॥६॥

जब उस (श्रीरामचन्द्र) की मृत्यु का लालच दिखा, त्रिशिरा ने खर को प्रसन्न किआ, तब खर ने उससे कहा कि, अच्छा जाओ और लडो । यह आज्ञा पा कर, त्रिशिरा श्रीरामचन्द्र जी के सामने गया ॥६॥

त्रिशिराश्च रथेनैव वाजियुक्तेन भास्वता ।
अभ्यद्रवद्रणे रामं त्रिशृङ्ग इव पर्वतः ॥७॥

वह तीन सिरों वाला (त्रिशिरा) घोडों के देदीप्यमान रथ पर सवार हो, युद्ध करने को श्रीराम के सामने गया—मानों तीन शिखर वाला पर्वत जाता हो ॥७॥

शरधारासमूहान् स महामेघ इवोत्सृजन् ।
व्यसृजत्सदृशं नादं जलार्द्रस्य तु दुन्दुभेः ॥८॥

वह त्रिशिरा महामेघ की तरह, बाणों की वर्षा करने लगा और ऐसे गर्जा मानों जल से भींगा नगाडा बज रहा हो ॥८॥

आगच्छन्तं त्रिशिरसं राक्षसं प्रेक्ष्य राघवः ।
धनुषा प्रतिजग्राह विधुन्वन्[1] सायकाञ्शितान् ॥९॥

श्रीराम ने त्रिशिरा को आते देख, धनुष ले, उस पर तीखे बाण छोड़े ॥९॥

---

१ विधुन्वन्—मुञ्चन् । (गो०)

स संप्रहार[1] स्तुमुलो रामत्रिशिरसोर्महान् ।
बभूवातीव बलिनोः सिंहकुञ्जरयोरिव ॥१०॥

श्रीरामचन्द्र और त्रिशिरा का बड़ा भयंकर युद्ध हुआ, मानों अति बलवान् सिंह और गजेन्द्र का युद्ध हो ॥१०॥

ततस्त्रिशिरसा बाणैर्ललाटे ताडितास्त्रिभिः ।
अमर्षी[3] कुपितो रामः संरब्ध[2]मिदमब्रवीत् ॥११॥

त्रिशिरा ने तीन बाण श्रीरामचन्द्र जी के ललाट में मारे। तब ऋषियों के कष्टों को न सहने वाले श्रीराम ने क्रोध में भर त्रिशिरा को झिड़क कर कहा ॥११॥

अहो विक्रमशूरस्य राक्षसस्येदृशं बलम् ।
पुष्पैरिव शरैर्यस्य ललाटेऽस्मि परिक्षतः[4] ॥१२॥

अरे विक्रमी शूर राक्षस! क्या तुझमे इतना ही बल है कि, तेरे मारे हुए बाण मेरे ललाट मे फूलों की तरह जान पड़े ॥१२॥

ममापि प्रतिगृह्णीष्व शरांश्चापगुणच्युतान् ।
एवमुक्त्वा तु संरब्धः शरानाशीविषोपमान् ॥१३॥

अच्छा अब तू मेरे धनुष के रोदे से छूटे हुए बाणों को रोक सकता हो तो रोक। यह कह कर, श्रीराम ने कुपित हो सर्पों की तरह ॥१३॥

त्रिशिरोवक्षसि क्रुद्धो निजघान चतुर्दश ।
चतुर्भिस्तुरगानस्य शरैः सन्नतपर्वभिः ॥१४॥

---

१ सम्प्रहारो—युद्ध। (गो०) २ संरब्धम्—सकोप। (गो०) ३ अमर्षी—ऋष्यपराधासहनशीलः। (शि०) ४ परिक्षतो—हतोस्मि। (शि०)

चौदह बाण त्रिशिरा की छाती मे मारे और चार पैने पैने बाण उसके रथ के चारों घोड़ों के ॥१४॥

न्यपातयत तेजस्वी चतुरस्तस्य वाजिनः ।
अष्टभिः सायकैः सूतं रथोपस्थान्न्यपातयत् ॥१५॥

तेजस्वी श्रीरामचन्द्र ने त्रिशिरा के चारों घोड़े मार कर गिरा दिये, फिर आठ बाण मार कर त्रिशिरा के सारथी को मार, रथ पर से गिरा दिया ॥१५॥

रामश्चिच्छेद बाणेन ध्वजं चास्य समुच्छ्रितम् ।
ततो हतरथा[1]त्तस्मादुत्पतन्तं निशाचरम् ॥१६॥
बिभेद रामस्तं बाणैर्हृदये सोऽभवज्जडः[2] ।
सायकैश्चाप्रमेयात्मा सामर्षस्तस्य रक्षसः ॥१७॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उसके रथ की ऊँची ध्वजा भी एक बाण से काट दी। तब घोड़ों और सारथी से रहित उस रथ से त्रिशिरा को कूदते देख, अप्रमेयात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध मे भर, उसकी छाती को मारे बाणों के विदीर्ण कर डाला। तब त्रिशिरा निश्चेष्ट हो गया ॥१६॥ ॥१७॥

शिरांस्यपातयद्रामो वेगवद्भिस्त्रिभिः शितैः ।
स भूमौ रुधिरोद्गारी रामबाणाभिपीडितः ॥१८॥
न्यपतत्पतितैः पूर्वं स्वशिरोभिर्निशाचरः ।
हतशेषास्ततो भग्ना राक्षसाः खरसंश्रयाः[3] ।
द्रवन्ति स्म तिष्ठन्ति व्याघ्रत्रस्ता मृगा इव ॥१९॥

---

[1] हतरथात्—हतहयसारथिकरथात्। (गो०) [2] जड—निश्चेष्ट। (गो०) [3] खरसंश्रया—खरनिकटा। (गो०) *पाठान्तरे—"रथं यस्येन्द्रपातयत्।"

तब श्रीरामचन्द्र जी ने तुरन्त तीन बाण मार उसके तीनो सिर काट कर गिरा दिए। वह त्रिशिरा, श्रीराम के बाणों से पीड़ित हो, भूमि पर रुधिर गिराता हुआ, अपने मस्तको के साथ रणभूमि मे गिर पडा। उसको मरा देख, बचे हुए खर के सेवक राक्षस हतोत्साह हो, रणभूमि मे खडे न रह कर, वैसा ही भाग गए, जैसे व्याघ्र से भयभीत हो मृग भागते हैं॥१८॥१९॥

तान् खरो द्रवतो दृष्ट्वा निवर्त्य रुषितः स्वयम्।
राममेवाभिदुद्राव राहुश्चन्द्रमस यथा ॥२०॥

इति सप्तत्रिंश सर्ग ॥

उनको भागते देख, खर ने रोष मे भर उनको लौटाया और स्वय श्रीराम की ओर वैसे ही दौडा, जैसे राहु, चन्द्रमा के ऊपर दौड़ता है ॥२०॥

अरण्यकाण्ड का सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

अष्टात्रिंशः सर्गः

—❀—

निहतं दूषणं दृष्ट्वा रणे त्रिशिरसा सह।
खरस्याप्यभवत्त्रासो दृष्ट्वा रामस्य विक्रमम् ॥१॥

त्रिशिरा सहित दूषण को मरा हुआ देख, खर भी श्रीरामचन्द्र के पराक्रम से (मन ही मन) डरा हुआ था ॥१॥

स दृष्ट्वा राक्षसं सैन्यमविपह्यं महाबलः।
हतमेकेन रामेण त्रिशिरोदूषणावपि ॥२॥

वह सोचने लगा कि, अकेले राम ने अति बलवती राक्षसों की सेना त्रिशिरा और दूषण सहित मार डाला ॥२॥

तद्बलं[1] हतभूयिष्ठं[2] विमनाः प्रेक्ष्य राक्षसः ।
आससाद खरो रामं नमुचिर्वासवं यथा ॥३॥

उस सेना को तथा चुने चुने वीर राक्षसों को मरा हुआ देख, खर उदास हुआ और राम के ऊपर वैसे ही झपटा, जैसे इन्द्र के ऊपर, (किसी समय) नमुचि दैत्य झपटा था ॥३॥

विकृष्य बलवच्चापं[3] नाराचान् रक्तभोजनान् ।
खरश्चिक्षेप रामाय क्रुद्धानाशीविषानिव ॥४॥

खर ने बड़े ज़ोर से धनुष को खींच, राम के ऊपर क्रुद्ध विषधर सर्प की तरह रुधिर पान करने वाले, बाण छोड़े ॥४॥

ज्यां विधुन्वन् सुबहुशः शिक्षयाऽस्त्राणि दर्शयन् ।
चचार समरे मार्गाञ्शरै रथगतः खरः ॥५॥

धनुष के रोदे को बार बार फटकारता और अपनी शस्त्रविद्या का परिचय देता हुआ तरह तरह के बाण छोड़ता हुआ रथ पर सवार खर रणभूमि में घूमने लगा ॥५॥

स सर्वाश्च दिशो बाणैः प्रदिशश्च महारथः ।
पूरयामास तं दृष्ट्वा रामोऽपि सुमहद्धनुः ॥६॥

इस प्रकार खर को बाणों से समस्त दिशाएँ और विदिशाएँ पूरित करते देख, राम ने भी एक बड़ा धनुष उठाया ॥६॥

---

१ बलं—सैन्यं । (गो०) २ हतभूयिष्ठं—हतप्रवरराक्षसं । (गो०)
३ बलवत्—अत्यन्तं । (गो०)

स सायकैर्दुर्विषहैः सस्फुलिङ्गैरिवाग्निभिः ।
नभश्चकाराविवरं पर्जन्य इव वृष्टिभिः ॥७॥

और आग के अंगारों की तरह न सहने योग्य तीरों से आकाश को छा दिया । मानों मेघ बरस रहा हो ॥७॥

तद्बभूव शितैर्बाणैः खररामविसर्जितैः ।
पर्याकाशमनाकाशं सर्वतः शरसङ्कुलम् ॥८॥

इस समय राम और खर के छोड़े हुए बाणों से सारा आकाश छाया हुआ था ॥८॥

शरजालावृतः सूर्यो न तदा स्म प्रकाशते ।
अन्योन्यवधसंरम्भादुभयोः संप्रयुध्यतोः ॥९॥

एक दूसरे को मार डालने की इच्छा से युद्ध करते हुए दोनों के शरजाल से सूर्य ढक गए थे और सूर्य का प्रकाश अति मन्द पड़ गया था ॥९॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः ।
आजघान खरो रामं तोत्रै[1]रिव महाद्विपम् ॥१०॥

तदनन्तर महावत जिस प्रकार महागज को अकुंश मारता है, उसी प्रकार खर ने पैने नालीक, नाराच और विकीर्ण श्रेणी के बाण श्रीरामन्चद्र जी के मारे ॥१०॥

तं रथस्थं धनुष्पाणिं राक्षसं पर्यवस्थितम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि पाशहस्तमिवान्तकम् ॥११॥

---

१ तोत्रैः—गजशिक्षणयष्टिभिः । (गो०)

उस समय हाथ मे धनुष लिए और रथ पर सवार खर, सब प्राणियों को ऐसा देख पड़ता था, मानों पाश को हाथ में लिए काल घूमता हो ॥११॥

हन्तारं सर्वसैन्यस्य पौरुषे पर्यवस्थितम् ।
परिश्रान्तं महासत्त्वं मेने रामं खरस्तदा ॥१२॥

अपनी समस्त सेना का विनाश करने वाले पुरुषार्थी, श्रीरामचन्द्र जी को, जो उस समय कुछ कुछ श्रान्त हो गए थे, खर ने बड़ा बलवान् समझा अथवा पुरुषार्थी बलवान् श्रीराम को श्रान्त समझा ॥१२॥

तं सिंहमिव विक्रान्तं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
दृष्ट्वा नोद्विजते रामः सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥१३॥

सिंह तुल्य पराक्रमी और सिंह सदृश व्यवहार करने वाले राम खर को सामने देख, उसी प्रकार जरा भी न घबड़ाए, जिस प्रकार सिंह एक क्षुद्र हिरन को देख, नहीं घबडाता ॥१३॥

ततः सूर्यनिकाशेन रथेन महता खरः ।
आससाद रणे रामं पतङ्ग इव पावकम् ॥१४॥

तदनन्तर खर, सूर्य समान द्युतिमान रथ पर सवार हो, श्रीरामचन्द्र जी के पास वैसे ही पहुँचा, जैसे पतंग अग्नि के समीप जाता है ॥१४।

ततोऽस्य सशरं चापं मुष्टिदेशे महात्मनः ।
खरश्चिच्छेद रामस्य दर्शयन् पाणिलाघवम् ॥१५॥

खर ने जाते ही, अपने हाथ की सफाई दिखाते हुए, राम के धनुष को उस जगह से काट डाला जहाँ पर वे उसे पकड़े हुए थे ॥१५॥

स पुनस्त्वपरान् सप्तशरानादाय वर्मणि[1] ।
निजघान खरः क्रुद्धः शक्राशनिसमप्रभान् ॥१६॥

फिर खर क्रोध मे भर और वज्र समान सात वाणों को चला, राम का कवच विदीर्ण कर डाला ॥१६॥

ततस्तत्प्रहतं वाणैः खरमुक्तैः सुपर्वभिः ।
पपात कवचं भूमौ रामस्यादित्यवर्चसः ॥१७॥

खर के चलाये वाणों से राम का सूर्य के समान चमकीला कवच टूट कर जमीन पर गिर पड़ा ॥१७॥

ततः शरसहस्रेण राममप्रतिमौजसम्[2] ।
अर्दयित्वा महानादं ननाद समरे खरः ॥१८॥

फिर अगणित वाणों से अनुपम पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी को पीड़ित कर, रणभूमि मे खर ने महानाद किश्रा ॥१८॥

स शरैरर्पितः क्रुद्धः सर्वगात्रेषु राघवः ।
रराज समरे रामो विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥१९॥

उस समय खर के वाणों से सम्पूर्ण अगो के विध जाने से क्रुद्ध श्रीरामचन्द्र जी की ऐसी शोभा जान पड़ी, जैसे धूमरहित अग्नि की ॥१९॥

ततो गम्भीरनिर्ह्लादं रामः शत्रुनिवर्हणः ।
चकारान्ताय स रिपोः सज्यमन्यद्द महद्धनुः ॥२०॥

---

१ वर्मणि निजघान—अवदारयति स्म । (गो०) २ अप्रतिमौजसम्—अनुपमपराक्रम राम । (शि०)

तदनन्तर शत्रु का नाश करने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने, शत्रु का नाश करने के लिए गभीर शब्द करने वाले एक दूसरे बड़े धनुष पर रोदा चढ़ाया ॥२०॥

सुमहद्वैष्णवं यत्तदतिसृष्टं[2] महर्षिणा ।
वरं तद्धनुरुद्यम्य खरं समभिधावत ॥२१॥

श्रीरामचन्द्र जी, महर्षि अगस्त जी के दिए हुए प्रसिद्ध वैष्णव धनुषश्रेष्ठ को उठा कर, खर की ओर झपटे ॥२१॥

ततः कनकपुङ्खैस्तु शरैः सन्नतपर्वभिः[3] ।
बिभेद रामः संक्रुद्धः खरस्य समरे ध्वजम् ॥२२॥

युद्ध में क्रुद्ध हो श्रीराम ने सुवर्ण के पुंख लगे हुए और सीधी गाठों वाले तीरों से, खर के रथ की ध्वजा काट डाली ॥२२॥

स दर्शनीयो बहुधा विकीर्णः काञ्चनध्वजः ।
जगाम धरणीं सूर्यो देवतानामिवाज्ञया[4] ॥२३॥

उस समय खर के रथ की, वह देखने योग्य सुवर्णनिर्मित ध्वजा, ज़मीन पर गिर, वैसे ही सुशोभित हुई, जैसे देवताओं के शाप से भूमि पर गिरे हुए सूर्य की शोभा हुई थी ॥२३॥

तं चतुर्भिः खरः क्रुद्धो रामं गात्रेषु मार्गणैः ।
विव्याध युधि मर्मज्ञो मातङ्गमिव तोमरैः ॥२४॥

तब मर्मस्थलों को जानने वाले खर ने क्रुद्ध हो कर, चार बाणों से श्रीराम जी के हृदय तथा अन्य मर्मस्थलों को वैसे ही वेध डाला, जैसे भाले से हाथी बेधा जाता है ॥२४॥

---

१ यत्तदिति—प्रसिद्धमागस्त्यदत्तं वा । (गो०) २ अतिसृष्ट—दत्तं । (गो०) ३ सन्नतपर्वभिः—सुश्लिष्टपर्वभिः । (गो०) ४ आज्ञया—शापेन । (गो०)

स रामो वहुभिर्वाणैः खरकार्मुकनिःसृतैः ।
विद्धो रुधिरसिक्ताङ्गो बभूव रुषितो भृशम् ॥२५॥

खर के धनुष से छूटे हुए वहुत से वाणों के लगने से श्रीराम जी घायल और खून से सरावोर हो गए। अतः वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥२५॥

स धनुर्धन्विनां श्रेष्ठः प्रगृह्य परमाहवे ।
मुमोच परमेष्वासः षट् शरानभिलक्षितान्[1] ॥२६॥

धनुषधारियों मे श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने एक वढिया धनुष ले, खर का निशाना बाँध, उसके ऊपर छ. बाण छोड़े ॥२६॥

शिरस्येकेन वाणेन द्वाभ्यां वाह्वोरथार्दयत् ।
त्रिभिश्चन्द्रार्धवक्त्रैश्च[2] वक्षस्यभिजघान ह ॥२७॥

इनमे से एक वाण से खर का माथा, दो से उसकी दोनों भुजाएँ घायल कीं और तीन अर्धचन्द्राकार वाण उसकी छाती मे मारे ॥२७॥

ततः पश्चान् महातेजा नाराचान् भास्करोपमान् ।
जिघांसू राक्षसं क्रुद्धस्त्रयोदश समाददे ॥२८॥

इसके वाद महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने क्रुद्ध हो सूर्य के समान चमकते हुए १३ नाराच (वाण विशेष) ले, खर को मारने की इच्छा से उस पर छोड़े ॥२८॥

---

१ अभिलक्षितान्—लक्ष्योद्देश्यत्वेन बोधितान् । (शि०) २ चन्द्रार्धवक्त्रैः—अर्धचन्द्राकारमुखैः । (गो०)

ततोऽस्य युगमेकेन चतुर्भिश्च हयान् ।
षष्ठेन तु शिरः संख्ये खरस्य रथसारथेः ॥२९॥

एक से रथ के जुआ को, चार से चारों घोड़ों को और छठवें से खर के सिर को छेद डाला ॥२९॥

त्रिभिस्त्रिवेणुं बलवान् द्वाभ्यामक्षं महाबलः ।
द्वादशेन तु बाणेन खरस्य सशरं धनुः ॥३०॥
छित्त्वा वज्रनिकाशेन राघवः प्रहसन्निव[1] ।
त्रयोदशेनेन्द्रसमो बिभेद समरे खरम् ॥३१॥

श्रीराम जी ने तीन बाणों से रथ के तीनों बाँसों को, दो से रथ की धुरी को और बारहवें बाण से खर के बाणसहित धनुष को काट डाला । फिर खेल ही खेल में (अनायास) वज्र समान तेरहवां बाण. इन्द्र समान श्रीराम ने खर के मारा ॥३०॥३१॥

प्रभग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
गदापाणिरवप्लुत्य तस्थौ भूमौ खरस्तदा ॥३२॥

धनुष और रथ के टूट जाने से, घोड़ो और सारथि के मारे जाने से. खर रथहीन होने के कारण, हाथ में गदा ले, रथ से कूदा और रणभूमि पर खड़ा हो गया ॥३२॥

तत्कर्म रामस्य महारथस्य
समेत्य[2] देवाश्च महर्षयश्च ।

---

१ प्रहसन्निव—लीलयेत्यर्थः । (गो०) २ समेत्य—सङ्घीभूय । (गो०)

अपूजयन्[1] प्राञ्जलयः प्रहृष्टा-
स्तदा विमानाग्रगतः समेताः[2] ॥३३॥

इति अष्टाविंशः सर्गः ॥

उस समय महारथी श्रीरामचन्द्र जी के इस (अद्भुत) कर्म को देख, देवता और महर्षि अत्यन्त प्रसन्न हुए और एकत्र हो तथा विमान पर चढ, वहाँ (जहाँ श्रीरामचन्द्र जी थे) आये और हाथ जोड़, श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति की ॥३३॥

अरण्यकाण्ड का अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ।

—:❀:—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—:❀:—

खरं तु विरथं रामो गदापाणिमवस्थितम् ।
मृदुपूर्वं[3] महातेजाः परुषं[4] वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

रथहीन खर को हाथ में गदा लिए हुए देख, महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने उससे न्यायोचित और मर्मस्पर्शी वचन कहे ॥१॥

गजाश्वरथसंबाधे बले महति तिष्ठता[5] ।
कृतं सुदारुणं कर्म सर्वलोकजुगुप्सितम् ॥२॥

हे खर! अनेक हाथियों घोड़ों, रथों और बहुत सी सेना का अधिपति हो, तूने सर्वलोकनिन्दित घोर पाप कर्म किए हैं ॥२॥

---

१ अपूजयन्—अस्तुवन् । (गो०) २ समेता—आगता । (गो०) ३ मृदुपूर्वं=न्यायावलम्बनेनोक्तं । (गो०) ४ परुष—मर्मोद्घाटनरूपत्वात् । (गो०) ५ तिष्ठता—अधिपतित्वेन तिष्ठतेत्यर्थः । (गो०)

उद्वेजनीयो[१] भूतानां नृशंसः[२] पापकर्मकृत् ।
त्रयाणामपि लोकानामीश्वरोपि न तिष्ठति[३] ॥३॥

(कदाचित् इन पापकर्मों को करते समय तुझे यह नहीं मालूम था कि,) प्राणियों को दुःख देने वाला घातक (अत्याचारी) और पापकर्म करने वाला पुरुष, भले ही वह त्रिलोकीनाथ ही क्यों न हो—(अधिक दिनों) नहीं जी सकता । (फिर तुझ जैसे तुच्छ जीव की तो बिसात ही क्या है) ॥३॥

कर्म लोकविरुद्धं तु कुर्वाणं क्षणदाचर[४] ।
तीक्ष्णं सर्वजनो हन्ति सर्पं दुष्टमिवागतम् ॥४॥

हे रजनीचर ! लोकविरुद्ध कर्म करने वाले, अत्याचारी को सब लोग वैसे ही मारते हैं, जैसे आये हुए दुष्ट सर्प को ॥४॥

लोभा[५]त्पापानि कुर्वाणः कामाद्वा[६] यो न बुध्यते[७] ।
भ्रष्टः[८]पश्यति[९]तस्यान्त[१०]ब्राह्मणी[११]करकादिव[१२]॥५॥

जो मनुष्य लालचवश अथवा अपूर्व लाभ की इच्छा से पापकर्म कर के नहीं पछताता, उसे उस कर्म का फल, ऐश्वर्य से भ्रष्ट होना वैसे ही अनुभव करना पड़ता है, जैसे बमनी जाति का जन्तु (राम की बुढ़िया) वृष्टि के ओलों को खा कर, उसका परिणाम स्वरूप मृत्यु का अनुभव करता है ॥५॥

---

१ उद्वेजनीय—उद्वेजक । २ नृशंसो—घातक । (गो०) ३ न तिष्ठति—न जीवेत् । (गो०) ४ क्षणदाचर—रजनीचर । (शि०) ४ लोभात्—लब्धस्यत्यागासहिष्णुतया । (गो०) ६ कामात्—अपूर्वलाभेच्छया । (गो०) ७ न बुध्यते—न पश्चात्तापं करोति । (गो०) ८ भ्रष्टः—ऐश्वर्याद्भ्रष्टः । (गो०) ९ अन्तं—फलं । (गो०) १० पश्यति—अनुभवति । (गो०) ११ करका—वर्षोपला । (गो०) १२ ब्राह्मणी—रक्तपुच्छिका । (गो०)

वसतो दण्डकारण्ये तापसान् धर्मचारिणः ।
किन्तु हत्वा महाभागान् फलं प्राप्स्यसि राक्षस ॥६॥

हे राक्षस ! इस दण्डकवन में बसने वाले धर्माचरण में रत महाभाग तपस्वियों को (निरपराध) मारने से, तुझे इसका फल भोगना होगा, क्या तू यह नहीं जानता था ? ॥६॥

न चिरं पापकर्माणः क्रूरा लोकजुगुप्सिताः ।
ऐश्वर्यं प्राप्य तिष्ठन्ति शीर्णमूला इव द्रुमाः ॥७॥

जिस प्रकार गली हुई जड के वृक्ष बहुत दिनों तक नहीं खडे रह सकते अर्थात् गिर पडते हैं, उसी प्रकार पापी, क्रूर और लोकनिन्दित जन ऐश्वर्य पा कर भी बहुत दिनो तक नहीं जीवित रह सकते ॥७॥

अवश्यं लभते जन्तुः फलं पापस्य कर्मणः ।
घोरं पर्यागते काले द्रुमाः पुष्पमिवार्तवम् ॥८॥

जिस प्रकार समय पाकर, पेड फूलते हैं, उसी प्रकार समय प्राप्त होने पर जीवों को उनके किए पापकर्मों का घोर फल अवश्य मिलता है। अर्थात् समय पर पाप का फल अवश्य प्राप्त होता है ॥८॥

न चिरात्प्राप्यते लोके पापानां कर्मणां फलम् ।
सविषाणामिवान्नानां भुक्तानां क्षणदाचर ॥९॥

हे निशाचर ! जिस प्रकार विषमिश्रित अन्न खाने से शीघ्र ही आदमी मर जाता है, उसी प्रकार पापी को किए हुए पापों का फल प्राप्त होने मे विलंब नहीं होता। शीघ्र मिलता है ॥९॥

पापमाचरतां घोरं लोकस्याप्रियमिच्छताम् ।
अहमासादितो राज्ञा[1] प्राणान् हन्तुं निशाचर ॥१०॥

---

१ राज्ञा—दशरथेननियुक्तः । (रा०)

हे निशाचर ! तू लोकों का अहित चाहने वाला होने के कारण महापापी है। अतः महाराज दशरथ का भेजा हुआ, मैं तेरे प्राणों का नाश करने को यहाँ आया हूँ ॥१०॥

अद्य हि त्वां मया मुक्ताः शराः काञ्चनभूषणाः ।
विदार्य निपतिष्यन्ति[1] वल्मीकमिव पन्नगाः ॥११॥

आज ये सुवर्णभूषित मेरे छोड़े हुए बाण तेरे शरीर को चीर कर वैसे ही घुसेंगे, जैसे सर्प अपनी बांबी मे घुसता है ॥११॥

ये त्वया दण्डकारण्ये भक्षिता धर्मचारिणः ।
तानद्य निहतः संख्ये ससैन्योऽनुगमिष्यसि ॥१२॥

जिन धर्मचारी ऋषि मुनियों को तूने इस दण्डकारण्य मे आ कर खाया है, आज युद्ध मे सेनासहित मर कर, तू भी उनके पीछे जायगा ॥१२॥

अद्य त्वां विहतं बाणैः पश्यन्तु परमर्षयः ।
निरयस्थं विमानस्था मे त्वया हिंसिताः पुरा ॥१३॥

पहिले जिन तपस्वियों को तूने मारा है, आज वे विमान में लौट कर, तुझको मेरे बाणों से मरा और नरक मे जाता हुआ देखें ॥१३॥

प्रहर त्वं यथाकामं कुरु यत्नं कुलाधम ।
अद्य ते पातयिष्यामि शिरस्तालफलं यथा ॥१४॥

अरे कुलाधम ! मेरे मारने के लिए तुझे जो उपाय करना हो, सो कर ले और यथेष्ट प्रहार भी कर ले। अन्तमें तो मैं, अवश्य ही ताल के फल की तरह तेरा सिर काट कर, भूमि पर गिरा ही दूंगा ॥१४॥

---

१ निपतिष्यन्ति—प्रवेक्ष्यन्ति । (गो०)

एवमुक्तस्तु रामेण क्रुद्धः संरक्तलोचनः ।
प्रत्युवाच खरो रामं प्रहसन् क्रोधमूर्छितः ॥१५॥

जब श्रीराम जी ने इस प्रकार कहा, तब खर क्रुद्ध हो और लाल लाल आँखे निकाल तथा (तिरस्कार) सूचक) हँसी हँस कर, श्रीराम से बोला ॥१५॥

प्राकृता[1]न् राक्षसान् हत्वा युद्धे दशरथात्मज ।
आत्मना[2] कथमात्मानमप्रशस्यं प्रशंससि ॥१६॥

हे दशरथ के पुत्र! क्षुद्र (अर्थात् साधारण) राक्षसों को मारने का काम कर, प्रशंसा योग्य न होने पर भी, तू अपने मुँह अपनी प्रशंसा कर रहा है ॥१६॥

विक्रान्ता बलवन्तो वा ये भवन्ति नरर्षभाः ।
कथयन्ति न ते किञ्चित्तेजसा[3] स्वेन गर्विताः ॥१७॥

जो श्रेष्ठ पुरुष पराक्रमी और बलवान होते हैं, वे अपने प्रताप का गर्व कर, कभी अपना बखान नहीं करते ॥१७॥

प्राकृतास्त्वकृतात्मानो लोके[4] क्षत्रियपांसनाः
निरर्थकं विकत्थन्ते यथा राम विकत्थसे ॥१८॥

हे राम! जो क्षुद्र, कल्मष चित्त वाले और क्षत्रियाधम हैं, वे ही तेरी तरह व्यर्थ की बकवाद किआ करते हैं ॥१८॥

कुलं व्यपदिशन् वीरः समरे कोऽभिधास्यति ।
मृत्युकाले हि सम्प्राप्ते स्वयमप्रस्तवे[5] स्तवम् ॥१९॥

---

१ प्राकृता—क्षुद्रा.। (गो०) २ आत्मना—स्वयमेव। (गो०) ३ तेजसा—प्रतापेन। (गो०) अकृतात्मान.—कल्मषचित्ताः। (रा०) ५ अप्रस्तवे—अनवसरे। (गो०)

रणभूमि मे, जहाँ मृत्यु होना कोई अनहोनी बात नहीं, वहाँ पर कौन ऐसा शूर है, जो अपने कुल का बखान कर, ऐसे अनवसर मे अपनी बडाई अपने आप करेगा ॥१६॥

> सर्वथैव लघुत्वं ते कत्थनेन विदर्शितम् ।
> सुवर्णप्रतिरूपेण तप्तेनेव कुशाग्निना[1] ॥२०॥

अतएव तूने अपना बखान कर, सब प्रकार से अपना ओछापन वैसे ही दिखलाया है, जैसे अग्नि में तपाने पर बनावटी सोना (मुलम्मा) अपना बनावटीपन प्रकट कर देता है ॥२०॥

> न तु मामिह तिष्ठन्तं पश्यसि त्वं गदाधरम् ।
> धराधरमिवाकम्प्यं पर्वतं धातुभिश्चितम् ॥२१॥

हे राम ! क्या तू यह नहीं देखता कि, मैं गदा लिये लड़ने को उद्यत, यहाँ पर विविध धातुओं से शोभित पर्वत की तरह, अचल अटल खड़ा हुआ हूँ ॥२१॥

> पर्याप्तोऽहं गदापाणिर्हन्तुं प्राणान् रणे तव ।
> त्रयाणामपि लोकानां पाशहस्त इवान्तकः ॥२२॥

मैं इस अपने हाथ की गदा से पाशधारी यमराज की तरह युद्ध में केवल [illegible] ही नहीं, प्रत्युत तीनों लोकों का संहार कर सकता हूँ ॥२२॥

> कामं बह्वपि वक्तव्यं त्वयि वक्ष्यामि न त्वहम् ।
> अस्तं गच्छेद्धि सविता युद्धविघ्नस्ततो भवेत् ॥२३॥

---

१ कु[illegible] —[illegible]ना । (पा०) यद्वा [illegible]ना ।

(रा०)

तेरी इस आत्मश्लाघा के उत्तर मे यद्यपि मैं बहुत कुछ कह सकता हूँ, तथापि मैं तुमसे अब और कुछ कहना नहीं चाहता—क्योंकि (कहने सुनने मे व्यर्थ समय निकला जाता है और) यदि सूर्यास्त हो गया, तो युद्ध मे विघ्न पड़ेगा ॥२३॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां हतानि ते ।
त्वद्विनाशात्करोम्येष तेषामास्रप्रमार्जनम् ॥२४॥

तूने जो चौदह हज़ार राक्षसों को मारा है, सो अब मैं तुझे मार कर, उनकी विधवा स्त्रियो और अनाथ बच्चो के आँसू पोछूँगा ॥२४॥

इत्युक्त्वा परमक्रुद्धस्तां गदां परमाङ्गदः[१] ।
खरश्चिक्षेप रामाय प्रदीप्तमशनिं यथा ॥२५॥

खर ने यह कह और अत्यन्त कुपित हो, सुवर्ण के बंदों से बँधी हुई, इन्द्र के वज्र के समान, चमचमाती गदा, श्रीराम के ऊपर फेंकी ॥२५॥

खरबाहुप्रमुक्ता सा प्रदीप्ता महती गदा ।
भस्म वृक्षांश्च गुल्मांश्च कृत्वागात्तत्समीपतः ॥२६॥

खर की फेंकी हुई वह चमचमाती बड़ी भारी गदा, अगल बगल के वृक्षों और लतागुल्मों को भस्म करती हुई, श्रीराम जी के पास आ पहुँची ॥२६॥

तामापतन्तीं ज्वलितां मृत्युपाशोपमां गदाम् ।
अन्तरिक्षगतां रामश्चिच्छेद बहुधा शरैः ॥२७॥

---

१ परमाङ्गदः कनकवलयानि यस्यास्ताप्रविद्धाहस्तस्थागदा । (रा०)

तब श्रीराम ने उस चमचमाती और मृत्युपाश के समान गदा के, आकाश ही में मारे बाणों के, टुकड़े टुकड़े कर डाले ॥२७॥

सा विकीर्णा शरैर्भग्ना पपात धरणीतले ।
गदा मन्त्रौषधबलैर्व्यालीव विनिपातिता ॥२८॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः ॥

बाणों से चूर चूर हो कर, वह पृथिवी पर वैसे ही गिर पड़ी, जैसे मंत्र और ओषधि के प्रभाव से नागिन गिर पड़ती है ॥२८॥

अरण्यकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

त्रिंशः सर्गः

—❀—

भित्त्वा तु तां गदां बाणै राघवो धर्मवत्सलः ।
स्मयमानः[१] खरं वाक्यं संरब्ध[२]मिदमब्रवीत् ॥१॥

धर्मवत्सल श्रीराम उस गदा को बाणों से नष्ट कर, उपहास करते हुए उस घबड़ाए हुए खर से यह बोले ॥१॥

[टिप्पणी—"धर्मवत्सल" विशेषण श्रीरामचन्द्र जी के लिए इसलिए यहाँ दिया गया है कि, श्रीरामचन्द्र जी "निरायुध" शत्रु का वध करना धर्मविरुद्ध समझते हैं।]

एतत्ते बलसर्वस्वं दर्शितं राक्षसाधम ।
शक्तिहीनतरो मत्तो वृथा त्वमवगर्जसि ॥२॥

---

१ स्मयमान—परिहसन्नित्यर्थः । (गो०) संरब्ध—भ्रान्तमितिखर विशेषणं, 'संरब्ध संभ्रमे क्रोधे' इत्यमरः । (गो०)

हे राक्षसाधम ! (क्या) तेरा सब बल इतना ही था, जो तूने अभी दिखलाया। (किन्तु आश्चर्य है कि,) मुझ से बल में न्यून होने पर भी, मतवाले की तरह तू वृथा ही डींगे मारता है ॥२॥

एषा बाणविनिर्भिन्ना गदा भूमितलं गता ।
अभिधान[1]प्रगल्भस्य[2] तव प्रत्यरिघातिनी[3] ॥३॥

बढ़ बढ़ कर बातें मारने वाले, तुझ ढीठ की, शत्रुनाशिनी यह गदा, मेरे बाणो से चूर हो, पृथिवी पर पडी है ॥३॥

यत्त्वयोक्तं विनष्टानामहमास्रप्रमार्जनम् ।
राक्षसानां करोमीति मिथ्या तदपि ते वचः ॥४॥

तूने जो कहा था कि, 'मैं मरे हुए राक्षसो की विधवाओं और अनाथ बच्चो के आँसू पोंछूँगा" सो तेरी वह बात भी झूठी हो गई ॥४॥

नीचस्य क्षुद्रशीलस्य मिथ्यावृत्तस्य रक्षसः ।
प्राणानपहरिष्यामि गरुत्मानमृतं यथा ॥५॥

जिस प्रकार गरुड जी ने अमृत को हरा था, उसी प्रकार मैं भी नीच, ओछे स्वभाव वाले, झूठा व्यवहार करने वाले, तुझ राक्षस के प्राण (अभी) हरता हूँ ॥५॥

अद्य ते छिन्नकण्ठस्य फेनबुद्बुदभूषितम् ।
विदारितस्य मद्बाणैर्मही पास्यति शोणितम् ॥६॥

मेरे बाणो से विदारित हो, जब तेरा सिर कट जायगा, तब तेरे गले के झाग सहित रक्त को पृथिवी आज पान करेगी ॥६॥

---

१ अभिधाने—वचसि । (गो०) २ प्रगल्भस्य—धृष्टस्य । (गो०)
३ प्रत्यरिघातिनी—अरीनरीन् प्रतिघातिनी गदा । (गो०)

पांसुरूषितसर्वाङ्गः स्रस्तन्यस्तभुजद्वयः ।
स्वप्स्यसे गां समालिङ्ग्य दुर्लभां प्रमदामिव ॥७॥

अभी तू धूल धूसरित हो और अपनी दोनों भुजाओं को फैला कर, भूमि को वैसे ही आलिङ्गन किए हुए सोवेगा, जैसे कोई कामी पुरुष किसी दुर्लभ स्त्री को आलिङ्गन कर के सोता है ॥७॥

प्रवृद्धनिद्रे[1] शयिते त्वयि राक्षसपांसने ।
भविष्यन्त्यशरण्यानां[2] शरण्या[3] दण्डका इमे ॥८॥

अरे राक्षसाधम ! जब तू दीर्घ निद्रा में सो जायगा, (अर्थात् मर जायगा) तब अरक्षित ऋषियों के लिए यह दण्डकवन, सुख से रहने योग्य स्थान हो जायगा ॥८॥

जनस्थाने हतस्थाने[4] तव राक्षस मच्छरैः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति सर्वतो मुनयो वने ॥९॥

जब मेरे बाणों से यह जनस्थान राक्षसशून्य हो जायगा, तब मुनि लोग इस वन में निर्भय हो, सर्वत्र आ जा सकेंगे ॥९॥

अद्य विप्रसरिष्यन्ति राक्षस्यो हतबान्धवाः ।
बाष्पार्द्रवदना दीना भयादन्यभयावहाः ॥१०॥

दूसरे को भयभीत करने वाली राक्षसियाँ अपने सम्बन्धियों के मारे जाने के कारण दीनभाव से रोती हुई और भयभीत हो, आज यहाँ से भाग जायँगी ॥१०॥

---

१ [illegible] ([illegible]) २ [illegible] [illegible] ([illegible]) ३ [illegible] ([illegible]) ४ हत [illegible] निहत । [illegible] ([illegible])

अद्य शोकरसज्ञास्ता भविष्यन्ति निरर्थकाः ।
अनुरूपकुलाः पत्न्यो यासां त्वं पतिरीदृशः ॥११॥

जिन राक्षसियों का तुझ जैसा दुराचारी पति है, वे अपने कुल के अनुरूप दुराचारिणी राक्षसियाँ, आज शोकरस का आस्वादन कर, हीनवीर्य हो जायँगी। अर्थात् अब वे उपद्रव न करेंगी ॥११॥

नृशंस नीच क्षुद्रात्मन्नित्यं ब्राह्मणकण्टक ।
यत्कृते शङ्कितैरग्नौ मुनिभिः पात्यते हविः ॥१२॥

रे निष्ठुर! रे नीच! रे क्षुद्र बुद्धि वाले! अरे ब्राह्मणों को सदा सताने वाले! तुझ जैसा लोगों के डर ही से मुनिलोग निःशङ्क हो हवन नहीं करने पाते ॥१२॥

तमेवमभिसंरब्धं[१] ब्रुवाणं राघवं रणे ।
खरो निर्भर्त्सयामास रोषात्खरतरस्वनः ॥१३॥

जब कुपित हो श्रीराम ने खर से ऐसे वचन कहे, तब खर भी क्रोध में भर, उच्चस्वर से श्रीराम को गालियाँ देता दुर्वादिक हुआ बोला ॥१३॥

दृढं[२] खल्ववलिप्तोसि[३] भयेष्वपि च निर्भयः ।
वाच्यावाच्यं ततो हि त्वं मृत्युवश्यो न बुध्यसे ॥१४॥

निश्चय ही तू बड़ा घमंडी है। इसीसे तू भय रहने पर भी निर्भयसा जान पड़ता है। तेरी मृत्यु निकट है। इसीसे तू बोलते समय यह नहीं समझ सकता कि, क्या कहना चाहिए और क्या नहीं ॥१४॥

---

१ तमेवमभिसंरब्धम्—एववचो ब्रुवाणम्। (शि०) २ दृढ—निश्चित। (गो०) ३ अवलिप्तोसि—गर्वितोसि (गो०)

कालपाशपरिक्षिप्ता भवन्ति पुरुषा हि ये ।
कार्याकार्यं न जानन्ति ते निरस्तषडिन्द्रियाः ॥१५॥

जो लोग शीघ्र मरने वाले होते हैं, उनकी अन्तःकरणादि छः हों इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो जाती है। इसीसे उनको करने अनकरने कामों का ज्ञान नहीं रहता ॥१५॥

एवमुक्त्वा ततो रामं संरुध्य भ्रुकुटीं ततः ।
स ददर्श महासालमविदूरे निशाचरः ॥१६॥

श्रीराम जी से इस प्रकार कह और भौंहें सकोड, खर ने पास ही साल का एक बहुत बडा वृक्ष देखा ॥१६॥

रणे प्रहरणस्यार्थे सर्वतो ह्यवलोकयन् ।
स तमुत्पाटयामास संदश्य दशनच्छदम् ॥१७॥

उसने युद्ध करने के लिए शस्त्र की खोज मे, अपने चारों ओर निगाह डाली, (किन्तु जब उसे अन्य कोई शस्त्र अपने योग्य न देख पडा, तब) उसने किचकिचा कर, उस वृक्ष को उखाडा ॥१७॥

तं समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां विनद्य च महाबलः ।
राममुद्दिश्य चिक्षेप हतस्त्वमिति चाब्रवीत् ॥१८॥

और घोर गर्जना कर, दोनों भुजाओं से उस वृक्ष को, श्रीराम र यह कह कर कि, "बस, अब तू मारा गया" फेंका ॥१८॥

तमापतन्तं बाणौघैश्छित्त्वा रामः प्रतापवान् ।
रोषमाहारयत्तीव्रं निहन्तुं समरे खरम् ॥१९॥

प्रतापी श्रीरामचन्द्र जी ने उस साल वृक्ष को अपनी ओर आते देख, बाण मार कर उसके कितने ही टुकड़े कर डाले और क्रोध मे भर खर को मार डालने के लिए तीव्र बाण निकाले ॥१९॥

जातस्वेदस्ततो रामो रोषाद्रक्तान्तलोचनः ।
निर्बिभेद सहस्रेण बाणानां समरे खरम् ॥२०॥

उस समय मारे क्रोध के श्रीराम जी का शरीर पसीने से तर और उनके नेत्र खून की तरह लाल हो गए। उन्होंने एक हज़ार बाण खर के मारे ॥२०॥

तस्य बाणान्तरा[1]द्रक्तं बहु सुस्राव फेनिलम्[2] ।
गिरेः प्रस्रवणस्येव तोयधारापरिस्रवः[3] ॥२१॥

उन बाणो के घावों मे से फेनयुक्त रक्त की धारें उसी प्रकार बहने लगीं, जिस प्रकार पहाडी झरनो से पानी की धारे बहती हैं ॥२१॥

विह्वलः स कृतो बाणैः खरो रामेण संयुगे ।
मत्तो रुधिरगन्धेन तमेवाभ्यद्रवद्द्रुतम् ॥२२॥

श्रीराम जी ने खर को उस युद्ध मे, बाणो के आघात से [illegible] कर दिया। तब तो वह (अपने शरीर से निकलते हुए) [illegible] की गन्ध से मतवाला हो, बडे वेग से श्रीराम की ओर [illegible] ॥२२॥

तमापन्ततं संरब्धं[4] कृतास्त्रो रुधिराप्लुतम् ।
अपासर्पत्प्रतिपदं[5] [illegible]क अत्वरितविक्रमः ॥२३॥

---

१ बाणान्तरात्—बाणक्षतविवरात् । (गो०) २ फेनिल—फेनवत् । (गो०) ३ परिस्रवः—प्रवाहः । (गो०) ४ सरब्ध—सभ्रान्त । (गो०) ५ प्रतिपद—अस्त्र मोचनप्रतिकूल । (गो०)

खर को, क्रुद्ध और खून में डूबा हुआ अपनी ओर आते देख, और उस पर अस्त्र छोड़ने की घात न पा, श्रीरामचन्द्र जी तुरन्त कुछ पीछे हट गए ॥२३॥

[टिप्पणी—श्रीरामचन्द्र जी को दो चार पग पीछे हटना खर के भय से नहीं, किन्तु अस्त्र चलाने के लिए पर्याप्त अन्तर प्राप्त करने के लिये ही था।]

ततः पावकसङ्काशं वधाय समरे शरम्।
खरस्य रामो जग्राह ब्रह्मदण्डमिवापरम् ॥२४॥

युद्ध में खर का वध करने के लिए श्रीराम जी ने दूसरे ब्रह्मदण्ड के समान और अग्नि तुल्य एक बाण (अपने तरकस से) निकाला ॥२४॥

स तं दत्तं मघवता सुरराजेन धीमता।
सन्दधे चापि धर्मात्मा मुमोच च खरं प्रति ॥२५॥

यह बाण अगस्त्य जी को धीमान् इन्द्र ने दिया था, (और अगस्त्य से श्रीराम जी को मिला था,) धर्मात्मा श्रीराम जी ने वही बाण धनुष पर रख, खर के ऊपर छोड़ा ॥२५॥

स विमुक्तो महाबाणो निर्घातसमनिस्वनः।
रामेण धनुरायम्य खरस्योरसि चापतत् ॥२६॥

श्रीराम जी ने धनुष को तान कर जब बाण छोड़ा, तब वह बाण वज्र के समान महानाद करता हुआ खर की छाती में जा कर लगा ॥२६॥

स पपात खरो भूमौ दह्यमानः शराग्निना।
रुद्रेणेव विनिर्दग्धः श्वेतारण्ये यथान्तकः ॥२७॥

उस बाण से निकले अग्नि से खर दग्ध हो कर, पृथिवी पर वैसे ही गिर पड़ा, जैसे श्वेतारण्य में रुद्र ने अपने तृतीय नेत्र के अग्नि से अन्धकासुर को दग्ध कर, गिराया था ॥२७॥

[टिप्पणी—कूर्मपुराण के उत्तरखण्ड के ३६वें अध्याय में लिखा है कि, परमशैव श्वेत नाम के एक राजर्षि कालञ्जर पर्वत पर जब तप कर रहे थे; तब अन्तकासुर ने उन्हें मार डालने के लिए, उन पर आक्रमण किया। उस समय भक्तवत्सल शिव जी ने अपने बाएं पैर के आघात से अन्तकासुर को मार डाला था। (रा०)]

स वृत्र इव वज्रेण फेनेन नमुचिर्यथा ।
बलो वेन्द्राशनिहतो निपपात हतः खरः ॥२८॥

जैसे वज्र से वृत्तासुर, फेन से नमुचि और इन्द्र के वज्र से बलि मारे गए, वैसे ही खर भी श्रीरामचन्द्र जी के बाण से मारा जा कर, पृथिवी पर गिर पड़ा ॥२८॥

ततो राजर्षयः सर्वे सङ्गताः परमर्षयः[1] ।
सभाज्य[2] मुदिता राममिदं वचनमब्रुवन् ॥२९॥

तब सब राजर्षि और ब्रह्मर्षि एकत्र हो और प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र जी के पास गए और उनका सम्मान कर, उनसे यह बोले ॥२९॥

एतदर्थं महाभाग* महेन्द्रः पाकशासनः ।
शरभङ्गाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरन्दरः ॥३०॥

इसी उद्देश्य से पाकशासन महेन्द्र, शरभङ्ग जी के पुण्याश्रम आए थे ॥३०॥

आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः ।
एषां वधार्थं क्रूराणां रक्षसां पापकर्मणाम् ॥३१॥

और इन क्रूरकर्मा पापी राक्षसों के वध के लिए ही यत्नपूर्वक महर्षिगण तुमको यहाँ लाए थे ॥३१॥

---

१ परमर्षय:—ब्रह्मर्षय: । (गो०) २ सभाज्य—सम्पूज्य । (गो०)

* पाठान्तरे—'महातेजा" ।

तदिदं नः कृतं कार्यं त्वया दशरथात्मज ।
सुखं धर्मं चरिष्यन्ति दण्डकेषु महर्षयः ॥३२॥

हे दशरथात्मज ! हमारा यह काम तुमने कर दिआ । अब इस दण्डकवन में महर्षि गण सुख से धर्मानुष्ठान किआ करेंगे ॥३२॥

एतस्मिन्नन्तरे देवाश्चारणैः सह सङ्गताः ।
दुन्दुभींश्चाभिनिघ्नन्तः पुष्पवर्षं समन्ततः ॥३३॥

इतने ही मे देवता लोग चारणों को साथ लिए हुए आए और उन लोगों ने नगाड़े बजा कर चारों ओर फूलों की वर्षा की ॥३३॥

रामस्योपरि संहृष्टा ववृषुर्विस्मितास्तदा ।
अर्धाधिकमुहूर्तेन[1] रामेण निशितैः शरैः ॥३४॥

फिर हर्षित हो और श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर पुष्पों की वृष्टि कर, वे विस्मित हुए कि, तीन ही घड़ी मे अपने पैने बाणों से ॥३४॥
[ढाई घड़ी का एक घंटा होता है—अत, लगभग सवा घंटे में]

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
खरदूषणमुख्यानां निहतानि महाहवे ॥३५॥

उस महायुद्ध मे खर दूषणादि मुख्य राक्षसों के सहित, श्रीरामचन्द्र ने घोर कर्म करनेवाले १४ हजार राक्षसों को (कैसे) मार डाला ॥३५॥

अहो बत महत्कर्म रामस्य विदितात्मनः ।
अहो वीर्यमहो दार्ढ्यं[2] विष्णोरिव हि दृश्यते ॥३६॥

---

१ अर्धाधिक मुहूर्तेन—घटिकात्रयेण । (गो०) २ दार्ढ्य—सर्वप्रहार-सहत्वं । (गो०)

विदितात्मा श्रीरामचन्द्र का यह कर्म बड़े महत्व का है। आहा! इनका यह पराक्रम और सर्व-सहार चातुर्य विष्णु के तुल्य देख पड़ता है॥३६॥

इत्येवमुक्त्वा ते सर्वे ययुर्देवा यथागतम्।
एतस्मिन्नन्तरे[१] वीरो लक्ष्मणः सह सीतया ॥३७॥

यह कह कर, वे सब देवता जहाँ से आए थे, वहाँ लौट कर चले गए। इतने में शूरवीर लक्ष्मण, सीता जी को साथ लिए हुए ॥३७॥

गिरिदुर्गाद्विनिष्क्रम्य संविवेशाश्रमं सुखी[२]।
ततो रामस्तु विजयी पूज्यमानो महर्षिभिः ॥३८॥

गिरिगुहा से निकल कर और श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम से प्रसन्न होते हुए, आश्रम मे पहुँचे। तदनन्तर विजयी श्रीरामचन्द्र जी का महर्षियो ने बड़ा सम्मान किआ। ॥३८॥

प्रविवेशाश्रमं वीरो लक्ष्मणेनाभिपूजितः।
तं दृष्ट्वा शत्रुहन्तारं महर्षीणां सुखावहम् ॥३९॥

फिर लक्ष्मण जी से सम्मानित हो, वीरवर श्रीमराचन्द्र जी ने आश्रम मे प्रवेश किआ। शत्रुहन्ता एवं महर्षियों को आनन्द देने वाले श्रीरामचन्द्र जी को देख, ॥३९॥

बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे।
मुदा परमया युक्ता दृष्ट्वा रक्षोगणान् हतान्।
रामं चैवाव्यथं दृष्ट्वा तुतोष जनकात्मजा ॥४०॥

---

१ अन्तरे—अवसरे। (गो०) २ सुखी—रामपराक्रमदर्शनजन्यसन्तोषवान्। (गो०)

जनकनन्दिनी सीता जो प्रसन्न हुई और राक्षसो को मरा हुआ देख, जानकी जी ने परम सुख माना। फिर श्रीरामचन्द्र जी को विथा रहित अथवा निरापद देख, जानकी जी सन्तुष्ट हुई ॥४०॥

> ततस्तु तं राक्षससङ्घमर्दनं
> सभाज्यमानं मुदितैर्महर्षिभिः ।
> पुनः परिष्वज्य शशिप्रभानना
> बभूव हृष्टा जनकात्मजा तदा ॥४१॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

राक्षस समूह को मर्दन करनेवाले और प्रसन्नचित्त महर्षियों द्वारा पूजित श्रीरामचन्द्र को देख, चन्द्रवदनी जनकनन्दिनी सीता प्रसन्न हुई और पुनः श्रीरामचन्द्र जी को गले लगाया ॥४१॥

अरण्यकाण्ड का तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

— ॐ —

एकत्रिंशः सर्गः

— ॐ —

> त्वरमाणस्ततो गत्वा जनस्थानादकम्पनः ।
> प्रविश्य लङ्कां वेगेन रावणं वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

तदनन्तर अकम्पन नामक राक्षस शीघ्रता पूर्वक जनस्थान से लङ्का को गया और वहाँ जा कर, रावण से बोला ॥१॥

> जनस्थानस्थिता राजन् राक्षसा बहवो हताः ।
> खरश्च निहतः संख्ये कथंचिदहमागतः ॥२॥

---

१ अकम्पन इति—[illegible] (गो०)

हे राजन्! जनस्थान मे रहने वाले खर समेत बहुत से राक्षस युद्ध में मारे गए। मैं किसी तरह जीता जागता यहाँ आया हूँ ॥२॥

[टिप्पणी—भूषणटीकाकार ने "किसी तरह" का भाव यह दर्शाया है कि, अकम्पन स्त्रीवेश धारण कर भागा था।]

एवमुक्तो दशग्रीवः क्रुद्धः संरक्तलोचनः।
अकम्पनमुवाचेदं निर्दहन्निव चक्षुषा ॥३॥

अकम्पन के ये वचन सुन, रावण के नेत्र क्रोध के मारे लाल हो गए और वह अकम्पन से त्योरी चढ़ा ऐसे बोला, मानों उसे नेत्राग्नि से भस्म ही कर देगा ॥३॥

केन रम्यं जनस्थानं हतं मम परासुना[1]।
को हि सर्वेषु लोकेषु गतिं[2] चाधिगमिष्यति ॥४॥

किस गतायु ने मेरे उस रमणीय जनस्थान को ध्वस कर दिआ! किसकी यह इच्छा हुई है कि, वह त्रिलोकी मे न रहने पावे ॥४॥

न हि मे विप्रियं कृत्वा शक्यं मघवता सुखम्।
प्राप्तुं वैश्रवणेनापि न यमेन न विष्णुना ॥५॥

मुझे चिढा कर, इन्द्र, यम, कुबेर और विष्णु भी सुख नहीं पा सकते ॥५॥

कालस्य चाप्यहं कालो दहेयमपि पावकम्।
मृत्युं मरणधर्मेण संयोजयितुमुत्सहे ॥६॥

क्योंकि मैं काल का भी काल हूँ और अग्नि को भी भस्म कर सकता हूँ। अधिक क्या मैं मृत्यु को भी मरणशील बना सकता हूँ ॥६॥

दहेयमपि संक्रुद्धस्तेजसाऽऽदित्यपावकौ।
वातस्य तरसा वेगं निहन्तुमहमुत्सहे ॥७॥

---

१ परासुना—परागत प्राणेन। (शि०) २ गतिं—स्थितिं। (गो०)

क्रुद्ध होने पर, मैं अपने तेज से अग्नि और सूर्य को भी दग्ध कर सकता हूँ और अपने वेग से वायु का वेग नष्ट कर सकता हूँ ॥७॥

तथा क्रुद्धं दशग्रीवं कृताञ्जलिरकम्पनः ।
भयात्सन्दिग्धया[1] वाचा रावणं याचतेऽ[2]भयम् ॥८॥

रावण को इस प्रकार क्रुद्ध देख, अकम्पन बहुत डरा और हाथ जोड़ अस्पष्ट अक्षरों से युक्त शब्दों में, अर्थात् लड़खड़ाती जबान से उसने अभयदान माँगा ॥८॥

दशग्रीवोऽभयं तस्मै प्रददौ रक्षसांवरः ।
स विश्रब्धोऽब्रवीद्वाक्यमसन्दिग्धमकम्पनः ॥९॥

तब राक्षसश्रेष्ठ रावण ने अकम्पन को अभय प्रदान किया। तब रावण के अभयदान पर विश्वास कर, अकम्पन ने साफ साफ सकल वृत्तान्त कहा ॥९॥

पुत्रो दशरथस्यास्ति सिंहसंहननो युवा ।
रामो नाम वृषस्कन्धो वृत्तायतमहाभुजः ॥१०॥
वीरः पृथुयशाः श्रीमानतुल्यबलविक्रमः ।
हतं तेन जनस्थानं खरश्च सहदूषणः ॥११॥

सिंह के समान सुन्दर शरीरावयव वाले, वीर, युवावस्था को प्राप्त, ऊँचे कन्धों वाले, गोल एवं लम्बी भुजाओं वाले, वीर महायशस्वी, श्रीमान और अतुलित बल-पराक्रम वाले श्रीराम ने, जो महाराज दशरथ के पुत्र हैं, जनस्थान में आ कर, खर और दूषण को मारा है ॥१०॥११॥

१ सन्दिग्धया—स्खलितपदया। (गो०) २ याचते—अयाचत। (गो०)

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसाधिपः ।
नागेन्द्र[1] इव निःश्वस्य वचनं चेदमब्रवीत् ॥१२॥

राक्षसेश्वर रावण, अकम्पन के वचन सुन, सर्पेन्द्र की तरह फुफकार छोड़ता हुआ बोला ॥१२॥

स सुरेन्द्रेण संयुक्तो रामः सर्वामरैः सह ।
उपयातो जनस्थानं ब्रूहि कच्चिदकम्पन ॥१३॥

हे अकम्पन ! तू यह तो बतला कि, क्या वह राम देवराज इन्द्र और सब देवताओं को साथ ले, जनस्थान में आया है? ॥१३॥

रावणस्य पुनर्वाक्यं निशम्य तदकम्पनः ।
आचचक्षे बलं तस्य विक्रमं च महात्मनः ॥१४॥

रावण के इस प्रश्न के उत्तर में अकम्पन रावण से श्रीरामचन्द्र जी बल विक्रम का बखान करता हुआ, पुनः बोला ॥१४॥

रामो नाम महातेजाः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ।
दिव्यास्त्रगुणसम्पन्नः पुरन्दरसमो युधि ॥१५॥

हे रावण ! श्रीराम बड़ा तेजस्वी और धनुषधारियों में श्रेष्ठ । युद्ध में दिव्यास्त्रों के चलाने में उसका इन्द्र की तरह सामर्थ्य ॥१५॥

तस्यानुरूपो बलवान् रक्ताक्षो दुन्दुभिस्वनः ।
कनीयाँल्लक्ष्मणो नाम भ्राता शशिनिभाननः ॥१६॥

चन्द्रमा के समान मुख वाला उसका छोटा भाई लक्ष्मण है। वह राम के समान बली है। उसके बोलने का शब्द नगाड़े के शब्द की तरह गम्भीर है और उसके दोनों नेत्र लाल रंग के हैं ॥१६॥

---

1 नागेन्द्र—सर्पेन्द्र। (गो०)

स तेन सह संयुक्तः पावकेनानिलो यथा ।
श्रीमान् राजवरस्तेन जनस्थानं निपातितम् ॥१७॥

जैसे पवन की सहायता से अग्नि वन को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार श्रीमान् राजश्रेष्ठ राम ने अपने भाई के साथ जनस्थान को उजाड़ा है ॥१७॥

नैव देवा महात्मानो नात्र कार्या विचारणा ।
शरा रामेण तूत्सृष्टा रुक्मपुङ्खाः पतत्रिणः ॥१८॥

राम की सहायता को प्रसिद्ध (बड़े-बड़े) महानुभाव देवता नहीं आए थे। इस विषय में आप और कुछ सोच विचार न करें। क्योंकि श्रीराम ने उस युद्ध में सुवर्ण पुंख युक्त ऐसे बाण छोड़े थे ॥१८॥

सर्पाः पञ्चानना[1] भूत्वा भक्षयन्ति स्म राक्षसान् ।
येन येन च गच्छन्ति राक्षसा भयक[illegible]ताः[2] ॥१९॥
तेन तेन स्म पश्यन्ति राममेवाग्रतः स्थितम् ।
इत्थं [illegible] तेन जनस्थानं तवानघ ॥२०॥

[illegible] इन बाणों से [illegible] हे [illegible]! इस प्रकार [illegible] ॥१९-२०॥

[illegible] ।
[illegible] ॥२१॥

[illegible]

[illegible] (टी०)

अथैवमुक्ते वचने प्रोवाचेदमकम्पनः ।
शृणु राजन् यथावृत्तं रामस्य बलपौरुषम् ॥२२॥

रावण की यह बात सुन, अकम्पन बोला—हे राजन्! श्रीराम जैसे चरित्रवान्, बली और पुरुषार्थी हैं, सो मैं कहता हूँ, आप उसे सुनिए ॥२२॥

असाध्यः[1] कुपितो रामो विक्रमेण महायशाः ।
आपगायाः सुपूर्णाया वेगं परिहरेच्छरैः ॥२३॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जब क्रुद्ध हों, तब किसी में ऐसी शक्ति नहीं, जो पराक्रम से उनको जीत सके। वे बाणविद्या में ऐसे पटु हैं कि, जल से लबालब भरी नदी के प्रवाह के वेग को, वे अपने बाणों से रोक सकते हैं ॥२३॥

सताराग्रहनक्षत्रं नभश्चाप्यवसादयेत्[2] ।
असौ रामस्तु मज्जन्तीं श्रीमानभ्युद्धरेन् महीम् ॥२४॥

श्रीरामचन्द्र जी तरैयों, नवग्रह और सत्ताइसों नक्षत्रों सहित आकाशमण्डल को खण्ड खण्ड कर सकते हैं। डूबती हुई पृथिवी को भी श्रीमान् राम उबार सकते हैं ॥२४॥

भित्त्वा वेलां समुद्रस्य लोकानाप्लावयेद्विभुः ।
वेगं वाऽपि समुद्रस्य वायुं वा विधमे[3]च्छरैः ॥२५॥

और यदि वे चाहें तो समुद्र की वेलाभूमि (तट की भूमि) को तोड़ कर, सारे संसार को जलमग्न कर सकते हैं। (इसी प्रकार) वे समुद्र अथवा पवन का वेग अपने बाणों से रोक सकते हैं ॥२५॥

---

१ असाध्यः—अनिग्राह्यः। (गो०) २ अवसादयेत्—विशीर्णंकुर्यात्। (गो०) ३ विधमेत्—दहेत्। (गो०)

संहृत्य वा पुनर्लोकान् विक्रमेण महायशाः ।
शक्तः स पुरुषव्याघ्रः स्रष्टुं पुनरपि प्रजाः ॥२६॥

पुरुषश्रेष्ठ एवं महायशस्वी श्रीराम अपने पराक्रम से समस्त लोकों का संहार कर, फिर नयी सृष्टि रच सकते हैं ॥२६॥

न हि रामो दशग्रीव शक्यो जेतुं त्वया युधि ।
रक्षसां वाऽपि लोकेन स्वर्गः पापजनैरिव ॥२७॥

हे दशग्रीव ! तुम या तुम्हारे राक्षस युद्ध में राम को परास्त नहीं कर सकते । जैसे पापी लोग स्वर्ग नहीं पा सकते ॥२७॥

न तं वध्यमहं मन्ये सर्वैर्देवासुरैरपि ।
अयं तस्य वधोपायस्तं [1]ममैकमनाः[2] शृणु ॥२८॥

मेरी जान में तो सब देवता और असुर मिल कर भी उन्हें नहीं मार सकते । किन्तु उनके मारने का मैं उपाय बतलाता हूँ, उसे ध्यान दे कर, सुनिये ॥२८॥

भार्या तस्योत्तमा लोके सीता नाम सुमध्यमा[3] ।
श्यामा[4] समविभक्ताङ्गी स्त्रीरत्नं[5] रत्नभूषिता ॥२९॥

उनके साथ उनकी भार्या सीता है । वह संसार की समस्त स्त्रियों से बढ़ चढ़ कर है । उसकी पतली कमर है और उसके शरीर के अन्य सब अंग भी सुन्दर और सुडौल हैं इस समय उसकी चढ़ती हुई जवानी है । वह स्त्रियों में श्रेष्ठ और रत्न जटित भूषणों से भूषित है ॥२९॥

---

१ मम—मत्त (गो०) २ एकमना—सावधान (गो०) ३ सुमध्यमा—शोभनकटिप्रदेशविशिष्टा । (शि०) ४ श्यामा—यौवनमध्यस्था । (गो०) ५ स्त्रीरत्नं स्त्रीश्रेष्ठा । (गो०)

नैव देवी[1] न गन्धर्वी नाऽप्सरा नाऽपि दानवी ।
तुल्या सीमन्तिनी[2] तस्या मानुषीषु कुतो भवेत् ॥३०॥

सौन्दर्य मे उनकी स्त्री का सामना न तो किसी देवता की कोई स्त्री, न किसी गन्धर्व की कोई स्त्री, न कोई अप्सरा और न किसी दानव की स्त्री कर सकती है। फिर भी भला मनुष्य की स्त्री तो उसके सौन्दर्य के समान हो ही कैसे सकती है ॥३०॥

तस्यहापर भार्यां त्वं प्रमथ्य तु महावने ।
सीतया रहितः कामी रामो हास्यति जीवितम् ॥३१॥

सो तुम उस महावान मे जा, जैसे बने वैसे छल बल से रामचन्द्र की भार्या को हर लाओ। सीता रहित हो, रामचन्द्र जो कामी है, अपने प्राण (आप) छोड़ देंगे ॥३१॥

अरोचयत तद्वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः ।
चिन्तयित्वा महाबाहुरकम्पनमुवाच ह ॥३२॥

महाबाहु राक्षसेश्वर रावण को अकम्पन का बतलाया हुआ यह उपाय पसंद आया। वह सोच विचार कर अकम्पन से बोला ॥३२॥

बाढं काल्यं गमिष्यामि ह्येकः सारथिना सह ।
आनयिष्यामि वैदेहीमिमां हृष्टो महापुरीम् ॥३३॥

बहुत अच्छा! कल मैं अकेला सारथी को अपने साथ ले कर, जाऊँगा और जानकी को हर्षित हो इस लङ्कापुरी मे ले आऊँगा ॥३३॥

---

१ देवी—देवस्त्री। (गो०) २ सीमन्तिनी—स्त्री। (गो०)

अथैवमुक्त्वा प्रययौ खरयुक्तेन रावणः ।
रथेनादित्यवर्णेन दिशः सर्वाः प्रकाशयन् ॥३४॥

दूसरे दिन रावण सूर्य के समान चमकते हुए रथ पर, जिसमें खच्चर जुते हुए थे, सवार हो, सब दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ, चला ॥३४॥

स रथो राक्षसेन्द्रस्य नक्षत्रपथगो महान् ।
सञ्चार्यमाणः शुशुभे जलदे चन्द्रमा इव ॥३५॥

राक्षसराज का वह आकाशगामी महारथ, नक्षत्र मार्ग से चलता हुआ ऐसा शोभित हुआ जैसे मेघमण्डल में चन्द्रमा शोभित होता है ॥३५॥

स मारीचाश्रमं प्राप्य ताटकेयमुपागमत् ।
मारीचेनार्चितो राजा भक्ष्यभोज्यैरमानुषैः ॥३६॥

रावण ताड़का के पुत्र मारीच के आश्रम में पहुँच, मारीच के पास गया। मारीच ने मनुष्यलोक में मिलना जिनका दुर्लभ था, ऐसे खाने पीने के पदार्थों को सामने रख, रावण का आतिथ्य किया ॥३६॥

तं स्वयं पूजयित्वा तु आसनेनोदकेन च ।
अर्थोपहितया वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥३७॥

और मारीच ने स्वयं बैठने को आसन और पैर धोने को जल दे रावण का सत्कार किया। तदनन्तर मारीच ने रावण से प्रयोजन की बात कही ॥३७॥

---

१ [illegible]

कच्चित्सुकुशलं राजँल्लोकानां[१] राक्षसेश्वर ।
आशङ्के नाथ जाने त्वं यतस्तूर्णमिहागतः ॥३८॥

हे राजन् ! हे राक्षसेश्वर ! कहिए राक्षस लोग सकुशल तो हैं ? हे नाथ ! हड़बडा कर यहाँ आपके आने से, मुझे राक्षसों के सकुशल होने मे शङ्का होती है ॥३८॥

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः ।
ततः पश्चादिदं वाक्यमब्रवीद्वाक्यकोविदः ॥३९॥

मारीच द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर, महातेजस्वी और बातचीत करने मे चतुर रावण बोला ॥३९॥

आरक्षो[२] मे हतस्तात रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
जनस्थानमवध्यं तत्सर्वं युधि निपातितम् ॥४०॥

बड़े कठिन कर्म करने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने हमारे जनस्थान के रक्षक खर दूषणादि सब राक्षसो को, जो किसी के मारे नहीं मर सकते थे, युद्ध मे मार डाला ॥४०॥

तस्य मे कुरु साचिव्यं[३] तस्य भार्यापहारणे ।
राक्षसेन्द्रवचः श्रुत्वा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥४१॥

अत श्रीराम स्त्री हर लाने के काम मे तुमको मेरी सहायता करनी चाहिए । रावण की यह बात सुन मारीच बोला ॥४१॥

आख्याता केन सीता सा मित्ररूपेण शत्रुणा ।
त्वया राक्षसशार्दूल को न नन्दति निन्दितः[४] ॥४२॥

---

१ लोकानां—राक्षसलोकानां । (गो०) २ आरक्षः—अन्तपालः । (गो०) ३ साचिव्यं—साहाय्यं । (गो०) ४ निन्दितः—तिरस्कृतः । (गो०)

किस मित्ररूप शत्रु ने तुमको सीता का नाम बतलाया है? हे राक्षसशार्दूल! (जिसने तुम्हें यह काम करने की सलाह दी है) उसने ऐसा कर, तुम्हारा तिरस्कार किया है। वह कौन है, जो तुम्हारे ऐश्वर्य को देख प्रसन्न नहीं होता अर्थात् जिसने ऐसी सलाह तुम्हें दी है, वह तुम्हारे ऐश्वर्य से जलता है॥४२॥

सीतामिहानयस्वेति को ब्रवीति ब्रवीहि मे।
रक्षोलोकस्य सर्वस्य कः शृङ्गं[1] छेत्तुमिच्छति॥४३॥

"सीता को यहाँ ले आओ" यह बात तुमसे किसने कही है? यह मुझे बतलाओ कि, वह कौन है जो समस्त राक्षसों के प्राधान्य को नष्ट करना चाहता है?॥४३॥

प्रोत्साहयति कश्चित्त्वां स हि शत्रुरसंशयः।
आशीविषमुखाद्दंष्ट्रामुद्धर्तुं चेच्छति त्वया॥४४॥

किसने तुम्हें इस काम के लिए प्रोत्साहित किया है? जिसने तुम्हें इसके लिए प्रोत्साहित किया है वह निस्सन्देह तुम्हारा [illegible] क्योंकि वह तुम्हारे हाथ से विषधर सर्प के मुख से, विषदन्त उखड़वाना चाहता है॥४४॥

कर्मणा तेन केनाऽसि कापथं प्रतिपादितः।
सुखसुप्तस्य ते राजन् प्रहृतं केन मूर्धनि॥४५॥

यह काम तुमसे करवा कर कौन तुम्हें कुपथ में ले जाना चाहता है? हे राजन्! सुख से सोते हुए, तुम्हारे मस्तक पर किसने प्रहार किया है?॥४५॥

मारीच [illegible] के श्लोक में श्रीराम को गन्धहस्ती की उपमा देता है।

१ शृङ्गं—प्राधान्यं। (गो०)

द्वात्रिंशः सर्गः



ततः शूर्पणखा दृष्ट्वा सहस्राणि चतुर्दश ।
हतान्येकेन रामेण रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥१॥
दूषणं च खरं चैव हतं त्रिशिरसा सह ।
दृष्ट्वा पुनर्महानादं ननाद जलदो यथा ॥२॥

तदनन्तर जब शूर्पनखा ने देखा कि, अकेले राम ने चौदह हजार भीमकर्मा राक्षसों को मार डाला और दूषण, खर तथा त्रिशिरा भी मारे गए, तब वह मेघ की तरह गम्भीर गर्जना करने लगी ॥१॥२॥

सा दृष्ट्वा कर्म रामस्य कृतमन्यैः सुदुष्करम् ।
जगाम परमोद्विग्ना लङ्कां रावणपालिताम् ॥३॥

जो काम दूसरों से कभी नहीं हो सकता था, उस काम को म द्वारा किआ हुआ देख, शूर्पनखा बहुत घबडानी और की लङ्का को गई ॥३॥

सा ददर्श विमानाग्रे[1] रावणं दीप्ततेजसम् ।
उपोपविष्टं सचिवैर्मरुद्भि[2]रिव वासवम् ॥४॥

शूर्पनखा ने बड़े तेज से युक्त रावण को पुष्पक विमान के अग्र भाग में मन्त्रियों सहित उसी प्रकार बैठा देखा, जिस प्रकार इन्द्र देवताओं सहित बैठते हैं ॥४॥

---

१ विमानाग्रे—पुष्पक विमानाग्रे । (गो०) २ मरुद्भिः—देवैः । (गो०)

आसीनं सूर्यसङ्काशे काञ्चने परमासने ।
रुक्मवेदिगतं प्राज्यं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥५॥

सूर्य के समान चमकते हुए सुवर्णनिर्मित श्रेष्ठसिंहासन पर बैठने से, रावण की शोभा वैसी हो रही थी, जैसी कि, सुवर्ण भूषित वेदी पर, प्रज्वलित अग्नि की होती है ॥५॥

देवगन्धर्वभूतानामृषीणां च महात्मनाम् ।
अजेयं समरे शूरं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥६॥

युद्ध में, देवता, गन्धर्व, भूत, ऋषि, व महात्माओं से अजेय (न जीते जाने योग्य) शूरवीर और काल की तरह मुख खोले ॥६॥

देवासुरविमर्देषु[१] वज्राशनिकृतव्रणम् ।
ऐरावतविषाणाग्रैरुत्कृष्टकिणवक्षसम् ॥७॥

देवासुर संग्राम में वज्र के लगने के कारण घायल और छाती में ऐरावत गज के दाँतों के घाव की नूत से भूषित ॥७॥

विंशद्भुजं दशग्रीवं दर्शनीयपरिच्छदम् ।
विशालवक्षसं वीरं राजलक्षणशोभितम् ॥८॥

बीस भुजाओं और दस सीस वाला, देखने योग्य, छत्र चँवर सहित, विशाल छाती वाला शूर राजलक्षणों से शोभित ॥८॥

स्निग्धवैदूर्यसङ्काशं तप्तकाञ्चनकुण्डलम् ।
सुभुजं शुक्लदशनं महास्यं पर्वतोपमम् ॥९॥

चिकने पन्ने की तरह शरीर की कान्ति से युक्त, विशुद्ध सुवर्ण के कुण्डल पहिने हुए, लम्बी बाहों और बड़े मुख वाला और पर्वत के समान लंबा ॥९॥

---

१ विमर्देषु—युद्धेषु । (गो०)

विष्णुचक्रनिपातैश्च शतशो देवसंयुगे ।
अन्यैः शस्त्रप्रहारैश्च महायुद्धेषु ताडितम् ॥१०॥

सैकड़ों बार देवताओं के साथ लड़ते समय विष्णु के चक्र से तथा अन्य अनेक महायुद्धों में अस्त्रों से घायल, ॥१०॥

आहताङ्गं समस्तैश्च देवप्रहरणैस्तथा ।
अक्षोभ्याणां समुद्राणां क्षोभणं क्षिप्रकारिणम् ॥११॥

तथा देवताओं के प्रहार से जिसके समस्त अंग घायल थे, अक्षोभ्य समुद्रों को भी क्षुब्ध करने वाला तथा सब कामों को शीघ्र करने वाला, ॥११॥

क्षेप्तारं पर्वतेन्द्राणां सुराणां च प्रमर्दनम् ।
उच्छेत्तारं च धर्माणां परदाराभिमर्शनम् ॥१२॥

बड़े बड़े पर्वतों को उखाड़ कर फैकने वाला, देवताओं को मर्दन करने वाला, सब धर्मों की जड़ काटने वाला, परस्त्री-गामी ॥१२॥

सर्वदिव्यास्त्रयोक्तारं यज्ञविघ्नकरं सदा ।
पुरीं भोगवतीं प्राप्य पराजित्य च वासुकिम् ॥१३॥

समस्त दिव्यास्त्रों को चलाने वाला, सदा यज्ञों में विघ्न डालने वाला, भोगपुरी में जा, वासुकि को पराजित कर, ॥१३॥

तक्षकस्य प्रियां भार्यां पराजित्य जहार यः ।
कैलासपर्वतं गत्वा विजित्य नरवाहनम् ॥१४॥

तक्षक को युद्ध में पराजित कर, उसकी प्यारी स्त्री को हर लाने वाला, कैलास पर जा, कुवेर को जीत कर, ॥१४॥

विमानं पुष्पकं तस्य कामगं वै जहार यः।
वनं चैत्ररथं दिव्यं नलिनीं[1] नन्दनं वनम् ॥ १५ ॥

विनाशयति यः क्रोधाद्देवोद्यानानि वीर्यवान्।
चन्द्रसूर्यौ महाभागावुत्तिष्ठन्तौ[2] परन्तपौ ॥१६॥

उनका इच्छाचारी पुष्पक विमान छीनने वाला, क्रुद्ध हो दिव्य चैत्ररथ नामक वन को तथा कुवेर की नलिनी नामक पुष्करिणी को और देवताओं के नन्दनादि उद्यानों को नाश करने वाला, पराक्रमी, उदय होते हुए सूर्य चन्द्र को ॥१५॥१६॥

निवारयति बाहुभ्यां यः शैलशिखरोपमः।
दश वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महावने ॥१७॥

दोनों बाहों से रोकने वाला, पर्वतशिखर की तरह लंबा, महावन में दस हज़ार वर्ष तक तप कर, ॥१७॥

पुरा स्वयंभुवे धीरः शिरांस्युपजहार यः।
देवदानवगन्धर्वपिशाचपतगोरगैः ॥१८॥

अभयं यस्य संग्रामे मृत्युतो[3] मानुषादृते।
मन्त्रैरभिष्टुतं पुण्यमध्वरेषु[4] द्विजातिभिः ॥१९॥

हविर्धानेषु यः सोममुपहन्ति महाबलः।
प्राप्तयज्ञहरं[5] क्रूरं ब्रह्मघ्नं दुष्टचारिणम् ॥२०॥

---

१ नलिनी—कुबेरस्य पुष्करिणी। (गो०) २ उत्तिष्ठन्तौ—उद्यन्तौ। (गो०) ३ मानुषात्—मनुष्यात्। (गो०) ४ अध्वरेषु—यज्ञेषु। (गो०) ५ प्राप्तयज्ञहर—[illegible] हरति हिनस्ति। (गो०)

पूर्वकाल में ब्रह्मा जी को अपने मस्तकों को काट कर चढाने वाला, देव, दानव, गन्धर्व, पिशाच, पक्षी और सर्पो से युद्ध में मृत्यु को प्राप्त न होने वाला, मनुष्यों का तिरस्कार कर, उनके द्वारा मारे जाने का वरदान न माँगने वाला, यज्ञों मे मन्त्रों से स्तुति किए गए ब्राह्मणों के पवित्र सोम को नष्ट करने वाला, महाबली, दक्षिणा देने के समय यज्ञ का ध्वस करने वाला, नृशस, ब्रह्महत्यारा, दुष्टाचारी ॥१८ १६॥२०॥

कर्कशं निरनुक्रोशं[1] प्रजानामहिते रतम् ।
रावणं सर्वभूतानां सर्वलोकभयावहम् ॥२१॥

कर्कश, दयाशून्य, प्रजाजनों का अहित करने वाला सब ो और सब लोकों को भयभीत करने वाला जो रावण था, ॥२१॥

राक्षसी भ्रातरं ‹ ‹ सा ददर्श महाबलम् ।
तं दिव्यवस्त्राभरणं दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥२२॥

उस महाबली शूर, अपने भाई को शूर्पनखा ने देखा। वह सुन्द स्त्र पहिने हुए था और सुन्दर मालाओं से विभूषित ॥२२॥

आसने पविष्टं च कालकाल[2]मिवोद्यतम् ।
राक्षसेन्द्र महाभागं पौलस्त्यकुलनन्दनम् ॥२३॥

वह आसन पर भली भाँति बैठा हुआ था और उस समय वह मृत्यु के मृत्यु की तरह उद्यत सा देख पड़ता था। ऐसे राक्षस राज, महाभाग और पौलस्त्यनन्दन ॥२३॥

१ निरनुक्रोश—निर्दय। (गो०) २ कालकाल —मृत्योरपिमृत्यु। (गो०)

रावणं शत्रुहन्तारं मन्त्रिभिः परिवारितम् ।
अभिगम्याब्रवीद्वाक्यं राक्षसी भयविह्वला ॥२४॥

शत्रुहन्ता, और मंत्रियों के बीच बैठे हुए रावण के पास जा, शूर्पनखा ने भय से व्याकुल हो कहा, ॥२४॥

तमब्रवीद्दीप्तविशाललोचनं
प्रदर्शयित्वा[1] भयमोहमूर्छिता ।
सुदारुणं वाक्यमभीतचारिणी
महात्मना शूर्पणखा विरूपिता ॥२५॥

इति द्वात्रिंश सर्ग ॥

श्रीराम जी द्वारा विरूपित (शक्ल बिगडी हुई) शूर्पनखा अपने कटे हुए कानों और नाक को दिखला चमकते हुए विशाल नेत्रों वाले रावण से भय और मोह से मोहित हो, निडर सी हो, कठोर वचन बोली ॥२५॥

अरण्यकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— ❀ —

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

— ❀ —

ततः शूर्पणखा दीना[2] रावणं लोकरावणम् ।
अमात्यमध्ये संक्रुद्धा[3] परुषं वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

---

१ प्रदर्शयित्वा—स्ववैरूप्यमितिशेषः । (गो०) २ दीना—रामपरिभूतत्वात् । (गो०) ३ संक्रुद्धा—स्वपरिभवकर्तृन्प्रति भ्रातृन्प्रज्वलतदा संक्रुद्धा । (गो०)

तदनन्तर मंत्रियों के बीच बैठे हुए और संसार को रुलाने वाले रावण पर शूर्पनखा क्रुद्ध हुई (क्रुद्ध इसलिए कि, खरदूषण आदि के ारे जाने पर भी वह हाथ पर हाथ धरे बैठा है) और उसने कठोर वचन कहे ॥१॥

प्रमत्तः कामभोगेषु स्वैरवृत्तो[1] निरङ्कुशः[2] ।
समुत्पन्नं भयं घोरं बोद्धव्यं नावबुध्यसे ॥२॥

रावण ! तू अत्यन्त मतवाला हो, सदा कामपरवश बना रहता है। तूने नीति मर्यादा त्याग दी है। अतएव जो घोर विपत्ति इस समय सामने है और जिसे तुझे जानना चाहिए, उससे तू बेख़बर है ॥२॥

सक्तं ग्राम्येषु[3] भोगेषु कामवृत्तं[4] महीपतिम् ।
लुब्धं न बहु मन्यन्ते श्मशानाग्निमिव प्रजाः ॥३॥

देख, जो राजा सदा स्त्री मैथुनादि भोगो से आसक्त, स्वेच्छाचारी और लोभी होता है, उस राजा को, प्रजाजन श्मशान की आग की तरह बहुत नहीं मानते अर्थात् आदर नहीं करते ॥३॥

स्वयं कार्याणि यः काले नानुतिष्ठति पार्थिवः ।
स तु वै सह राज्येन तैश्च कार्यैर्विनश्यति ॥४॥

जो राजा समय पर अपने कार्यो को स्वयं नहीं करता, वह केवल अपने उन कार्यो ही को नष्ट नहीं करता, बल्कि अपने राज्य को भी चौपट कर डालता है ॥४॥

---

१ स्वैरवृत्तः—स्वतन्त्रः । (गो०) २ निरङ्कुशः—नीतिमर्यादा रहितः । (शि०) ३ ग्राम्येषु—मैथुनादिषु । (गो०) ४ कामवृत्त—यथेच्छव्यापार । (गो०)

१अयुक्तचार २दुर्दर्शमस्वाधीनं३ नराधिपम् ।
वर्जयन्ति नरा दूरान्नदीपङ्कमिव द्विपाः ॥५॥

जो राजा अयोग्य कार्य करने वाला है, जो समय पर राजसभा में आ कर प्रजाजनों को दर्शन नहीं देता और जो अपनी रानियों के अधीन रहता अथवा दूसरे की कही बातों पर सहसा विश्वास कर लिआ करता है, उस राजा को प्रजाजन उसी प्रकार दूर से त्याग देते हैं, जिस प्रकार हाथी नदी के दलदल को दूर से त्याग देते हैं ॥५॥

ये न रक्षन्ति ४विषयमस्वाधीना५ नराधिपाः ।
ते न वृद्ध्या प्रकाशन्ते गिरयः सागरे यथा ॥६॥

जो राजा अपने हाथ से निकले हुए और पराये हाथ में गए हुए अपने राज्य की रक्षा (अर्थात् अपने अधिकार में) नहीं कर सकते, उन राजाओं की सम्पत्ति की वृद्धि समुद्रस्थित पर्वत की तरह नहीं होती ॥६॥

आत्मवद्भिर्विगृहीतस्त्वं देवगन्धर्वदानवैः ।
अयुक्तचारश्चपलः कथं राजा भविष्यसि ॥७॥

एक तो तू चञ्चल है दूसरे तू यत्न करने में असावधान है, तीसरे तू दूतों के सञ्चार से हीन है (अर्थात तेरे चर सर्वत्र नियुक्त नहीं हैं) फिर देवताओं गन्धर्वों और दानवों से वैर कर, तू किस प्रकार राज्य कर सकता है ॥७॥

---

१ अयुक्तचार—अनियोजितचार। (गो०) २ दुर्दर्श—उचितकाल दर्शनाप्रद दर्शनप्रदानरहित। (गो०) ३ अस्वाधीन—स्त्र्यादिपरतन्त्र परप्रत्ययनेयबुद्धिर्वा (गो०) ४ विषयं स्वराज्यम्। (गो०) ५ अस्वाधीन—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। (गो०)

त्वं तु बालस्वभावश्च बुद्धिहीनश्च राक्षस ।
ज्ञातव्यं तु न जानीषे कथं राजा भविष्यसि ॥८॥

तू बालक की तरह विवेकशून्य और बुद्धिहीन है। इसीसे तुझे जो बात जाननी चाहिये उसे तू नहीं जानता, भला फिर किस तरह अपने राज्य की रक्षा कर सकेगा ? ॥८॥

येषां चारश्च कोशश्च नयश्च जयतांवर ।
अस्वाधीना नरेन्द्राणां प्राकृतैस्ते जनैः समाः ॥९॥

हे जीतने वालों में श्रेष्ठ ! जिन राजाओं के अधीन उनके चर (जासूस) धनागार और राजनीति नहीं है, अर्थात् जो राजनीति स्वयं न जान कर, अपने मन्त्रियो के ऊपर निर्भर हैं) वे राजा साधारण जनों के समान हैं ॥९॥

यस्मात्पश्यन्ति दूरस्थान् सर्वानर्थान् न राधिपाः ।
चारेण तस्मादुच्यन्ते राजानो दीर्घचक्षुषः ॥१०॥

राजा लोग दूर के समस्त वृत्तान्तों को चरों (जासूसों) को ...फ कर, उनके द्वारा मानों (स्वयं) देखते रहते हैं। इसीसे "दीर्घचक्षु" "दूर दृष्टि वाले", कहलाते हैं ॥१०॥

अयुक्तचारं मन्ये त्वां प्राकृतैः सचिवैर्वृतम् ।
स्वजनं तु जनस्थानं[१] हतं यो नावबुध्यसे ॥११॥

मैं जानती हूँ कि, तूने कहीं भी जासूस नियत नहीं किए और तू साधारण बुद्धि वाले मन्त्रियों में उठा बैठा करता है। इसीसे तुझे जनस्थानवासी अपने कुटुम्बियों के नष्ट होने का कुछ भी हाल नहीं मालूम ॥११॥

---

१ जनस्थां—जनस्थानस्थितं (गो०)

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां क्रूरकर्मणाम् ।
हतान्येकेन रामेण खरश्च सहदूषणः ॥१२॥

खर और दूषण के सहित चौदह हज़ार क्रूरकर्मा (कठोर कर्म करने वाले) राक्षसों को अकेले एक श्रीराम ने मार डाला ॥१२॥

ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः ।
धर्षितं च जनस्थानं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥१३॥

(इतना ही नहीं) अक्लिष्टकर्मा राम ने ऋषियों को अभय (निर्भय) कर दिया, दण्डकवन में शान्ति स्थापित कर दी और जनस्थान को उजाड़ डाला ॥१३॥

त्वं तु लुब्धः प्रमत्तश्च पराधीनश्च रावण ।
विषये स्वे समुत्पन्नं भयं यो नावबुध्यसे ॥१४॥

तू कामलोलुप, मदमत्त और पराधीन होने के कारण, अपने ऊपर आती हुई विपत्ति को नहीं समझता ॥१४॥

तीक्ष्णमल्पप्रदातारं प्रमत्तं गर्वितं शठम् ।
व्यसने सर्वभूतानि नाभिधावन्ति पार्थिवम् ॥१५॥

जो राजा क्रूर स्वभाव वाला, थोड़ा देनेवाला अर्थात् कृपण, मदमत्त अभिमानी और धूर्त होता है, उस राजा को विपत्ति के समय, कोई भी सहायता नहीं देता ॥१५॥

अतिमानिनमग्राह्य[1]मात्म[2]सम्भावितं नरम् ।
क्रोधनं[3] व्यसने[4] हन्ति स्वजनोऽपि महीपतिम् ॥१६॥

[illegible]

जो राजा अत्यन्त अभिमानी होता है, जिसे सज्जन लोग पसंद नहीं करते, जो स्वय अपने को बड़ा प्रतिष्ठित समझता है, जो अनुचित क्रोध करता है, ऐसे राजा के ऊपर दुःख पडने पर, उसके निकट सम्बन्धी भी उसका वध करते हैं ॥१६॥

नानुतिष्ठति कार्याणि भयेषु न बिभेति च ।
क्षिप्रं राज्याच्च्युतो दीनस्तृणैस्तुल्यो भविष्यति ॥१७॥

जो राजा अपने कर्तव्य का यथावत् पालन नहीं करता, भय उपस्थित होने पर भी भयभीत नहीं होता, ऐसा राजा शीघ्र राज्यच्युत होने के कारण दीन हो, तिनके के समान अर्थात् तुच्छ हो जाता है ॥१७॥

शुष्कैः काष्ठैर्भवेत्कार्यं लोष्टैरपि च पांसुभिः ।
न तु स्थानात्परिभ्रष्टैः कार्यं स्याद्वसुधाधिपैः ॥१८॥

सूखी लकडी, ढेला और धूल से भी अनेक कार्य हो सकते हैं, किन्तु राज्यभ्रष्ट राजा से कोई काम नहीं हो सकता ॥१८॥

उपभुक्तं यथा वासः स्रजो वा मृदिता यथा ।
एवं राज्यात्परिभ्रष्टः समर्थोऽपि निरर्थकः ॥१९॥

जैसे पहिना हुआ कपड़ा और मर्दन की हुई माला, दूसरे के काम की नहीं, वैसे ही राज्यभ्रष्ट राजा सामर्थ्यवान हो कर भी, निरर्थक (बेकाम) समझा जाता है ॥१९॥

अप्रमत्तश्च यो राजा सर्वज्ञो विजितेन्द्रियः ।
कृतज्ञो धर्मशीलश्च स राजा तिष्ठते चिरम् ॥२०॥

और जो राजा इन्द्रियों को अपने वश मे कर के, सावधान रहता और अपने तथा दूसरे राज्यों का समस्त वृत्तान्त जानता

रहता है, जो कृतज्ञ (किए हुए उपकार को मानने वाला) और धर्म में रत रहता है, वह बहुत काल तक राजपद पर स्थित रहता है ॥२०॥

नयनाभ्यां प्रसुप्तोऽपि जागर्ति नयचक्षुषा ।
व्यक्तक्रोधप्रसादश्च स राजा पूज्यते जनैः ॥२१॥

जो राजा आंखों को बंद किए सोते रहने पर भी नीति-शास्त्र रूपी आंखों से जागता रहता है, जिसका क्रोध और प्रसन्नता यथा समय प्रकट होती है अथवा जिसका क्रोध और प्रसन्नता व्यर्थ नहीं जाती, उस राजा का लोग सम्मान करते हैं ॥२१॥

त्वं तु रावण दुर्बुद्धिर्गुणैरेतैर्विवर्जितः ।
यस्य तेऽविदितश्चारैः रक्षसां सुमहान्वधः ॥२२॥

हे रावण ! तू बुद्धिहीन होने के कारण इन सद्गुणों से रहित है । इसीसे तो तुझे इतने बड़े राक्षसों के संहार का, जासूसों द्वारा कुछ भी वृत्तान्त न जान पड़ा ॥२२॥

परावमन्ता[1] विषयेषु सङ्गवान्
न देशकालप्रविभागतत्त्ववित् ।
अयुक्तबुद्धिर्गुणदोषनिश्चये
विपन्नराज्यो न चिराद्विपत्स्यसे ॥२३॥

तू शत्रुओं की उपेक्षा करता है और भोग विलास में मग्न रहता है। इसीसे तुझे देश काल के विभागों का तत्त्व नहीं मालूम है। इससे तेरी बुद्धि में गुण-दोष विवेचन का सामर्थ्य नहीं है। अतएव तुझे शीघ्र [illegible] और राज्यभ्रष्ट होना पड़ेगा ॥२३॥

१ परावमन्ता—[illegible] (टी०)

इति स्वदोषान् परिकीर्तितांस्तया
समीक्ष्य बुद्ध्या क्षणदाचरेश्वरः ।
धनेन दर्पेण बलेन चान्वितो
विचिन्तयामास चिरं स रावणः ॥२४॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

धन, बल, और अभिमान से युक्त राक्षसेन्द्र रावण, शूर्पनखा के बतलाए हुए दोषों को विचार कर, बहुत देर तक मन ही मन सोचता रहा ॥२४॥

अरण्यकाण्ड का तेतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—❀—

ततः शूर्पणखां क्रुद्धां ब्रुवन्तीं परुषं वचः ।
अमात्यमध्ये संक्रुद्धः परिपप्रच्छ रावणः ॥१॥

तदनन्तर क्रोध मे भर कठोर वचन कहने वाली शूर्पनखा से मंत्रियों के बीच बैठे हुए रावण ने, अत्यन्त क्रुद्ध हो पूँछा ॥१॥

कश्च रामः कथंवीर्यः किंरूपः किंपराक्रमः ।
किमर्थं दण्डकारण्यं प्रविष्टः स दुरासदम् ॥२॥

राम कौन है ? किस प्रकार का उसका बल है ? उसका रूप और पराक्रम कैसा है ? ऐसे दुस्तर दण्डकवन मे वह क्यों आया है ॥२॥

आयुधं किं च रामस्य निहता येन राक्षसाः ।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणस्त्रिशिरास्तथा ॥३॥

उसने किस आयुध से खर, दूषण और त्रिशिरा सहित १४ हज़ार राक्षसों को युद्ध मे मारा ॥३॥

इत्युक्तो राक्षसेन्द्रेण राक्षसी क्रोधमूर्छिता ।
ततो रामं यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥४॥

जब राक्षसराज रावण ने इस प्रकार कहा, तब सूर्पनखा मारे क्रोध के सज्ञाहीन हो गई और उसने श्रीराम का यथार्थ वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥४॥

दीर्घबाहुर्विशालाक्षश्चीरकृष्णाजिनाम्बरः ।
कंदर्पसमरूपश्च रामो दशरथात्मजः ॥५॥

वह बोली—दशरथनन्दन श्रीराम दीर्घबाहु, विशाल नयन, चीर और काले मृग का चर्म धारण किए हुए हैं. वे कामदेव के समान सुन्दर हैं ।५॥

शक्रचापनिभं चापं विकृष्य कनकाङ्गदम्[1] ।
दीप्तान् क्षिपति नाराचान् सर्पानिव महाविषान् ॥६॥

इनका धनुष इन्द्र के धनुष के समान है और इसकी मूठ में जगह जगह सुवर्ण के पत्र लगे हुए हैं इस धनुष को खींच कर, चमचमाते और तेज़ विष वाले सर्पों के समान तीरों को वे चलाते हैं ॥६॥

---

[1] कनकाङ्गदम्—[illegible] । (गो०)

इति स्वदोषान् परिकीर्तितांस्तया
समीक्ष्य बुद्ध्या क्षणदाचरेश्वरः ।
धनेन दर्पेण बलेन चान्वितो
विचिन्तयामास चिरं स रावणः ॥२४॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

धन, बल, और अभिमान से युक्त राक्षसेन्द्र रावण, शूर्पनखा के बतलाए हुए दोषो को विचार कर, बहुत देर तक मन ही मन सोचता रहा ॥२४॥

अरण्यकाण्ड का तेतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—❀—

ततः शूर्पणखां क्रुद्धां ब्रुवन्तीं परुषं वचः ।
अमात्यमध्ये संक्रुद्धः परिपप्रच्छ रावणः ॥१॥

तदनन्तर क्रोध मे भर कठोर वचन कहने वाली शूर्पनखा से मंत्रियों के बीच बैठे हुए रावण ने, अत्यन्त क्रुद्ध हो पूँछा ॥१॥

कश्च रामः कथंवीर्यः किंरूपः किंपराक्रमः ।
किमर्थं दण्डकारण्यं प्रविष्टः स दुरासदम् ॥२॥

राम कौन है ? किस प्रकार का उसका बल है ? उसका रूप और पराक्रम कैसा है ? ऐसे दुस्तर दण्डकवन मे वह क्यों आया है ॥२॥

आयुधं किं च रामस्य निहता येन राक्षसाः ।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणस्त्रिशिरास्तथा ॥३॥

उसने किस आयुध से खर, दूषण और त्रिशिरा सहित १४ हजार राक्षसों को युद्ध में मारा ॥३॥

इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसी क्रोधमूर्छिता ।
ततो रामं यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥४॥

जब राक्षसराज रावण ने इस प्रकार कहा, तब सूर्पनखा मारे क्रोध के सज्ञाहीन हो गई और उसने श्रीराम का यथार्थ वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥४॥

दीर्घबाहुर्विशालाक्षश्चीरकृष्णाजिनाम्बरः ।
कंदर्पसमरूपश्च रामो दशरथात्मजः ॥५॥

वह बोली—दशरथनन्दन श्रीराम दीर्घबाहु, विशाल नयन, चीर और काले मृग का चर्म धारण किए हुए हैं. वे कामदेव के समान सुन्दर हैं ॥५॥

शक्रचापनिभं चापं विकृष्य कनकाङ्गदम्[1] ।
दीप्तान् क्षिपति नाराचान् सर्पानिव महाविषान् ॥६॥

उनका धनुष इन्द्र के धनुष के समान है और उसकी मूठ में जगह जगह सुवर्ण के छल्ले लगे हुए हैं। इस धनुष को खींच कर, चमचमाते और तेज विष वाले सर्पों के समान तीरों को वे चलाते हैं ॥६॥

---

१ कनकाङ्गदम्—स्वर्णमयपट्टबन्धं । (गो०)

नाददानं शरान् घोरान्न मुञ्चन्तं शिलीमुखान् ।
न कार्मुकं विकर्षन्तं रामं पश्यामि संयुगे ॥७॥

युद्ध में जब वे बाण छोड़ते थे, तब मैं यह नहीं देख पाती थी कि, वे कब तरकस में से तीर निकालते, कब उसे धनुष पर रखते और कब उसे छोड़ते थे ॥७॥

हन्यमानं तु तत्सैन्यं पश्यामि शरवृष्टिभिः ।
इन्द्रेणेवोत्तमं सस्यमाहतं त्वश्मवृष्टिभिः ॥८॥

परन्तु जिस प्रकार इन्द्र के बरसाए ओलों से अनाज के खेत नष्ट होते हैं, उसी प्रकार उनकी बाणवृष्टि से राक्षसों की सेना का मारा जाना अवश्य मैं देखती थी ॥८॥

रक्षसां भीमरूपाणां सहस्राणि चतुर्दश ।
निहतानि शरैस्तीक्ष्णैस्तेनैकेन पदातिना ॥९॥

उन चौदह हजार भयङ्कर राक्षसों को तीक्ष्ण बाणों से अकेले और पैदल राम ने मार डाला ॥९॥

अर्धाधिकमुहूर्तेन खरश्च सहदूषणः ।
ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः ॥१०॥

तीन घड़ी में रामचन्द्र ने खर और दूषण सहित उन १४ हजार राक्षसों को मार कर, दण्डकवन में राक्षसों का उपद्रव शान्त कर, ऋषियों को अभय कर दिया ॥१०॥

एका कथञ्चिन् मुक्ताऽहं परिभूय महात्मना ।
स्त्रीवधं शङ्कमानेन रामेण विदितात्मना ॥११॥

उन विदितात्मा एवं महाबलवान् राम ने, स्त्रीवध करना अनुचित जान, केवल मुझे किसी तरह छोड़ दिया ॥११॥

भ्राता चास्य महातेजा गुणतस्तुल्यविक्रमः ।
अनुरक्तश्च भक्तश्च[1] लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥१२॥

राम का छोटा भाई लक्ष्मण, पराक्रमी और महातेजस्वी है। गुणों में तथा पराक्रम में वह अपने भाई ही के समान है। वह अपने भाई में अनुरागवान् भी है और उनकी सेवा में भी लगा रहता है ॥१२॥

अमर्षी[2] दुर्जयो जेता विक्रान्तो बुद्धिमान् बली ।
रामस्य दक्षिणो बाहुर्नित्यं प्राणो बहिश्चरः ॥१३॥

लक्ष्मण अपने बड़े भाई के प्रति अपराध करने वाले का अपराध सह नहीं सकता। वह स्वयं किसी से जीता भी नहीं जा सकता। वह बड़ा पराक्रमी बुद्धिमान् और बलवान है। वह राम का दाहिना हाथ अथवा शरीर के बाहिर रहने वाला प्राण है। अर्थात् अत्यन्त प्रिय है ॥१३॥

रामस्य तु विशालाक्षी पूर्णेन्दुसदृशानना ।
धर्मपत्नी प्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते रता ॥१४॥

राम की जो धर्मपत्नी है उसके बड़े बड़े नेत्र हैं उसका चेहरा पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह सुन्दर है। वह रामचन्द्र की [illegible] और सदा राम के हितसाधन में और प्रिय कामों के करने में लगी रहती है।१४।

सा सुकेशी सुनासोरुः सुरूपा च यशस्विनी ।
देवतेव वनस्यास्य राजते श्रीरिवापरा ॥१५॥

[illegible]

उस यशस्विनी रामचन्द्र जी की भार्या के केश नासिका, ऊरु और रूप अति उत्तम हैं। वह उस वन की अधिष्ठात्री देवी और दूसरी लक्ष्मी की तरह उस वन की शोभा है ॥१५॥

तप्तकाञ्चनवर्णाभा रक्ततुङ्गनखी शुभा।
सीता नाम वरारोह वैदेही तनुमध्यमा ॥१६॥

तपाए सोने की तरह तो उसके शरीर का वर्ण है। उसके नख लाल और उभरे हुए हैं। उस पतली कमर वाली सुन्दरी का नाम सीता है और वह विदेहराज की पुत्री है। वह शुभ लक्षणों वाली है (अर्थात्) स्त्रियों के लिए जो शुभ लक्षण सामुद्रिक शास्त्र मे बतलाए गए हैं, उनसे वह युक्त है।) ॥१६॥

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किन्नरी।
नैवंरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ॥१७॥

उसके सौन्दर्य्य के टक्कर की न तो कोई देवी है, न कोई गन्धर्वी है, न कोई यक्षिणी है न कोई किन्नरी है। इस धराधाम पर तो मैंने ऐसी सुन्दरी स्त्री इसके पहले कभी नहीं देखी थी ॥१७॥

यस्य सीता भवेद्भार्या यं च हृष्टा परिष्वजेत्।
अतिजीवेत्स सर्वेषु लोकेष्वपि पुरन्दरात् ॥१८॥

वह सीता जिसकी भार्या हो, और जिसे वह प्रसन्न हो अपनी छाती से लगा ले, वह पुरुष सब लोगों ही से नहीं, किन्तु इन्द्र से भी बढ कर सुखी हो, जीवन व्यतीत करे ॥१८॥

सा सुशीला वपुःश्लाघ्या रूपेणाप्रतिमा भुवि।
तवानुरूपा भार्या स्यात्त्वं च तस्यास्तथा पतिः ॥१९॥

वह सुशीला, प्रशंसनीय शरीर वाली और इस भूतल पर अनुपमरूप वाली सीता तेरी ही भार्या होने योग्य है और तू ही उसका पति होने योग्य है। अथवा तेरे ही योग्य वह भार्या है और तू ही उसका योग्य पति है ॥१९॥

तां तु विस्तीर्णजघनां पीनश्रोणिपयोधराम् ।
भार्यार्थे च तवानेतुमुद्यताहं वराननाम् ॥२०॥

इसीसे मैं उस विशाल जाघोंवाली और उभडे हुए कुचों वाली सुन्दरी को तेरी भार्या बनाने को लाने गई थी ॥२०॥

विरूपिताऽस्मि क्रूरेण लक्ष्मणेन महाभुज ।
तां तु दृष्ट्वाऽद्य वैदेहीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥२१॥

किन्तु हे महाभुजा वाले ! उस निर्दयी लक्ष्मण ने मेरे दोनों कान और मेरी नाक काट डाली। उस पूर्ण चन्द्रवदनी वैदेही को देखते ही ॥२१॥

मन्मथस्य शराणां वै त्वं विधेयो भविष्यसि ।
यदि तस्यामभिप्रायो भार्यार्थे तव जायते ।
शीघ्रमुद्ध्रियतां पादो जयार्थमिह दक्षिणः ॥२२॥

तू कामदेव के बाणों का लक्ष्य बन जायगा। यदि तू उसे अपनी स्त्री बनाना चाहता हो तो शीघ्र अपने विजय (अर्थात् कार्य सिद्धि) के लिए अपना दाहिना पैर उठा ॥२२॥

टिप्पणी—यदि किसी कार्य की सिद्धि के लिए जाना हो तो चलने के समय घर से प्रथम दाहिना पैर उठा कर चले।

रोचते यदि ते वाक्यं ममैतद्राक्षसेश्वर ।
क्रियतां निर्विशङ्केन वचनं मम रावण ॥२३॥

हे राक्षसेश्वर ! यदि मेरा कहना तुझे पसन्द हो, तो मैंने जो कहा है, उसके अनुसार शङ्का त्याग कर, कार्य आरम्भ कर ॥२३॥

विज्ञायेहात्मशक्तिं च ह्रियतामबला बलात्।
सीता सर्वानवद्याङ्गी भार्यार्थे राक्षसेश्वर ॥२४॥

हे राक्षसेश्वर! पहले अपने बल पौरुष का विचार कर, तदनन्तर उस सर्वाङ्गसुन्दरी अबला सीता को अपनी स्त्री बनाने के लिए, बलपूर्वक हर ला ॥२४॥

निशम्य रामेण शरैरजिह्मगै-
र्हताञ्जनस्थानगतान्निशाचरान्।
खरं च बुद्ध्वा निहतं च दूषणं
त्वमत्र कृत्यं[1] प्रतिपत्तुमर्हसि ॥२५॥

इति चतुस्त्रिंश सर्गः॥

हे रावण! खरदूषण सहित जनस्थानवासी राक्षसों का राम के बाणों से वध हुआ है, यह जान कर, अब जो कुछ करना हो, सो समझ बूझ कर, तू कर ॥२५॥

अरण्यकाण्ड का चौतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

पञ्चत्रिंशः सर्गः।

—❀—

ततः शूर्पणखावाक्यं तच्छ्रुत्वा रोमहर्षणम्।
सचिवानभ्यनुज्ञाय कार्यं बुद्ध्वा जगाम सः ॥१॥

---

१ प्रतिपत्तु—ज्ञातु। (गो०)

शूर्पनखा के ऐसे रोमाञ्चकारी वचनों को सुन, सचिवों को विदा कर तथा निज कर्त्तव्य निश्चित कर, रावण जाने को तैयार हुआ ॥१॥

तत्कार्यमनुगम्याथ यथावदुपलभ्य च ।
दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥२॥

वह मन ही मन अपने कर्त्तव्य को विचारता और उसकी भलाई बुराई को सोचता था ॥२॥

इति कर्तव्यमित्येव कृत्वा निश्चयमात्मनः ।
स्थिरबुद्धिस्ततो रम्या यानशालामुपागमत् ॥३॥

आगे के कर्त्तव्य को मन में निश्चित कर और स्थिरबुद्धि हो कर अपनी [illegible] गाड़ीख़ाने में गया ॥३॥

[illegible] ततो गत्वा प्रच्छन्नो राक्षसाधिपः ।
[illegible] रथः संयोज्यतामिति ॥४॥

[illegible] राक्षसेश्वर ने सारथी को रथ जो[illegible] [illegible] ॥४॥

[illegible] ॥५॥

[illegible] अनुसार फुर्तीले सारथी ने, रावण का [illegible] कर तैयार [illegible] ॥५॥

[illegible] ।
[illegible] ॥६॥

रावण उस इच्छाचारी, सुवर्णरचित तथा रत्नविभूषित रथ में, जिसमे पिशाच तुल्य मुखवाले ऊच्चर जुते थे, बैठा ॥६॥

मेघप्रतिमनादेन स तेन धनदानुजः ।
राक्षसाधिपतिः श्रीमान् ययौ नदनदीपतिम् ॥७॥

चलते समय मेघ तुल्य शब्द करने वाले उस रथ पर, कुवेर का छोटा भाई राक्षसेश्वर श्रीमान् रावण सवार हो, समुद्र की ओर रवाना हुआ ॥७॥

स श्वेतवालव्यजनः श्वेतच्छत्रो दशाननः ।
स्निग्धवैडूर्यसङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ॥८॥

उस समय रावण श्वेत छत्र और श्वेत चॅवर से शोभायमान हो रहा था। रावण के शरीर की कान्ति वैडूर्य मणि की तरह थी, और वह कानों मे बढ़िया सोने के कुण्डल पहिने हुए था ॥८॥

विंशद्भुजो दशग्रीवो दर्शनीयपरिच्छदः ।
त्रिदशारिर्मुनीन्द्रघ्नो दशशीर्ष इवाद्रिराट् ॥९॥

उसके दस मुख, बीस भुजाएँ थीं और उसका देखने योग्य अन्य सामान था। वह देवताओ और मुनियों का घातक था और दस सिरों से युक्त होने के कारण, वह दसशिखर वाले पर्वत जैसा जान पड़ता था ॥९॥

कामगं रथमास्थाय शुशुभे राक्षसेश्वरः ।
विद्युन्मण्डलवान् मेघः सबलाक इवाम्बरे ॥१०॥

---

१ दर्शनीयपरिच्छदः—दर्शनीयसामग्रीविशिष्ट । (शि०)

उस इच्छाचारी रथ में बैठा हुआ रावण ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि, बिजली से युक्त और बगलों की पंक्ति से भूषित बादल आकाश में शोभित होता है ॥१०॥

सशैलं सागरानूपं[1] वीर्यवानवलोकयन् ।
नानापुष्पफलैर्वृक्षैरनुकीर्णं सहस्रशः ॥११॥

उस पराक्रमी रावण ने जाते हुए, पहाड़ युक्त समुद्र तट, (अथवा समुद्र का पहाड़ी तट) जहाँ पर हज़ारों फूले फले वृक्ष लगे थे, देखा ॥११॥

शीतमङ्गलतोयाभिः[2] पद्मिनीभिः समन्ततः ।
विशालैराश्रमपदैर्वेदिमद्भिः समावृतम् ॥१२॥

शीतल और निर्मल जल से भरे और चारों ओर कमल पुष्पों से सुशोभित तालाबों तथा चारों ओर चबूतरों से घिरे हुए बड़े बड़े आश्रमों से वह देश शोभित था ॥१२॥

कदल्याढकि[3]संबाधं नालिकेरोपशोभितम् ।
सालैस्तालैस्तमालैश्च पुष्पितैस्तरुभिर्वृतम् ॥१३॥

केलों का वन चारों ओर लगा था, भोज्य अन्न की राशि एकत्र थी। नारियल के वृक्ष शोभायमान थे। साल, ताल, तमाल आदि नाना प्रकार के फूले हुए पेड़ लगे थे ॥१३॥

नागैः सुपर्णैर्गन्धर्वैः किन्नरैश्च सहस्रशः ।
अजैः[4] वैखानसैः[5] माषैः[6] वालखिल्यैर्मरीचिपैः[7] ॥१४॥

---

१ सागरानूपं—समुद्रतीरं। (गो०) २ मङ्गलतोयाभि—शुद्धजलानि। (गो०) ३ आढकि—[illegible]। (गो०) ४ अजैः—[illegible]। (गो०) ५ वैखानसैः—[illegible]। (गो०) ६ माषैः माषगोत्रैः। (गो०) ७ मरीचिपैः—[illegible]। (गो०)

नाग, गरुड, गन्धर्व और सहस्रों किन्नरों से वह स्थान परिपूर्ण था। अयोनिज वैखानस, (अर्थात् ब्रह्मपुत्र) माष गोत्रज, बालखिल्य. सूर्य की किरणें पी कर अनुष्ठान करने वाले तपस्वियों ॥१४॥

अत्यन्तानियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः।
जितकामैश्च सिद्धैश्च चारणैरुपशोभितम् ॥१५॥

तथा अत्यन्त अल्प आहार करने वाले महर्षियों से वह स्थान सुशोभित था। काम को जीतने वाले सिद्ध एव चारण उस स्थान को शोभित कर रहे थे ॥१५॥

दिव्याभरणमाल्याभिर्दिव्यरूपाभिरावृतम्।
क्रीडारतिविधिज्ञाभिरप्सरोभिः सहस्रशः ॥१६॥

वहाँ पर, दिव्य आभूषण और दिव्य पुष्पहारों से भूषित, दिव्य रूप वाली और क्रीडा व रति की विधि जानने वाली हज़ारों अप्सराएँ भी थीं ॥१६॥

सेवित देवपत्नीभिः श्रीमतीभिः श्रिया वृतम्।
देवदानवसङ्घैश्च चरितं त्वमृताशिभिः ॥१७॥

वहाँ पर देवताओं की शोभायुक्त, सुथरी स्त्रियाँ भी घूम फिर रही थीं। अमृत पीने वाले देवताओं तथा दानवों के दल के दल वहां विचर रहे थे ॥१७॥

सक्रौञ्चप्लवाह[1]कीर्णं सारसैः सम्पणादितम्।
वैडूर्यप्रस्तरं[2] रम्यं स्निग्धं सागरतेजसा[3] ॥१८॥

---

१ प्लवा'—जलकुक्कुटाः। (गो०) २वैडूर्यप्रस्तर—वैडूर्यमयाःप्रस्तराः। (गो०) ३ सागरोर्मिवैभवेन स्निग्धसान्द्र शीतलम्। (रा०)

वह स्थान, हंस, क्रौञ्च, जलकुक्कुट (अथवा मेंढक) और सारसो से परिपूर्ण था। वैडूर्यमणि की शिला वहाँ बिछी थीं, समुद्र की लहरों के हिलोरो से वह स्थान सदा ही रमणीक और शीतल बना रहता था ॥१८॥

पाण्डुराणि विशालानि दिव्यमाल्ययुतानि च ।
तूर्यगीताभिजुष्टानि विमानानि समन्ततः ॥१९॥

रावण ने सफेद, बड़े बडे और दिव्य पुष्पों की मालाओ से सजे हुए, विमानों को, जिनमें गाना बजाना हो रहा था, वहाँ पर हर तरफ उड़ते हुए देखा ॥१९॥

तपसा जितलोकानां कामगान्यभिसम्पतन्[1] ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव ददर्श धनदानुजः ॥२०॥

जिन लोगो ने अपने तप के फल से अनेक लोकों में जाने का अधिकार प्राप्त कर लिआ है उनके विमान कुबेर के भाई रावण को रास्ते में मिले। कुबेर के छोटे भाई अर्थात् रावण ने, गन्धर्व और अप्सराओं को भी वहाँ देखा ॥२०॥

निर्यासरसमूलानां[2] चन्दनानां सहस्रशः ।
वनानि पश्यन् सौम्यानि घ्राणतृप्तिकराणि च ॥२१॥

वहाँ पर रावण ने सुगन्ध से नासिका को तृप्त करने वाले हजारों चन्दन के वृक्षों तथा हींग के वृक्षों के वन देखे ॥२१॥

अगरूणां च मुख्यानां वनान्यु[3] पवनानि[4] च ।
तक्कोलानाञ्च जात्यानां[5] फलानां च सुगन्धिनाम् ॥२२॥

१ अभिसम्पतन्—[illegible] (गो०) २ निर्यासरसमूलाना—[illegible] । (गो०) ३ [illegible]—[illegible] । (गो०) ४ [illegible]—[illegible] । (गो०) ५ तक्कोलाना—[illegible] । (गो०) ६ जात्यानां—[illegible] । (गो०)

अगर के वनों (अकृत्रिम) और उपवनों (कृत्रिम) को, और उत्तम फलों सहित, तथा सुगन्धित फलों से लदे अच्छी जाति के तक्कोल नामक वृक्षों को रावण ने रास्ते मे देखा ॥२२॥

पुष्पाणि च तमालस्य गुल्मानि [१]मरिचस्य च ।
मुक्तानां च समूहानि शुष्यमाणानि [२]तीरतः ॥२३॥

तमाल के फूलों को, कालीमिर्च के छोटे वृक्षों को, मोतियों के ढेर को, जो समुद्र के तट पर पड़े सूख रहे थे, रावण ने देखा ॥२३॥

शङ्खानां प्रस्तरं[३] चैव प्रवालनिचयं[४] तथा ।
काञ्चनानि च शैलानि राजतानि च सर्वशः ॥२४॥

शङ्खों के ढेर और मूगों के ढेर और सोने तथा चाँदी के पहाड़ों को, जो चारों तरफ थे, उसने देखा ॥२४॥

प्रस्रवाणि मनोज्ञानि प्रसन्नानि ह्रदानि च ।
धनधान्योपपन्नानि स्त्रीरत्नैः शोभितानि च ॥२५॥

उसने मनोहर झरने तथा निर्मल जल के कुण्ड देखे। फिर ऐसे घर देखे, जो धन धान्य और सुन्दर स्त्रियों से परिपूर्ण थे ॥२५॥

हस्त्यश्वरथगाढानि नगराण्यवलोकयन् ।
तं समं सर्वतः स्निग्धं मृदुसंस्पर्शमारुतम् ॥२६॥

उनमे हाथी घोड़े भरे हुए थे। वे घरों की पक्तियों से युक्त थे। ऐसे कितने ही नगर रावण ने देखे। रावण ने, शीतल, मन्द-सुगन्ध पवन सहित समुद्र का तट, जो स्वर्ग जैसा सुन्दर जान पड़ता था देखा ॥२६॥

---

१ मरिचस्य—मरीचस्य । (गो०) २ तीरतः—तीरे । (गो०) ३ प्रस्तर—समूह। (गो०) ४ निचयं—समूहं । (गो०)

अनूपं सिन्धुराज्यस्य ददर्श त्रिदिवोपमम् ।
तत्रापश्यत्स मेघाभं न्यग्रोधमृषिभिर्वृतम् ॥२७॥

रावण चलते, चलते वहाँ पहुँचा जहाँ एक बड़ा भारी बरगद का पेड था और जो मेघ के समान बड़ा और मुनियों से सेवित था ॥२७॥*

समन्ताद्यस्य ताः शाखाः शतयोजनमायताः ।
यस्य हस्तिनमादाय महाकायं च कच्छपम् ॥२८॥

उसकी शाखाएं चारों ओर सौ योजन (चार सौ कोस) के घेरे मे फैली हुई थीं। किसी समय महाबलवान गरुड़ जी एक बड़े भारी हाथी और कछुए को ॥२८॥

भक्षार्थं गरुडः शाखामाजगाम महाबलः ।
तस्य तां सहसा शाखां भारेण पतगोत्तमः ॥२९॥

लेकर खाने के लिए उस पेड की शाखा पर आ बैठे थे। गरुड़ जी तथा उन दोनों जानवरों के बोझ से उसकी शाखा सहसा (टूट गई) ॥२९॥

सुपर्णः पर्णबहुलां बभञ्ज च महाबलः ।
तत्र वैखानसा माषा वालखिल्या मरीचिपाः ॥३०॥
अजा बभूवधूम्राश्च सङ्गताः परमर्षयः ।
तेषां दयार्थं गरुडस्तां शाखां शतयोजनाम् ॥३१॥
जगामादाय वेगेन तौ चोभौ गजकच्छपौ ।
एकपादेन धर्मात्मा भक्षयित्वा तदामिषम् ॥३२॥

* २७ वे श्लोक के प्रथम पद का अर्थ २६ वे श्लोक के अर्थ में सम्मिलित है।

वह शाखा जो टूटी थी, उसमें बहुत पत्ते लगे हुए थे। इसी शाखा पर वैखानस, माष, मरीचिप, बालखिल्य, अज और धूम्र आदि बड़े बड़े ऋषि इकट्ठे थे। इन महर्षियों पर अनुग्रह कर गरुड़ जी ने उस सौ योजन वाली शाखा को एक पैर से और उन दोनों जन्तुओं को दूसरे पैर से पकड़ा। फिर वहाँ से बड़े वेग से गरुड़ जी चले गए। दूसरे पैर से गज और कच्छप को दबा, गरुड़ ने उनका माँस खाया ॥३०॥३१॥३२॥

निषादविषयं हत्वा शाखया पतगोत्तमः।
प्रहर्षमतुलं लेभे मोक्षयित्वा महामुनीन् ॥३३॥

फिर उस शाखा से निषादों के देश का संहार कर और उन मुनियों को बचा कर, वे बहुत प्रसन्न हुए ॥३३॥

स तेनैव प्रहर्षेण द्विगुणीकृतविक्रमः।
अमृतानयनार्थं वै चकार मतिमान् मतिम् ॥३४॥

उस हर्ष के कारण मतिमान गरुड़ जी का पराक्रम दूना हो गया और उन्होंने अमृत लाने के लिए उद्योग किया ॥३४॥

अयोजालानि निर्मथ्य भित्त्वा रत्नमयं गृहम्।
महेन्द्रभवनाद्गुप्तमाजहारामृतं ततः ॥३५॥

गरुड जी लोहे के जाल को काट और रत्ननिर्मित घर को फोड़, इन्द्र के घर मे सुरक्षित रखे हुए अमृत को ले आए ॥३५॥

तं महर्षिगणैर्जुष्टं सुपर्णकृतलक्षणम्।
नाम्ना सुभद्रं न्यग्रोधं ददर्श धनदानुजः ॥३६॥

सो रावण, उस गरुड़ चिह्नित तथा महर्षिगण सेवित सुभद्र नामक वट वृक्ष को देखता हुआ ॥३६॥

तं तु गत्वा परं पारं समुद्रस्य नदीपतेः ।
ददर्शाश्रममेकान्ते रम्ये पुण्ये वनान्तरे ॥३७॥
तत्र कृष्णाजिनधरं जटावल्कलधारिणम् ।
ददर्श नियताहारं मारीचं नाम राक्षसम् ॥३८॥

समुद्र के उस पार जा कर रावण ने एकान्त, पवित्र और रमणीक वन प्रदेश में कृष्ण-मृग-चर्म को ओढे हुए और जटाजूट सिर पर रखाए, नियमित आहार करने वाले मारीच नामक राक्षस को देखा ॥३७॥३८॥

[टिप्पणी—कुछलोगों के मतानुसार आधुनिक बम्बई नगर जहाँ है, वही स्थान मारीच के रहने का था इसीसे यह बम्बई नगर मोहमयीपुरी कहलाता है ।]

स रावणः समागम्य विधिवत्तेन रक्षसा ।
मारीचेनार्चितो राजा [1]सर्वकामैरमानुषैः ॥३९॥

रावण को देख, मारीच ने ऐसी भोग्य वस्तुओं से, जो मनुष्यों को मिलनी दुर्लभ हैं, विधिपूर्वक उसका सत्कार किया ॥३९॥

तं स्वयंपूजयित्वा तु भोजनेनोदकेन च ।
अर्थोपहितया वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥४०॥

मारीच ने भोजन के लिए भोज्य पदार्थ और पीने के लिए जल स्वयं दे रावण का सत्कार कर, यह अर्थयुक्त वचन कहा ॥४०॥

कच्चित्ते कुशलं राजँल्लङ्कायां राक्षसेश्वर ।
केनार्थेन पुनस्त्वं वै तूर्णमेवमिहागतः ॥४१॥

हे राक्षसेश्वर! कहिए लङ्का में कुशल तो है। तुम्हारे पुनः इतनी जल्दी यहाँ आने का कारण क्या है? ॥४१॥

---

[1] सर्वकामैः—सर्वैर्वस्तुभिः । (गो०)

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः ।
तं तु पश्चादिदं वाक्यमब्रवीद्वाक्यकोविदः ॥४२॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

जब मारीच ने यह कहा, तब बात बनाने मे निपुण महातेजस्वी रावण ने इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥४२॥

अरण्यकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ

—:❀:—

षट्त्रिंशः सर्गः

—:❀:—

मारीच श्रूयतां तात वचनं मम भाषतः ।
आर्तोऽस्मि मम चार्तस्य भवान्हि परमा गतिः ॥१॥

हे तात मारीच ! मैं जो कहता हूँ उसे आप सुनिए । इस समय मैं बहुत दुःखी हूँ और आप ही मेरा इस दुःख से निस्तार कर सकते हैं ॥१॥

जानीषे त्वं जनस्थाने यथा भ्राता खरो मम ।
दूषणश्च महाबाहुः स्वसा शूर्पणखा च मे ॥२॥
त्रिशिराश्च महातेजा राक्षसः पिशिताशनः ।
अन्ये च बहवः शूरा लब्धलक्षा[1]निशाचराः ॥३॥
वसन्ति मन्नियोगेन नित्यवासं च राक्षसाः ।
बाधमाना महारण्ये मुनीन् वै धर्मचारिणः ॥४॥

---

१ लब्धलक्षाः—लब्धयुद्धोत्साहा. । (रा०)

तुम उस स्थान को तो जानते ही हो, जिस स्थान मे मेरा भाई खर और महाबाहु दूषण, मेरी बहिन शूर्पनखा, महातेजस्वी और मांसभोजी त्रिशिरा राक्षस तथा बहुत से अन्य शूरवीर, युद्ध में उत्साह दिखाने वाले राक्षस मेरी आज्ञा से रहा करते थे। वे सब राक्षस महावन मे धर्मचारी ऋषियों के अनुष्ठान में विघ्न डाला करते थे ॥२॥३॥४॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
शूराणां लब्धलक्षाणां खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥५॥

इन सब राक्षसों की संख्या १४ हजार थी। ये सब के सब भयङ्कर कर्म करनेवाले, शूरवीर, युद्ध करने में उत्साही और खर के आदेशानुसार काम करने वाले थे ॥५॥

ते त्विदानीं जनस्थाने वसमाना महाबलाः ।
सङ्गताः परमायत्ता रामेण सह संयुगे ॥६॥

वे महाबली इन दिनों जनस्थान मे रहते थे। वे राम के साथ जूझ मरे ॥६॥

नानाप्रहरणोपेताः खरप्रमुखराक्षसाः ।
तेन सञ्जातरोषेण रामेण रणमूर्धनि ॥७॥

विविध भाँति के आयुधों को लेकर खरप्रमुख राक्षसगण युद्धक्षेत्र में उपस्थित हुए थे। राम क्रोध में भर, युद्धक्षेत्र में, ॥७॥

अनुक्त्वा परुषं किञ्चिच्छरैर्व्यापारितं धनुः ।
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसामुग्रतेजसाम् ॥८॥
निहतानि शरैस्तीक्ष्णैर्मानुषेण पदातिना ।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणश्च निपातितः ॥९॥

एक भी कठोर वचन न कह कर अर्थात् उत्तेजनाप्रद शब्द के प्रयोग बिना ही बाण छोड़ना आरम्भ कर दिया और १४,००० उग्रतेजा राक्षसों को मनुष्य राम ने पाँव पियादे ही पैने बाणों से मार डाला। इस युद्ध में खर और दूषण भी मारे गए ॥८॥९॥

हतश्च त्रिशिराश्चापि निर्भया दण्डकाः कृताः।
पित्रा निरस्तः क्रुद्धेन सभार्यः क्षीणजीवितः ॥१०॥

और त्रिशिरा को भी मार कर, राम ने दण्डक वन-वासियों को निर्भय कर दिया। राम का आचरण ठीक नहीं जान पडता। क्योंकि उस क्षीणजीवी राम को पिता ने क्रुद्ध हो स्त्री सहित घर से निकाल दिया है ॥१०॥

स हन्ता तस्य सैन्यस्य रामः क्षत्रियपांसनः।
दुःशीलः कर्कशस्तीक्ष्णो मूर्खो लुब्धोऽजितेन्द्रियः ॥११॥

वही दुःशील, कठोर हृदय, तीक्ष्ण, मूर्ख, लोभी, अजितेंद्रिय और क्षत्रिय-कुल-कलङ्क इस राक्षस-सेना का मारने वाला है ॥११॥

त्यक्त्वा धर्ममधर्मात्मा भूतानामहिते रतः।
येन वैरं विनारण्ये सत्त्वमाश्रित्य केवलम् ॥१२॥

वह धर्म को त्याग और अधर्म का अवलंबन कर, सदा प्राणियों का अहित किया करता है। उसने अपने बल के घमंड मे आ, बिना वैर ही ॥१२॥

कर्णनासापहरणाद्भगिनी मे विरूपिता।
तस्य भार्या जनस्थानात्सीतां सुरसुतोपमाम् ॥१३॥

मेरी बहिन के कान नाक काट कर उसे विरूप कर दिया। अतः जनस्थान से उसकी देवकन्यातुल्य सुन्दरी भार्या सीता को ॥१३॥

आनयिष्यामि विक्रम्य सहायस्तत्र मे भव ।
त्वया ह्यह सहायेन पार्श्वस्थेन महाबल ॥१४॥
भ्रातृभिश्च सुरान् युद्धे समग्रान्नाभिचिन्तये ।
तत्सहायो भव त्वं मे समर्थो ह्यसि राक्षस ॥१५॥

जबरदस्ती हर लाऊँगा अत इस काम मे मेरी सहायता कर। हे महाबल ! यदि तू मेरा सहायक बन, मेरे पास रहे और मेरे भाई सहायक हों, तो मैं सारे देवताओं को भी कुछ नहीं गिनता। अत हे राक्षस ! तू मेरी सहायता कर, क्योंकि तू सहायता करने में समर्थ है ॥१४॥१५॥

वीर्ये युद्धे च दर्पे च न ह्यस्ति सदृशस्तव ।
उपायज्ञो महाञ्शूरः सर्वमायाविशारदः ॥१६॥

बल से, लडने मे और दर्प से तेरे तुल्य दूसरा नहीं। तू उपाय का जानने वाला है, बडा शूरवीर है तथा तुझे सब प्रकार की माया मालूम है ॥१६॥

एतदर्थमह प्राप्तस्त्वत्समीप निशाचर ।
शृणु तत्कर्म साहाय्ये यत्कार्यं वचनान्मम ॥१७॥

हे निशाचर ! इसी लिए मै तेरे पास आया हूँ। हे मारीच ! जिस प्रकार तुझे मेरी सहायता करनी पडेगी, वह मैं बतलाता हूँ। उसे तू सुन ॥१७॥

सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतबिन्दुभिः ।
आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे चर ॥१८॥

तू चाँदी की बूँदों से युक्त सोने का हिरन बन कर, राम के आश्रम में जा कर सीता के सामने चरना ॥१८॥

त्वां तु निःसंशयं सीता दृष्ट्वा तु मृगरूपिणम् ।
गृह्यतामिति भर्तारं लक्ष्मणं चाभिधास्यति ॥१९॥

ऐसे मृग का रूप धारण किए हुए तुझको देख, सीता निश्चय ही अपने स्वामी श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण से कहेगी कि, इस हिरन को पकड़ लाओ ॥१९॥

ततस्तयोरपाये तु शून्ये सीतां यथासुखम् ।
निराबाधो हरिष्यामि राहुश्चन्द्रप्रभामिव ॥२०॥

जब वे तुझे पकड़ने को आश्रम से दूर चले जायँगे, तब मैं आश्रम में जा बिना किसी बाधा के सीता को उसी प्रकार हर लाऊँगा, जिस प्रकार राहु चन्द्रमा की प्रभा को हरता है ॥२०॥

ततः पश्चात्सुखं रामे भार्याहरणकर्शिते ।
विश्रब्धः[1] प्रहरिष्यामि कृतार्थेनान्तरात्मना[2] ॥२१॥

तदनन्तर भार्या के हर जाने से राम शोक के मारे निर्बल हो जायगा। तब मैं कृतार्थ हो, निर्भयता पूर्वक और धैर्य धर कर सहज में राम को पकड़ लूँगा ॥२१॥

तस्य रामकथां श्रुत्वा मारीचस्य महात्मनः ।
शुष्कं समभवद्वक्त्रं परित्रस्तो बभूव ह ॥२२॥

रावण के मुख से राम की चर्चा सुन, मारीच का मुख सूख गया और वह बहुत ही भयभीत हो गया ॥२२॥

ओष्ठौ परिलिहञ्शुष्कौ नेत्रैरनिमिषैरिव ।
मृतभूत इवार्तस्तु रावणं समुदैक्षत ॥२३॥

---

१ विश्रब्धः—निःशङ्कः । (गो०) २ अन्तरात्मना—अन्तःस्थ धैर्येण । (गो०)

वह भारे चिन्ता के अपने सूखे ओठों को चाटने लगा और उसके नेत्र कुछ देर तक खुले के खुले ही रह गए (अर्थात् झपके नहीं) वह मृतक की तरह आर्त हो, (राम के लिए) रावण की ओर निहारने लगा ॥२३॥

स रावणं त्रस्तविषण्णचेता
महावने रामपराक्रमज्ञः ।
कृताञ्जलिस्तत्त्वमुवाच वाक्यं
हितं च तस्मै हितमात्मनश्च ॥२४॥

इति षट्त्रिंशः सर्गः ॥

वह (मारीच) पहले ही से अर्थात् महावन में खर दूषण के वध की घटना होने के पूर्व राम के पराक्रम को जानता था। अतः वह हाथ जोड़ कर, रावण से अपने और हित की बात बोला ॥२४॥

अरण्यकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ

—※—

सप्तत्रिंशः सर्गः

—※—

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः ।
प्रत्युवाच महाभागो मारीचो राक्षसेश्वरम् ॥१॥

महाभाग राक्षसराज के यह वचन सुन, बातचीत करने में चतुर मारीच ने रावण से कहा ॥१॥

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥२॥

हे राजन् ! बहु संख्यक, मुँहसोहली बात कहने वाले लोग सहज में मिल सकते हैं, किन्तु सुनने मे अप्रिय और यथार्थ में हितकारी वचनों के कहने और सुनने वाले लोग ससार में कम मिलते हैं ॥२॥

न नूनं बुध्यसे रामं महावीर्यं गुणोन्नतम् ।
अयुक्तचारश्चपलो महेन्द्रवरुणोपमम् ॥३॥

निश्चय ही तू बड़े पराक्रमी, श्रेष्ठ गुणों वाले तथा इन्द्र वरुण के तुल्य राम को नहीं जानता है। क्योंकि एक तो तूने जासूस जगह जगह नियत नहीं किए, जो तुझे ठाक ठीक वृत्तान्त वतलाते रहें, दूसरे चञ्चल स्वभाव का है ॥३॥

अपि स्वस्ति भवेत्तात सर्वेषां भुवि रक्षसाम् ।
अपि रामो न संक्रुद्धः कुर्याल्लोकमराक्षसम् ॥४॥

क्या राम से वैर बाँध कर, राक्षसकुल का कल्याण हो सकता ? कहीं क्रुद्ध हो कर, राम इस भूलोक को राक्षसहीन न कर ॥४॥

अपि ते जीवितान्ताय नोत्पन्ना जनकात्मजा ।
अपि सीतानिमित्तं च न भवेद्व्यसनं मम ॥५॥

क्या जानकी का जन्म तेरा नाश करने को तो नहीं हुआ ? कहीं सीता के लिए मुझे भारी सङ्कट में तो न फसना पड़ेगा ॥५॥

अपि त्वामीश्वरं प्राप्य कामवृत्तं[1] निरङ्कुशम् ।
न विनश्येत्पुरी लङ्का त्वया सह सराक्षसा ॥६॥

तुझ स्वेच्छाचारी निरकुश स्वामी को पा कर, कहीं समस्त राक्षसों सहित लङ्कापुरी नष्ट न हो जाय ॥६॥

त्वद्विधः कामवृत्तो हि दुःशीलः [2]पापमन्त्रितः ।
आत्मानं स्वजनं राष्ट्रं स राजा हन्ति दुर्मतिः ॥७॥

तेरे जैसा यथेच्छाचारी, दुःशील, बुरे विचारों वाला दुष्ट राजा, केवल अपने आप ही को नहीं, बल्कि आत्मीय जनों सहित अपने राष्ट्र को भी चौपट कर डालता है ॥७॥

न च पित्रा परित्यक्तो नामर्यादः कथञ्चन ।
न लुब्धो न च दुःशीलो न च क्षत्रियपांसनः ॥८॥

न तो राम को उसके पिता ने निकाला है, न वह कभी मर्यादा को उल्लंघन करता है। न वह लोभी है, न दुष्ट स्वभाव है और न क्षत्रिय कुल-कलङ्क है ॥८॥

न च धर्मगुणैर्हीनः कौसल्यानन्दवर्धनः ।
न तीक्ष्णो न च भूतानां सर्वेषामहिते रतः ॥९॥

कौसल्या के आनन्द को बढ़ाने वाला राम धर्म और सद्गुणों से रहित नहीं है। न वह उग्र स्वभाव ही का है और न वह प्राणियों को सताता है बल्कि वह तो सब का हितैषी है ॥९॥

वञ्चितं पितरं दृष्ट्वा कैकेय्या सत्यवादिनम् ।
करिष्यामीति धर्मात्मा तात प्रव्रजितो वनम् ॥१०॥

---

१ [illegible] । ([illegible]) २ [illegible]—[illegible] दुष्टं [illegible] । ([illegible])

राम अपने सत्यवादी पिता को, कैकेयी द्वारा ठगा हुआ देख, पिता की प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिए वन में चला आया है ॥१०॥

कैकेय्याः प्रियकामार्थं पितुर्दशरथस्य च ।
हित्वा राज्यं च भोगांश्च प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥११॥

उसने कैकेयी और अपने पिता दशरथ को प्रसन्न करने के लिए राज्य और राजसी भोगों को छोड, इस दण्डकवन में प्रवेश किआ है ॥११॥

न रामः कर्कशस्तात[1] नाविद्वान्नाजितेन्द्रियः ।
अनृतं दुःश्रुतं चैव नैव त्वं वक्तुमर्हसि ॥१२॥

हे रावण ! न तो राम कठोरहृदय है, न मूर्ख है और न अजितेंद्रिय ही है । न वह झूठ और कर्ण-कटु वचन बोलने वाला है । उनके सम्बन्ध में तुमको ऐसे वचन न कहना चाहिए ॥१२॥

रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः ।
राजा सर्वस्य लोकस्य देवानां मघवानिव ॥१३॥

राम तो धर्म की साक्षात् मूर्ति है । वह बड़ा साधु स्वभाव सत्यपराक्रमी है । जिस प्रकार इन्द्र देवताओं के नायक हैं, ... प्रकार राम भी सब लोगों के नायक हैं ॥१३॥

कथं त्वं तस्य वैदेहीं रक्षितां स्वेन [2]तेजसा ।
इच्छसि प्रसभं हर्तुं प्रभामिव विवस्वतः ॥१४॥

---

१ कर्कशः—कठिनहृदयः । (गो०) २ स्वेन तेजसा—पातिव्रत्य वैभवेन । (गो०)

राम की सीता को, जो अपने पतिव्रताधर्म से आप ही सुरक्षित है, किस प्रकार सूर्य की प्रभा की तरह बरजोरी हरना चाहते हो ॥१४॥

शरार्चिषमनाधृष्यं चापखड्गेन्धनं रणे ।
रामाग्निं सहसा दीप्तं न प्रवेष्टुं त्वमर्हसि ॥१५॥

बाण रूपी ज्वाला से युक्त, स्पर्श के अयोग्य, धनुष रूपी इंधन से युक्त जलती हुई राम रूपी, आग में कूदने का दुस्साहस तुमको न करना चाहिए ॥१५॥

धनुर्व्यादितदीप्तास्यं शरार्चिषममर्षणम् ।
चापपाशधरं वीरं शत्रुसैन्यप्रहारिणम् ॥१६॥
राज्य सुखं च सन्त्यज्य जीवितं चेष्टमात्मनः ।
नात्यासादयितुं तात रामान्तकमिहार्हसि ॥१७॥

धनुष का चढ़ाना ही जिसका खुला हुआ प्रदीप्त मुख है। बाण ही जिसकी प्रभा है और न सहने योग्य धनुर्बाण धारण किए हुए, शत्रुसैन्य विनाशकारी राम रूपी काल का सामना कर, राज्यसुख, जीवन और अपने इष्ट से क्यों हाथ धोना चाहते हो ॥१६।१७॥

अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा जनकात्मजा ।
न त्वं समर्थस्तां हर्तुं रामचापाश्रयां वने ॥१८॥

जिस राम की भार्या सीता है, उसके तेज की तुलना नहीं है। जो सीता राम के धनुष के बल से रक्षित है, उसे तू हरने का सामर्थ्य अपने में नहीं रखता ॥१८॥

तस्य सा नरसिंहस्य सिंहोरस्कस्य भामिनी।
प्राणेभ्योऽपि प्रियतरा भार्या नित्यमनुव्रता ॥१६॥

पुरुषसिंह और सिंह जैसे वक्षःस्थल वाला राम अपनी पतिव्रता भार्या को, अपने प्राणों से बढ कर प्यारी समझता है ॥१६॥

न सा धर्षयितुं शक्या मैथिल्योजस्विनः प्रिया।
दीप्तस्येव हुताशस्य शिखा सीता सुमध्यमा ॥२०॥

वह सूक्ष्म कटि वाली सीता प्रज्ज्वलित अग्निशिखा के समान है। राम की प्यारी मैथिली को हर लाने का सामर्थ्य किसी मे नहीं है ॥२०॥

किमुद्यममिमं व्यर्थं कृत्वा ते राक्षसाधिप।
दृष्टश्चेत्त्वं रणे तेन तदन्त तव जीवितम् ॥२१॥

हे राक्षसेश्वर! तू यह वृथा उद्योग क्यो करता है? यदि कहीं राम के सामने पड़ गया, तो युद्ध में फिर तू जीता नहीं ॥२१॥

जीवितं च सुखं चैव राज्यं चैव सुदुर्लभम्।
यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम् ॥२२॥

राज्य, सुख और यह जीवन, ससार मे महादुर्लभ वस्तुएं हैं। यदि इन वस्तुओं को चिरकाल तक उपभोग करने की तेरी इच्छा है, तो राम से विगाड़ मत कर ॥२२॥

न सर्वैः सचिवैः सार्धं विभीषणपुरोगमैः।
मन्त्रयित्वा तु धर्मिष्ठैः कृत्वा निश्चयमात्मनः ॥२३॥

जान पड़ता है, तू ने सीता के हरने का निश्चय, अपने सब सचिवों तथा धर्मिष्ठ विभीषणादि कुटुम्बियों से परामर्श किए बिना ही कर डाला है ॥२३॥

दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम् ।
आत्मनश्च बलं ज्ञात्वा राघवस्य च तत्वतः ।
हिताहितं विनिश्चित्य क्षमं त्वं कर्तुमर्हसि ॥२४॥

तुझे उचित है कि, दोषों और गुणों की विशेषता और न्यूनता तथा अपने और राम के बलाबल का तथा हिताहित का यथार्थ विचार कर, जो अच्छा जान पड़े, वही कर ॥२४॥

अहं तु मन्ये तव न क्षमं रणे
समागमं कोसलराजसूनुना ।
इदं हि भूयः शृणु वाक्यमुत्तमं
क्षमं च युक्तं च निशाचरेश्वर ॥२५॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

हे राक्षसेश्वर ! मेरी जान में तो कोसलराज के पुत्र के साथ तेरा युद्ध होना सर्वथा अनुचित है। फिर भी मैं तेरी भलाई के लिए और कई एक उचित हुए बातें कहता हूँ, उनको तू सुन ॥२५॥

अरण्यकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

— ❀ —

अष्टत्रिंशः सर्गः

—:❀:—

कदाचिदप्यहं वीर्यात्पर्यटन् पृथिवीमिमाम् ।
बलं नागसहस्रस्य[1]धारयन् पर्वतोपमः ॥१॥

हे रावण ! किसी समय मैं अपने पराक्रम के अभिमान में चूर, इस पृथिवीमण्डल पर घूमता था। मेरे पर्वत के समान शरीर मे एक हज़ार हाथियों का बल था ॥१॥

नीलजीमूतसङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
भयं लोकस्य जनयन् किरीटी परिघायुधः ॥२॥
व्यचरं दण्डकारण्ये ऋषिमांसानि भक्षयन् ।
विश्वामित्रोऽथ धर्मात्मा मद्वित्रस्तो महामुनिः ॥३॥

मेरे शरीर की कान्ति नीले रंग के बदल के समान थी। कानों तपाये हुए सोने के कुण्डल पहिने, मस्तक पर किरीट धारण किए और हाथ में परिघ लिए हुए तथा लोगों को डराता हुआ मैं दण्डकवन मे घूम घूम कर, ऋषियों का मांस खाया करता था। अनन्तर धर्मात्मा महर्षि विश्वामित्र मेरे भय से भीत हो, ॥२॥३॥

स्वयं गत्वा दशरथं नरेन्द्रमिदमब्रवीत् ।
अद्य रक्षतु मां रामः पर्वकाले[2] समाहितः ॥४॥

---

१ नागो गजः। (गो०) २ पर्वकाले—यागकाले। (रा०)

मारीचात् मे भयं घोरं समुत्पन्नं नरेश्वर ।
इत्येवमुक्तो धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ॥५॥

स्वयं महाराज दशरथ के पास जा, उनसे यह बात कही हे नरेश्वर ! मारीच का मुझे बहुत डर लगता है, अतः राम को मेरे पास रह कर, यज्ञकाल में मेरी रक्षा करनी होगी। ऐसा मुनि का वचन सुन, धर्मात्मा महाराज दशरथ ने, ॥४॥५॥

प्रत्युवाच महाभागं विश्वामित्रं महामुनिम् ।
बालो द्वादशवर्षोऽयमकृतास्त्रश्च राघवः ॥६॥

[टिप्पणी—बालकाण्ड में महाराज दशरथ ने राम को ऊनषोडश वर्ष अर्थात् १५ वर्ष बतलाया था ।]

महाभाग और महामुनि विश्वामित्र से उत्तर में कहा—मेरा राम अभी बारह वर्ष की उम्र का बालक है और अस्त्र विद्या भी इसको अभी नहीं आती ॥६॥

काम[1] तु मम यत्सैन्यं मया सह गमिष्यति ।
बलेन चतुरङ्गेण स्वयमेत्य निशाचरान् ॥७॥
वधिष्यामि मुनिश्रेष्ठ शत्रून्तव यथेप्सितम् ।*
इत्येवमुक्तः स मुनी राजानमिदमब्रवीत् ॥८॥

अतः हे मुनिसिंह ! (यह तो आपके साथ नहीं जायगा, किन्तु) [illegible] के लिए मैं स्वयं जाऊँगा, यही चतुरङ्गिनी सेना [illegible] आपके शत्रु निशाचरों का आपकी इच्छा के अनुसार वध करूँगा। महाराज दशरथ के वचन सुन, विश्वामित्र जी ने महाराज से कहा ॥७॥८॥

1 [illegible] । ([illegible]) * [illegible] ।

अष्टत्रिंशः सर्गः

—:❀:—

कदाचिदप्यहं वीर्यात्पर्यटन् पृथिवीमिमाम् ।
बलं नागसहस्रस्य[1]धारयन् पर्वतोपमः ॥१॥

हे रावण! किसी समय मैं अपने पराक्रम के अभिमान में चूर, इस पृथिवीमण्डल पर घूमता था। मेरे पर्वत के समान शरीर में एक हज़ार हाथियों का बल था ॥१॥

नीलजीमूतसङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
भयं लोकस्य जनयन् किरीटी परिघायुधः ॥२॥
व्यचरं दण्डकारण्ये ऋषिमांसानि भक्षयन् ।
विश्वामित्रोऽथ धर्मात्मा मद्वित्रस्तो महामुनिः ॥३॥

मेरे शरीर की कान्ति नीले रंग के बदल के समान थी। कानों में तपाये हुए सोने के कुण्डल पहिने, मस्तक पर किरीट धारण किए और हाथ में परिघ लिए हुए तथा लोगों को डराता हुआ मैं दण्डकवन में घूम घूम कर, ऋषियों का मांस खाया करता था। अनन्तर धर्मात्मा महर्षि विश्वामित्र मेरे भय से भीत हो, ॥२॥३॥

स्वयं गत्वा दशरथं नरेन्द्रमिदमब्रवीत् ।
अद्य रक्षतु मां रामः पर्वकाले[2] समाहितः ॥४॥

---

१ नागो गजः। (गो०) २ पर्वकाले—यागकाले। (रा०)

मारीचात् मे भयं घोरं समुत्पन्नं नरेश्वर ।
इत्येवमुक्तो धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ॥५॥

स्वयं महाराज दशरथ के पास जा, उनसे यह बात कही हे नरेश्वर ! मारीच का मुझे बहुत डर लगता है, अतः राम को मेरे पास रह कर, यज्ञकाल में मेरी रक्षा करनी होगी। ऐसा मुनि का वचन सुन, धर्मात्मा महाराज दशरथ ने, ॥४॥५॥

प्रत्युवाच महाभागं विश्वामित्रं महामुनिम् ।
बालो द्वादशवर्षोऽयमकृतास्त्रश्च राघवः ॥६॥

[टिप्पणी—बालकाण्ड में महाराज दशरथ ने राम को ऊनषोडश वर्ष अर्थात् १५ वर्ष बतलाया था।]

महाभाग और महामुनि विश्वामित्र से उत्तर में कहा—मेरा अभी बारह वर्ष की उम्र का बालक है और अस्त्र विद्या भी इसको अभी नहीं आती ॥६॥

कामं[१] तु मम यत्सैन्यं मया सह गमिष्यति ।
बलेन चतुरङ्गेण स्वयमेत्य निशाचरान् ॥७॥
वधिष्यामि मुनिश्रेष्ठ शत्रूंस्तव यथेप्सितम् ।*
इत्येवमुक्तः स मुनी राजानमिदमब्रवीत् ॥८॥

अब हे मुनिश्रेष्ठ ! (यह तो आपके साथ नहीं जायगा, किन्तु) आपका काम करने के लिए मैं स्वयं अपनी बड़ी चतुरङ्गिनी सेना सहित चल कर, आपके शत्रु निशाचरों का आपकी इच्छा के अनुसार वध करूँगा। महाराज के ये वचन सुन, विश्वामित्र जी ने महाराज से कहा ॥७॥८॥

---

१ कामम्—भृशं । (गो०) *पाठान्तरे—"मनसावान् ।"

रामाद्यान्यद्बलं लोके पर्याप्तं तस्य रक्षसः ।
देवतानामपि भवान् समरेष्वभिपालकः ॥९॥
आसीत्तव कृतं कर्म त्रिलोके विदितं नृप ।
काममस्तु महत्सैन्यं तिष्ठत्विह परन्तप ॥१०॥

यद्यपि आप युद्ध में देवताओं के भी रक्षक होने मे समर्थ हैं और आपके वीरत्वपूर्ण कार्य तीनों लोकों मे विख्यात हैं, तथापि राम को छोड़ और किसी मे इतना बल नहीं, जो उस राक्षस का सामना कर सके। अत. हे परन्तप ! आप अपनी चतुरङ्गिनी सेना को यहीं रहने दीजिए ॥९॥१०॥

बालोऽप्येष महातेजाः समर्थस्तस्य निग्रहे ।
गमिष्ये राममादाय स्वस्ति तेस्तु परन्तप ॥११॥

यह महातेजस्वी राम बालक है तो क्या, यही उस राक्षस का निग्रह करने में समर्थ है। अतः हे परन्तप ! आपका मङ्गल हो। मैं रामको अपने साथ ले जाऊँगा ॥११॥

एवमुक्त्वा तु स मुनिस्तमादाय नृपात्मजम् ।
जगाम परमप्रीतो विश्वामित्रः स्वमाश्रमम् ॥१२॥

महर्षि विश्वामित्र यह कह कर और राम को अपने साथ ले, परम प्रसन्न होते हुए अपने सिद्धाश्रम मे आए ॥१२॥

तं तदा दण्डकारण्ये यज्ञमुद्दिश्य दीक्षितम् ।
बभूवोपस्थितो रामश्चित्रं विस्फारयन् धनुः ॥१३॥

---

१ विस्फारयन्धनु'—रामः चित्रधनु. विस्फारयन् नयन् सन् रक्षणाय समीपं प्राप्तो बभूवेत्यर्थः । (गो०)

तदनन्तर जब महर्षि विश्वामित्र ने यज्ञ-दीक्षा ली, तब राम अपने विचित्र धनुष को ले, विश्वामित्र जी के यज्ञ की रक्षा करने को उनके पास उपस्थित हुए ॥१३॥

अजातव्यञ्जनः[1] श्रीमान् पद्मपत्रनिभेक्षणः ।
एकवस्त्रधरो[2] धन्वी शिखी[3] कनकमालया ॥१४॥
शोभयन् दण्डकारण्यं दीप्तेन स्वेन तेजसा ।
अदृश्यत ततो रामो बालचन्द्र इवोदितः ॥१५॥

उस समय बालरूप राम जिसके पद्मपत्र के समान नेत्र थे, जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण किये हुए थे, जिसके हाथ में धनुष था, जिसके शिर पर कुलोचित शिखा थी और जो सुवर्ण की माला गले में पहिने हुए था, अपने प्रदीप्त तेज से दण्डकवन को सुशोभित करता हुआ, ऐसा देख पड़ता था, मानो उदयकाल में द्वितीया का चन्द्रमा शोभायुक्त देख पड़ता हो ॥१४॥१५॥

ततोऽहंमेघसङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
बली दत्तवरो दर्पादाजगाम तदाश्रमम् ॥१६॥

तब मैं (कृष्ण) मेघाकार, सोने के कुण्डल पहिने हुए और वर प्रभाव से बल के मद में मत्त हो, विश्वामित्र जी के आश्रम में गया ॥१६॥

तेन दृष्टः प्रविष्टोऽहं सहसैवोद्यतायुधः ।
मां तु दृष्ट्वा धनुः सज्यमसम्भ्रान्तश्चकार सः ॥१७॥

---

१ अजातव्यञ्जन —अनुत्पन्नयौवन लक्षण । (गो०) २ एकवस्त्रधरः—ब्रह्मचर्य व्रतेस्थित. । (गो०) ३ शिखी—कुलोचितशिखायुक्त. । (गो०)

निर्भय अथवा सावधान राम ने मुझे हथियार लिए हुए आते देख, तुरन्त हर्षित हो, अपने धनुष पर रोदा चढ़ाया ॥१७॥

अवजानन्नहं मोहाद्बालोऽयमिति राघवम् ।
विश्वामित्रस्य तां वेदिमभ्यधावं कृतत्वरः ॥१८॥

परन्तु मैंने मूर्खतावश राम को बालक समझा और मैं विश्वामित्र की वेदी की ओर फुर्ती के साथ दौड़ा ॥१८॥

तेन मुक्तस्ततो बाणः शितः शत्रुनिबर्हणः ।
तेनाहं त्वाहतः क्षिप्तः समुद्रे शतयोजने ॥१९॥

यह देख, राम ने शत्रुओं के मारनेवाले एक पैने बाण को चला, मुझे वहाँ से सौ योजन दूर, समुद्र मे फैंक दिया ॥१६॥

नेच्छता[1] तात मां हन्तुं तदा वीरेण रक्षितः ।
रामस्य शरवेगेन निरस्तोऽहमचेतनः[2] ॥२०॥

हे तात! वीर राम की इच्छा उस समय मेरा वध करने की न थी, इसीसे मेरा वध न कर, उसने मेरे प्राण बचाए। मैं राम के शरवेग से इतनी दूर फैंके जाने के कारण मूर्छित हो गया ॥२०॥

पातितोऽहं तदा तेन गम्भीरे सागराम्भसि ।
प्राप्य संज्ञां चिरात्तात ां प्रति गतः पुरीम् ॥२१॥

मै इस गहरे समुद्र में आकर गिरा। फिर हे तात! बहुत देर बाद जब मै सचेत हुआ और लङ्कापुरी मे गया ॥२१॥

१ नेच्छता—अनिच्छता। (गो०) २ अचेतन.—मूर्छितः। (गो०)

एवमस्मि तदा मुक्तः सहायास्तु निपातिताः[1] ।
अकृतास्त्रेण बालेन रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥२२॥

इस तरह मैं तो उस समय बच गया, किन्तु मेरे सहायक अन्य सब राक्षसों को कठिन कार्य करने वाले राम ने, जो उस समय अस्त्र सञ्चालन-विद्या में निपुण भी न था, और बालक ही था, मार डाला ॥२२॥

तन्मया वार्यमाणस्त्वं यदि रामेण विग्रहम् ।
करिष्यस्यापदं घोरां क्षिप्रं प्राप्स्यसि रावण ॥२३॥

इसीसे मैं तुझे मना कर रहा हूँ, यदि इस पर भी तू राम से लड़ाई छेड़ेगा, तो घोर विपत्ति में पड़, तू शीघ्र ही नष्ट हो जायगा ॥२३॥

क्रीडारतिविधिज्ञानां समाजोत्सवशालिनाम् ।
रक्षसां चैव सन्तापमनर्थं चाहरिष्यसि[2] ॥२४॥

तू ! क्रीडा और रति की विधि को जानने वाले और सभाओं के उत्सवों को देखने वाले राक्षसों के सन्ताप का कारण बन, अनर्थ बटोरेगा ॥२४॥

हर्म्यप्रासादसम्बाधां[3] नानारत्नविभूषिताम् ।
द्रक्ष्यसि त्वं पुरीं लङ्कां विनष्टां मैथिलीकृते ॥२५॥

सीता को हर कर, तू मन्दिर और अटा अटारियों से पूर्ण और नाना रत्नों से भूषित लङ्का को नष्ट हुआ देखेगा ॥२५॥

---

१ निपातिता—हता । (गो०) २ आहरिष्यसि—यत्नेन सम्पादयिष्यसि । (गो०) । ३ सम्बाधा—निबिडा । (गो०)

अकुर्वन्तोऽपि पापानि शुचयः[1] पापसंश्रयात् ।
परपापैर्विनश्यन्ति मत्स्या नागह्रदे[2] यथा ॥२६॥

जो लोग पाप नहीं करते, वे भी पापी जनों के संसर्ग से नष्ट हो जाते हैं। जैसे सर्पयुक्त जल के कुण्ड की मछलियाँ सर्पों के संसर्ग से (गरुड़ द्वारा) नष्ट होती हैं ॥२६॥

दिव्यचन्दनदिग्धाङ्गान् दिव्याभरणभूषितान् ।
द्रक्ष्यस्यभिहतान् भूमौ तव दोषात्तु राक्षसान् ॥२७॥

तू अपनी करतूत से, दिव्य चन्दन से चर्चित और दिव्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित शरीर वाले राक्षसों को, भूमि पर मरा पड़ा देखेगा ॥२७॥

[3]हृतदारान् सदारांश्च दश विद्रवतो दिशः ।
हतशेषानशरणान्[4]द्रक्ष्यसि त्वं निशाचरान् ॥२८॥

हे रावण ! तू युद्ध से बचे हुए रक्षकरहित अर्थात् अनाथ राक्षसों को या तो अपनी स्त्रियों को छोड़ कर भागे हुए अथवा साथ लिए हुए दशों दिशाओं में भागते हुए देखेगा ॥२८॥

शरजालपरिक्षिप्तामग्निज्वालासमावृताम् ।
प्रदग्धभवनां लङ्कां द्रक्ष्यसि त्वं न संशयः ॥२९॥

बाणजाल से घिरी हुई और अग्निशिखा से पीड़ित, भस्म गृहों से युक्त लङ्का को, तू निसन्देह देखेगा ॥२९॥

१शुचयः—अपापा। (गो०) २नागह्रदे—सर्पह्रदे। (गो०) ३हृतदारान्—त्यक्तदारान्। (गो०) ४अशरणान्—रक्षकरहितान्। (गो०)

परदाराभिमर्शात्तु नान्यत्पापतरं महत् ।
प्रमदानां सहस्राणि तव राजन् परिग्रहः ॥३०॥

हे रावण! पराई स्त्री को हरने से बढ़ कर कोई दूसरा पाप नहीं है। फिर तेरे रनवास में तो हजारों स्त्रियाँ हैं ॥३०॥

भव स्वदारनिरतः स्वकुलं रक्ष राक्षस ।
मानमृद्धिं च राज्यं च जीवितं चेष्टमात्मनः ॥३१॥

अत. तू उन्हीं अपनी स्त्रियों पर प्रीति कर और अपने कुल की, राक्षसों के मान की राज्य की और अपने अभीष्ट जीवन की रक्षा कर ॥३१॥

कलत्राणि च सौम्यानि मित्रवर्गं तथैव च ।
यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम्[१] ॥३२॥

यदि तू परम सुन्दरी स्त्रियों और इष्टमित्रों के साथ बहुत दिनों तक सुख भोगना चाहता है, तो राम से बिगाड़ मत कर ॥३२॥

निवार्यमाणः सुहृदा मया भृशं
प्रसह्य[२] सीतां यदि धर्षयिष्यसि ।
गमिष्यसि क्षीणबलः सबान्धवो
यमक्षयं रामशरात्तजीवितः ॥३३॥

इति अष्टत्रिंश. सर्गः ॥

१रामविप्रियम्—रामापराध । (गो०)२ प्रसह्य—बलात्कृत्य मामनादृत्येत्यर्थ. । (गो०)

हे रावण! मैं तेरा हितैषी मित्र हूँ। यदि इस पर भी तू बरजोरी सीता को हरेगा, तो तू (निश्चय ही) भाईबंदों सहित क्षीणबल हो, राम के बाणों से मारा जा कर, यमपुरी सिधारेगा ॥२३॥

अरण्यकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:❀:—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

—:❀:—

एवमस्मि तदा मुक्तः कथंचित्तेन संयुगे।
इदानीमपि यद्वृत्तं तच्छृणुष्व निरुत्तरम्[1] ॥१॥

हे रावण! उस समय मैं जैसे बचा सो तुझे बतलाया, अब मैं आगे का हाल कहता हूँ, सो तू बीच में टोंके बिना सुन ॥१॥

राक्षसाभ्यामहं द्वाभ्यामनिर्विण्णस्तथा कृतः।
सहितो मृगरूपाभ्यां प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥२॥

(श्रीरामचन्द्र जी से वैर हो जाने के कारण) मैं अन्य दो ॥ रूपी राक्षसों को अपने साथ ले, दण्डकवन में गया, किन्तु २स बार भी मुझे परास्त होना पड़ा ॥२॥

दीप्तजिह्वो महाकायस्तीक्ष्णदंष्ट्रो महाबलः।
व्यचरं दण्डकारण्यं मांसभक्षो महामृगः ॥३॥

---

१ निरुत्तरम्—मध्ये वाक्यविच्छेदाकरणेन शृणिवत्यर्थः। (गो०)
२ अनिर्विण्णः—निर्वेदरहित.। (गो०)

उस समय अग्निशिखा की तरह तो मेरी जिह्वा लपलपाती थी और मेरे दाँत बड़े पैने थे। मैं एक बड़े बलवान् मृग जैसा रूप धारण किए हुए था और माँस खाता हुआ दण्डकवन में घूम रहा था ॥३॥

अग्निहोत्रेषु तीर्थेषु चैत्यवृक्षेषु रावण।
अत्यन्तघोरो व्यचरं तापसान् सम्प्रधर्षयन् ॥४॥

हे रावण! अग्निहोत्र के स्थानों में, तीर्थों मे और पूज्य वृक्षों के निकट जा, मैं अत्यन्त भयङ्कर रूप धारण कर, तपस्वियों को उत्पीड़ित किया करता था ॥४

निहत्य दण्डकारण्ये तापसान् धर्मचारिणः।
रुधिराणि पिबंस्तेषां तथा मांसानि भक्षयन् ॥५॥

दण्डकवन मे, धर्मचारी तपस्वियों का वध कर, उनका रक्त पीता और उनका मांस खाता था ॥५॥

ऋषिमांसाशनः क्रूरस्त्रासयन वनगोचरान्।
तथा रुधिरमत्तोऽहं विचरन् धर्मदूषकः ॥६॥

ऋषियों का मांस खाने वाला मैं, अत्यन्त निष्ठुर वन, वनवासी ऋषियों को दुःख देता था। इस प्रकार रक्तपान से मतवाला हो, मैं धर्म को नष्ट करता हुआ, दण्डकवन में विचरता था ॥६॥

आसादय[१] तदा रामं तापसं धर्मचारिणम्।
वैदेहीं च महाभागां लक्ष्मणं च महारथम् ॥७॥

तदनन्तर मैंने तपस्वियों के धर्म का पालन करने में निरत राम, भाग्यवती सीता और महारथी लक्ष्मण को भी सताया ॥७॥

---

१ आसादय—अपीडयम्। (शि०)

तापसं नियताहारं सर्वभूतहिते रतम् ।
सोऽहं वनगत रामं परिभूय[1] महाबलम् ॥८॥

तपस्वी राम का, जो नियमित भोजन करने वाले हैं और जो सब प्राणियों की भलाई मे तत्पर रहते हैं तथा जो महाबलवान एवं वन में रहते हैं, मैंने फिर तिरस्कार किया ॥८॥

तापसोऽयमिति ज्ञात्वा पूर्ववैरमनुस्मरन् ।
अभ्यधावं हि संक्रुद्धस्तीक्ष्णशृङ्गो मृगाकृतिः ॥९॥

जिघांसुरकृतप्रज्ञस्तं प्रहारमनुस्मरन् ।
तेन मुक्तास्त्रयो बाणाः शिताः शत्रुनिवर्हणाः ॥१०॥

विकृष्य बलवच्चापं सुपर्णानिलनिस्वनाः ।
ते बाणा वज्रसङ्काशाः सुमुक्ता रक्तभोजनाः ॥११॥

मैंने समझा राम एक साधारण तपस्वी है। अतः पहले के वैर को स्मरण कर तथा क्रोध मे भर, मैं मृग का रूप धारण किए हुए, नुकीले सींगों को आगे कर और उनके पराक्रम को जान कर भी, उनको मार डालने की इच्छा से, उन पर झपटा। तब उन्होंने शत्रुनाशकारी तीन पैने बाण, जो गरुड़ या पवन की तरह बड़े वेगवान्, वज्र के तुल्य अमाप और रुधिर पीनेवाले थे, धनुष को कान तक खींच कर छोड़े ॥९॥१०॥११॥

आजग्मुः सहिताः सर्वे त्रयः सन्नतपर्वणः ।
पराक्रमज्ञो रामस्य शठो दृष्टभयः पुरा ॥१२॥

उनको अपनी ओर आते देख मैं तो भागा। क्योंकि मैं राम के पराक्रम को जानता था और पहले से भयभीत भी था ॥१२॥

---

१ परिभूय—अनादृत्य । (शि०)

*समुत्क्रान्तस्ततो मुक्तस्तावुभौ राक्षसौ हतौ ।
शरेण मुक्तो रामस्य कथञ्चित्प्राप्य जीवितम् ॥१३॥

किन्तु मेरे दोनों साथी उन बाणों के लगने से मारे गए। मैंने किसी प्रकार राम के बाण से अपनी रक्षा की और प्राण बचाए ॥१३॥

इह प्रव्राजितो[1] युक्तः[2]तापसोऽहं समाहितः[3] ।
वृक्षे वृक्षे च पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम् ॥१४॥

अब मैं और सब दुष्टताओं को त्याग, मन को अपने वश में कर, तपस्यों के लिए उपयोगी आचरण करने में तत्पर हूँ। किन्तु अब भी मुझे चीर और काले मृग का चर्म धारण किए हुए, राम प्रत्येक वृक्ष में देख पड़ते हैं ॥१४॥

गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम् ।
अपि रामसहस्राणि भीतः पश्यामि रावण ॥१५॥

हे रावण ! जैसे हाथ में फांसी लिए यमराज देख पड़ें, वैसे ही मुझे हाथ में धनुष लिए राम देख पड़ते हैं। सो एक दो राम नहीं, ऐसे राम मुझे सहस्रों देख पड़ते हैं, जिनसे मुझे बड़ा डर लगता है ॥१५॥

रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे ।
राममेव हि पश्यामि रहिते राक्षसाधिप ॥१६॥

---

[1]प्रव्राजित —कृत सकलदुर्वृत्त परित्याग । (गो०)[2] युक्तः—उचिताचरणः । (गो०)[3]समाहितः नियतमनस्क. । (गो०) * पाठान्तरे "समुद्भ्रान्त." ।

और तो क्या, यह सारा वन ही मुझे राममय देख पड़ता है। हे राक्षसनाथ ! जब मैं देखता हूँ, तब मुझे राम ही देख पड़ते हैं। रामरहित स्थान तो मुझे देख ही नहीं पड़ता ॥१६॥

दृष्ट्वा स्वप्नगतं राममुद्भ्रमामि विचेतनः ।
रकारादीनि नामानिरा मत्रस्तस्य रावण ॥१७॥

मैं स्वप्न में राम को देख, घबड़ा कर मूर्छित हो जाता हूँ। हे रावण ! और तो क्या, जिन नामों के आदि मे रकार होता है उनके सुनने से भी मुझे तो डर लगता है ॥१७॥

रत्नानि च रथाश्चैव त्रासं सञ्जनयन्ति मे ।
अहं तस्य प्रभावज्ञो न युद्धं तेन ते क्षमम् ॥१८॥

रत्न और रथ शब्दों के आदि मे रकार होने के कारण, ये शब्द भी मुझे भयभीत कर देते हैं। मैं राम के प्रभाव को जानता हूँ। इसीसे कहता हूँ कि, तू राम से लड़ने मे समर्थ नहीं है ॥१८॥

बलिं वा नमुचिं वाऽपि हन्याद्धि रघुनन्दनः ।
रणे रामेण युध्यस्व क्षमां वा कुरु राक्षस ॥१९॥

राम मे राजा बलि और नमुचि को भी मारने की है। इस पर भी तेरी इच्छा हो तो तू चाहे उनसे लड़ न लड़ ॥१९॥

न ते रामकथा कार्या यदि मां द्रष्टुमिच्छसि ।
बहवः साधवो लोके युक्ता धर्ममनुष्ठिताः ॥२०॥

किन्तु यदि तू मुझे जीता जागता देखना चाहता है, तो मेरे सामने राम की चर्चा भी मत कर। 'ऐसे अनेक साधु और धर्माचरणयुक्त लोग इस संसार मे हो गये हैं ॥२०॥

परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः ।
सोऽहं तवापराधेन विनश्येयं निशाचर ॥२१॥

जिन्हें दूसरों के किए अपराधों के कारण सकुटुम्ब नष्ट हो जाना पड़ा है। सो क्या मुझे भी तेरे अपराध के पीछे अपना नाश करवाना पड़ेगा ॥२१॥

कुरु यत्ते क्षमं तत्त्वमहं त्वा नानुयामि ह ।
रामश्च हि महातेजा महासत्त्वो महाबलः ॥२२॥

तुझे अब जैसा सूझ पड़े वैसा तू कर, किन्तु मैं तेरे साथ नहीं चलूँगा। क्योंकि राम बड़ा तेजस्वी, पराक्रमी और बड़ा बलवान् है ॥२२॥

अपि राक्षसलोकस्य न भवेदन्तको हि सः ।
यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः ॥२३॥
अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः ॥२४॥

कहीं ऐसा न हो कि, राक्षसों का नाम निशान तक न रह जाय। यद्यपि जनस्थान का रहने वाला खर, शूर्पनखा के पीछे अक्लिष्टकर्मा राम द्वारा मारा गया, तथापि यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो, हे रावण! तूही बतला इसमें राम का क्या अपराध है? ॥२३॥२४॥

इदं वचो बन्धुहितार्थिना मया
यथोच्यमानं यदि नाभिपत्स्यसे ।

सबान्धवस्त्यक्ष्यसि जीवितं रणे
हतोऽद्य रामेण शरैरजिह्मगैः ॥२५॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

तू मेरा बन्धु है इसीसे मैंने तेरी भलाई के लिए ही ये सब बातें तुझसे कही हैं। यदि तू मेरी बातों को न मानेगा, तो (स्मरण रखना) तू सपरिवार राम के बाणों से युद्ध में मारा जायगा ॥२५॥

अरण्यकाण्ड का उन्तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

चत्वारिंशः सर्गः

—❀—

मारीचेन तु तद्वाक्यं क्षमं युक्तं निशाचरः।
उक्तो न प्रतिजग्राह मर्तुकाम इवौषधम् ॥१॥

युक्तियुक्त और मानने योग्य वचनों को सुन कर भी, वैसे ही न माना, जैसे अपना मरण चाहने वाला आदमी पध (का प्रभाव) नहीं मानता ॥१॥

तं पथ्यहितवक्तारं मारीचं राक्षसाधिपः।
अब्रवीत्परुषं वाक्यमयुक्तं कालचोदितः ॥२॥

उस समय, मृत्यु से प्रेरित रावण ने हितकर और युक्तियुक्त वचन कहने वाले मारीच से ऊटपटांग और कठोर वचन कहे ॥२॥

यत्किलैतदयुक्तार्थं मारीच मयि कथ्यते ।
वाक्यं निष्फलमत्यर्थमुप्तं बीजमिवोषरे ॥३॥

हे मारीच! तूने जो यह मेरी इच्छा के विरुद्ध वचन मुझसे कहे, सो ठीक नहीं हैं और ऊसर भूमि मे बीज फैंक देने के समान निष्फल हैं ॥३॥

त्वद्वाक्यैर्न तु मां शक्यं भेत्तुं रामस्य संयुगे[१] ।
पापशीलस्य मूर्खस्य मानुषस्य विशेषतः ॥४॥

तेरे ये वचन राम विषयक मेरी धारणा को अन्यथा नहीं कर सकते। अर्थात् सीताहरण सम्बन्धी भावी युद्ध से मेरा मन नहीं फेर सकते। मैं उस पापी, मूर्ख और विशेष कर मनुष्य राम से नहीं डरता, ॥४॥

यस्त्यक्त्वा सुहृदो राज्यं मातरं पितरं तथा ।
स्त्रीवाक्यं प्राकृतं[२] श्रुत्वा वनमेकपदे[३] गतः ॥५॥

जिसने अपने सुहृदों को, राज्य को और माता पिता को छोड़, केवल स्त्री के निःसार वचनों से वनवास करना तुरन्त अङ्गीकार कर लिया ॥५॥

अवश्यं तु मया तस्य संयुगे खरघातिनः ।
प्राणैः प्रियतरा सीता हर्तव्या तव सन्निधौ ॥६॥

मैं तो युद्ध में खर का वध करने वाले उस राम की प्राणों से भी अधिक प्यारी भार्या को तेरे सामने अवश्य हरूँगा ॥६॥

---

१ रामस्य संयुगे रामस्यविषये। (गो०) २ प्राकृतं—असारं। (गो०) ३ एकपदे—उत्तरक्षणे। (गो०)

एवं मे निश्चिता बुद्धिर्हृदि मारीच वर्तते ।
न व्यावर्तयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥७॥

मारीच ! इस विषय में मेरे मन की ऐसी दृढ धारणा है कि, देवताओं सहित इन्द्र भी उसे नहीं पलट सकते ॥७॥

दोषं गुणं वा सपृष्टस्त्वमेवं वक्तुमर्हसि ।
अपायं वाऽप्युपायं वा कार्यस्यास्य विनिश्चये ॥८॥

यदि मैंने तुमसे इस विषय में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय करने को गुण दोष पूछे होते, तो ये सब बातें तू कह सकता था ॥८॥

९.पृष्टेन तु वक्तव्यं सचिवेन विपश्चिता ।
उद्यताञ्जलिना राज्ञे य इच्छेद्भूति[१]मात्मनः ॥९॥

जो मंत्री चतुर और ऐश्वर्य के अभिलाषी होते हैं, वे राजा द्वारा कोई बात पूँछो जाने पर हाथ जोड़ कर उचित उत्तर देते हैं ॥९॥

वाक्यमप्रतिकूलं तु मृदुपूर्वं हितं शुभम् ।
उपचारेण[२] युक्तं च वक्तव्यो वसुधाधिपः ॥१०॥

क्योंकि राजा से बड़े सम्मान के साथ, अनुकूल, कोमल, हितयुक्त और शुभवचन ही कहने चाहिए ॥१०॥

सावमर्दं[३] तु यद्वाक्यं मारीच हितमुच्यते ।
नाभिनन्दति तद्राजा मानार्हो मानवर्जितम् ॥११॥

हे मारीच ! हितकर भी वचन यदि तिरस्कार पूर्वक कहा जाय, तो माननीय राजा उस मान वर्जित वचन को सुन, प्रसन्न नहीं होते ॥११॥

---

१ भूति—ऐश्वर्यं । (गो०) २ उपचारेणयुक्त—बहुमानेनपुरस्कृत । (गो०) ३ सावमर्द—तिरस्कारसहित । (गो०)

पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौजसः ।
अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य वरुणस्य यमस्य च ॥१२॥

अमित तेज वाला राजा, अग्नि इन्द्र, चन्द्र यम और वरुण नाम के पाँच देवताओं का रूप धारण करता है ॥१२॥

औष्ण्यं[१] तथा विक्रमं च सौम्यं[२] दण्डं[३] प्रसन्नताम् ।
धारयन्ति महात्मानो राजानः क्षणदाचर ॥१३॥

इसीसे राजा से, अग्नि का मुख्य गुण उष्णत्व अर्थात् तीक्ष्णता, इन्द्र का मुख्य गुण पराक्रम, चन्द्रमा का मुख्य गुण आह्लादकरत्व (देखने से देखने वालों को प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला) यम का मुख्य गुण दण्ड अर्थात् दुष्टों का निग्रह और वरुण का मुख्य गुण प्रसन्नता पाए जाते हैं ॥१३॥

तस्मात्सर्वास्ववस्थासु मान्याः[४] पूज्याश्च[५] पार्थिवाः ।
त्वं तु [६]धर्ममविज्ञाय केवलं मोहमास्थितः[७] ॥१४॥

अत सब अवसरों पर राजा का मन से सम्मान और वाणी से सत्कार करना चाहिए। तूने राजधर्म को त्याग कर, अज्ञान का आश्रय लिया है (अर्थात् तू राजधर्म नहीं जानता और मूर्ख है) ॥१४॥

अभ्यागतं मां दौरात्म्यात्परुषं वक्तुमिच्छसि ।
गुणदोषौ न पृच्छामि क्षमं चात्मनि राक्षस ॥१५॥

---

१ औष्ण्य—तैक्ष्ण्य । (गो०) २ सौम्य—आह्लादकरत्वं । (गो०) ३ दण्ड—दुष्टनिग्रह । (गो०) ४ मान्या—मनसापूज्या । (गो०) ५ पूज्याः—वाचा बहुमन्तव्या । (गो०) ६ धर्म—राजधर्म । (गो०) ७ मोह—अज्ञानं । (गो०)

तेरे घर अतिथि रूप से आने पर भी, तूने दुर्जनतावश मुझसे ऐसे कठोर वचन कहे हैं। मैं (अपने भावी कर्तव्य के) न तो तुझसे गुण और न दोष ही पूछता हूँ और न अपनी भलाई (का उपाय) ॥१५॥

मयोक्तं तव चैतावत्सम्प्रत्यमितविक्रम ।
अस्मिंस्तु त्वं महाकृत्ये साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥१६॥

हे अमित विक्रमी ! मेरा तो तुझसे इतना ही कहना है कि, सीताहरण के इस महाकार्य मे तू मेरी सहायता कर ॥१६॥

शृणु तत्कर्म साहाय्ये यत्कार्यं वचनान् मम ।
सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतबिन्दुभिः ॥१७॥

मेरे कथनानुसार मेरी सहायता तुझे किस प्रकार करनी होगी सो भी मैं कहता हूँ, सुन । तू सोने और चादी की बुन्दकियोंदार हिरन बन कर ॥१७॥

आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे[1] चर ।
प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि ॥१८॥

रामाश्रम में जा और वहाँ सीता के सामने (घास) चरने लग । फिर सीता को लुभा कर, जहाँ इच्छा हो वहाँ चला जा ॥१८॥

त्वां तु मायामृगं दृष्ट्वा काञ्चनं जातविस्मया ।
आनयैनमिति क्षिप्रं रामं वक्ष्यति मैथिली ॥१९॥

तेरे सोने के बनावटी मृग रूप को देख, सीता को आश्चर्य होगा और वह राम से तुरन्त मृग को पकड़ लाने को कहेगी ॥१९॥

---

१ प्रमुखे— अग्रे । (गो०)

तेरे सोने के बनावटी मृगरूप को देख, सीता को आश्चर्य होगा और वह राम से तुरन्त मृग को पकड़ लाने को कहेगी ॥१६॥

अपक्रान्ते तु काकुत्स्थे दूरं यात्वा व्युदाहर ।
हा सीते लक्ष्मणेत्येवं रामवाक्यानुरूपकम् ॥२०॥

जब राम आश्रम से निकल तेरा पीछा करे, तब तू दूर जा कर, ठीक राम की बोली में "हा सीते" "हा लक्ष्मण" कह कर चिल्लाना ॥२०॥

तच्छ्रुत्वा रामपदवीं[1] सीतया च प्रचोदितः ।
अनुगच्छति सम्भ्रान्तः सौमित्रिरपि सौहृदात् ॥२१॥

तब ऐसे शब्द सुन सीता लक्ष्मण को भेजेगी और लक्ष्मण भाई के प्रेम से राम के मार्ग का अनुसरण करेगा ॥२१॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे लक्ष्मणे च यथासुखम्[2] ।
आनयिष्यामि वैदेहीं सहस्राक्षः शचीमिव ॥२२॥

राम और लक्ष्मण के चले जाने पर, मैं अनायास ही सीता को इसी प्रकार ले आऊँगा, जिस प्रकार इन्द्र शची को ले आया था ॥२२॥

एवं कृत्वा त्विदं कार्यं यथेष्टं गच्छ राक्षस ।
राज्यस्यार्धं प्रयच्छामि मारीच तव सुव्रत ॥२३॥

हे राक्षस ! बस मेरा इतना काम कर चुकने के पीछे, तू जहाँ चाहे वहाँ चले जाना। (इस काम के पारिश्रमिक में). हे सुव्रत मारीच ! मैं तुझे अपना आधा राज्य दूँगा ॥२३॥

गच्छ सौम्य शि[3] ... [illegible] [4] कार्यस्यास्य विवृद्धये ।
अहं त्वानुगमिष्यामि सरथो दण्डकावनम् ॥२४॥

---

१ पदवी—मार्गं । (गो०) २ यथासुख—यत्नविना । (गो०) ३ शिव—मनोहर । (गो०) ४ मार्ग—मृगचर्मानिमित्त मार्गं । (गो०)

हे सौम्य ! तू इस कार्य को पूरा करने के हेतु मृगों के चलने के मनोहर मार्ग से चल। मैं भी रथ सहित तेरे पीछे दण्डकवन में आता हूँ ॥२४॥

प्राप्य सीतामयुद्धेन वञ्चयित्वा तु राघवम् ।
लङ्कां प्रति गमिष्यामि कृतकार्यः सह त्वया ॥२५॥

इस प्रकार छलबल से, बिना युद्ध किए ही राम की सीता को पा कर, मैं कृतकार्य हो, तेरे साथ लङ्का की ओर चल दूँगा ॥२५॥

न चेत्करोषि मारीच हन्मि त्वामहमद्य वै ।
एतत्कार्यमवश्यं मे बलादपि [1]करिष्यसि ।
राज्ञो हि प्रतिकूलस्थो न जातु सुखमेधते ॥२६॥

यदि तू मेरा यह काम न करेगा, तो मैं तुझे अभी मार डालूँगा। तुझे मेरा यह काम अपनी इच्छा न रहते भी अवश्य करना होगा। क्योंकि कोई आदमी राजा के विरुद्ध आचरण कर, सुखी नहीं रह सकता ॥२६॥

आसाद्य तं जीवितसंशयस्ते
मृत्युर्ध्रुवो ह्यद्य मया विरुध्य ।
एतद्यथावत्प्रतिगृह्य[2] बुद्ध्या
यदत्र पथ्यं कुरु तत्तथा त्वम् ॥२७॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

---

[1]बलादपि—अनिच्छतापि । (गो०) [2]प्रतिगृह्य—निश्चित्य । (गो०)

राम के पास जाने से तो तुझे अपने बचने की केवल शङ्का ही है, किन्तु मेरी इच्छा के विरुद्ध आचरण करने से तेरी मौत निश्चित ही है। अत इन दोनों बातों को सोच बिचार कर, तुझे अपने लिए जो हितकार जान पड़े, सो अब कर ॥२७॥

अरण्यकाण्ड का चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:❀:—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—❀—

आज्ञप्तोऽराजवद्वाक्यं प्रतिकूलं निशाचरः।
अब्रवीत्परुषं वाक्यं मारीचो राक्षसाधिपम् ॥१॥

जब प्रतिकूल वचन कहने पर राक्षसनाथ रावण ने राजाओं की तरह इस प्रकार आज्ञा दी, तब मारीच ने निर्भीक हो उससे ये कठोर वचन कहे ॥१॥

केनायमुपदिष्टस्ते विनाशः पापकर्मणा।
सपुत्रस्य सराष्ट्रस्य सामात्यस्य निशाचर ॥२॥

हे राक्षस! किस पापी ने तुझे यह उपदेश दिआ है, जिससे तू अपने राज्य, मन्त्रियों और पुत्रों सहित नाश को प्राप्त हो ॥२॥

कस्त्वया सुखिना राजन्नाभिनन्दति पापकृत्।
केनेदमुपदिष्टं ते मृत्युद्वारमुपायतः[१] ॥३॥

१ उपायत —व्याजेन। (गो०)

वह कौन पापी है, जो तुझे सुखी देख सुखी नहीं है ? किसने उपाय के छल से यह तेरी मौत का उपाय तुझको सुझाया है ॥३॥

शत्रवस्तव सुव्यक्तं हीनवीर्या निशाचराः ।
इच्छन्ति त्वां विनश्यन्तमुपरुद्धं बलीयसा ॥४॥

हे राक्षसनाथ ! यह तो स्पष्ट ही है कि तेरे शत्रु बलहीन हो गए हैं, इसीसे वे चाहते हैं कि, कोई बलवान आ कर, तुझे घेर ले और तुझे नष्ट कर डाले ॥४॥

केनेदमुपदिष्टं ते क्षुद्रेणाहितवादिना ।
यस्त्वामिच्छति नश्यन्तं स्वकृतेन निशाचर ॥५॥

हे रावण ! वह कौन नीच और तेरा अहितकारी शत्रु है, ज तुझे यह शिक्षा दे, तेरा नाश तेरे ही हाथों करवाना चाहता है ॥५॥

वध्याः खलु न हन्यन्ते सचिवास्तव रावण ।
ये त्वामुत्पथमारूढं न निगृह्णन्ति सर्वशः ॥६॥

हे रावण ! सचिव अवश्य ही अवध्य हैं किन्तु वे सचिव अवश्य मार डालने योग्य हैं, जो तुझे कुमार्ग पर चलने से नहीं रोकते ॥६॥

अमात्यैः कामवृत्तो हि राजा कापथमाश्रितः ।
निग्राह्यः, सर्वथा सद्भिर्न निग्राह्यो निगृह्यसे ॥७॥

जब राजा यथेच्छाचारी हो, कुमार्गगामी होने लगे, तब मंत्रियों का यह कर्त्तव्य है कि, वे उसे सर्वप्रकार रोकें, किन्तु तुझे कौन रोके । तू तो किसी का कहना मानता ही नहीं ॥७॥

धर्ममर्थं च क.मंयश ध जयतांवर ।
स्वामिप्रसादात्सचिवाः प्राप्नुवन्ति निशाचर ॥८॥

हे निशाचर! हे विजय करने वालों में श्रेष्ठ! मंत्रियों को अपने अपने स्वामी की प्रसन्नता ही से धर्म अर्थ काम और यश की प्राप्ति होती है ॥८॥

विपर्यये तु तत्सर्वं व्यर्थं भवति रावण।
व्यसनं स्वामिवैगुण्यात्प्राप्नुवन्तीतरे जनाः ॥९॥

और स्वामी के अप्रसन्न होने पर, हे रावण! सब ही व्यर्थ हो जाता है स्वामी के अप्रसन्न होने से इतर जनों को दुःख होता है ॥९॥

राजमूलोहि धर्मश्च जयश्च जयतांवर।
तस्मात्सर्वास्ववस्थासु रक्षितव्या नराधिपाः ॥१०॥

हे जयतांवर! धर्म व विजय का मूल राजा ही है, अथवा राजा ही प्रजाओं के धर्म व विजय का मूलकारण है। इसीलिए हर दशा मे राजा लोगों की रक्षा करनी चाहिये ॥१०॥

राज्यं पालयितुं शक्यं न तीक्ष्णेन[1] निशाचर।
न चापिप्रतिकूलेन[2] नाविनीतेन[3] राक्षस ॥११॥

हे निशाचर! जो राजा अत्याचारी होने के कारण प्रजा जनों को अप्रसन्न रखता है और अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता ॥११॥

ये तीक्ष्णमन्त्राः[4] सचिवा भज्यन्ते सह तेन वै।
विषमे[5] तुरगाः शीघ्रा मन्द[6]सारथयो यथा ॥१२॥

१तीक्ष्णेन—क्रूरदण्डेन। (गो०) २प्रतिकूलेन—प्रजाविरुद्धेन। (गो०) ३अविनीतेन—इन्द्रियजयरहितेन। (गो०) ४तीक्ष्णमन्त्रा—तीक्ष्णोपाय प्रयोक्तार.। (गो०) ५विषमे—निम्नोन्नत प्रदेशे। (गो०) ६मन्दर—अप्रटु। (गो०)

उग्र उपायों से काम लेने वाले मंत्री उस राजा के साथ अपने किए का फल उसी प्रकार भोगते हैं, जिस प्रकार ऊँची नीची ज़मीन पर तेज़ी के साथ घोड़े हाँकने वाला नौसिखुआ सारथी। (अर्थात् ऊबड़ खाबड़ सड़क पर तेज़ी के साथ रथ दौड़ने से केवल घोड़ों ही को कष्ट नहीं होता, किन्तु सारथी को भी कष्ट झेलना पड़ता है) ॥१२॥

बहवः साधवो लोके युक्ता[१] धर्ममनुष्ठिताः ।
परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः ॥१३॥

हे रावण ! अनेक धर्मज्ञ जो धर्मानुष्ठान में तत्पर और नीति-मार्ग का अनुसरण करते थे, दूसरों के अपराध से अपने परिवार सहित नष्ट हो चुके हैं ॥१३॥

स्वामिना प्रतिकूलेन प्रजास्तीक्ष्णेन रावण ।
रक्ष्यमाणा न वर्धन्ते मेषा गोमायुना यथा ॥१४॥

हे रावण ! उग्रस्वभाव और प्रतिकूलाचरणसम्पन्न राजा से रक्षित प्रजा की उन्नति वैसे ही नहीं होती, जैसे सियारों से रक्षित भेड़ों की उन्नति नहीं होती ॥१४॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः ।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥१५॥

जिन राक्षसों को तू जैसा क्रूर स्वभाव, निर्बुद्धि और अजितेन्द्री राजा है, वे राक्षस अवश्य ही नष्ट हो जायगे ॥१५॥

---

१ युक्ताः—नीतिमार्गनिष्ठाः । (गो०)

तदिदं काकतालीयं[1] घोरमासादितं मया ।
अत्रैव शोचनीयस्त्वं ससैन्यो विनशिष्यसि ॥१६॥

अस्तु, मैं तो इस घोर काम मे हाथ डालने से मारा जाऊँगा ही, (इसका मुझे सोच नहीं) किन्तु सोच तो मुझे इसका है कि, तू ससैन्य नष्ट होगा ॥१६॥

मां निहत्य तु रामश्च न चिरात्त्वां वधिष्यसि ।
अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रिये यदरिणा हतः ॥१७॥

मुझे क्या ? मैं यहाँ न मर कर यदि शत्रु (राम) के ही हाथ से मरूँगा तो (शत्रु के द्वारा मारे जाने के कारण) कृतकृत्य भी हो जाऊँगा, पर (याद रख) राम तुझे भी अविलम्ब मार डालेंगे ॥१७॥

दर्शनादेव रामस्य हतं मामुपधारय ।
आत्मानं च हतं विद्धि हृत्वा सीतां सबान्धवम् ॥१८॥

तू निश्चय जान कि, जहाँ राम के सामने मैं गया कि, मैं मारा-गया (अथवा रामदर्शन ही से तू मुझे मरा समझ ले) । साथ ही सीता को हरने से तू भी अपने को परिवार सहित मरा हुआ समझ ले ॥१८॥

आनयिष्यसि चेत्सीतामाश्रमात्सहितो मया ।
नैव त्वमसि नाहं च नैव लङ्का न राक्षसाः ॥१९॥

मान ले, यदि तू सीता को रामाश्रम से हर भी लाया और मैं भी जीता जागता बच गया, तो भी तेरी, मेरी, लङ्का की और लङ्कावासी राक्षसों की कुशल नहीं ॥१९॥

---

१ काकतालीयं—यादृच्छिकं । (गो०)

निवार्यमाणस्तु मया हितैषिणा
न मृष्यसे वाक्यमिदं निशाचर।
परेतकल्पा[1] हि गतायुषो नरा
हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम् ॥२०॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे रावण ! मैं तेरा हितैषी हूँ। मेरे मना करने पर भी तू मेरी इन बातों पर कान नहीं देता। सो ठीक ही है, क्योंकि जिन लोगों की आयु समाप्त होने वाली होती है, वे मरणोमुख जीव अपने मित्रों के हितकारी वचनों को नहीं माना करते ॥२०॥

अरण्यकाण्ड का इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—❀—

एवमुक्त्वा तु वचनं मारीचो रावणं ततः।
गच्छावेत्यब्रवीद्दीनो[2] भयाद्रात्रिचरप्रभा ॥१॥

मारीच ने राक्षसराज रावण से ऐसे कठोर वचन तो कहे, किन्तु उसके भय से भीत हो, साथ ही घबड़ा कर यह भी कहा कि, अच्छा मैं चलता हूँ ॥१॥

दृष्टश्चाहं पुनस्तेन शरचापासिधारिणा।
मद्वधोद्यतशस्त्रेण विनष्टं जीवित च मे ॥२॥

---

१ परेतकल्पाः आसन्नमरणा.। (गो०) २ दीन—दौर्मुख्यमुपपादयति। (गो०)।

किन्तु यदि मेरे मारने को धनुर्बाण एवं खड्ग लिए हुए राम मुझे फिर दिखलाई पड़े, तो मेरा प्राण गया हुआ ही समझना ॥२॥

न हि रामं पराक्रम्य जीवन् प्रतिनिवर्तते ।
वर्तते प्रतिरूपोऽसौ यमदण्डहतस्य ते ॥३॥

क्योंकि कोई भी पुरुष राम के सामने जा, अपने पराक्रम से जीता जागता नहीं लौट सकता। क्योंकि राम, यमदण्ड के समान हैं। सो तू और मैं दोनों ही मारे जाँयगे ॥३॥

किन्तुशक्यं मया कर्तुमेवं त्वयि दुरात्मनि ।
एष गच्छाम्यहं तात स्वस्ति तेऽस्तु निशाचर ॥४॥

तुझ जैसे दुरात्मा पर मेरा क्या वश है। अस्तु, हे तात! हे निशाचर! तेरा मङ्गल हो, ले मैं अब चलता हूँ ॥४॥

प्रहृष्टस्त्वभवत्तेन वचनेन स रावणः ।
परिष्वज्य सुसंश्लिष्टमिदं वचनमब्रवीत् ॥५॥

मारीच का यह वचन सुन, राक्षसेश्वर रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसका गाढ़ आलिंगन कर, उससे यह वचन बोला ॥५॥

एतच्छौण्डीर्य[1]युक्तं ते मच्छन्दादिव भाषितम् ।
इदानीमसि मारीचः पूर्वमन्यो निशाचरः ॥६॥

हे मारीच! अब तूने वीरतायुक्त बात मेरे मन के अनुसार कही है। अब मैंने जाना कि, तू मारीच है। पहिले तो मैं तुझे एक साधारण राक्षस समझता था ॥६॥

आरुह्यतामयं शीघ्रं रथो रत्नविभूषितः ।
मया सह तथा युक्तः पिशाचवदनैः खरैः ॥७॥

---

[1] शौण्डीर्य—वीरत्व। (गो०)

अब तू इस रत्नविभूषित और पिशाच-मुख खरों से युक्त रथ पर मेरे साथ सवार हो ले ॥७॥

प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि ।
तां शून्ये प्रसभं सीतामानयिष्यामि थिलीम् ॥८॥

और सीता को लुभा कर फिर जहाँ चाहे वहाँ को चल देना। उस समय मैं सूनी पा, सीता को हर लाऊँगा ॥८॥

ततो रावणमारीचौ विमानमिव त रथम् ।
आरुह्य ययतुः शीघ्रं तस्मादाश्रममण्डलात् ॥९॥

तदनन्तर मारीच और रावण विमान जैसे रथ पर सवार हुए और तुरन्त उस आश्रम से रवाना हुए ॥९॥

तथैव तत्र पश्यन्तौ पत्तनानि वनानि च ।
गिरींश्च सरितः सर्वा राष्ट्राणि नगराणि च ॥१०॥

जाते हुए उन दोनों ने रास्ते मे अनेक ग्रामों, वनों, पर्वतों, नदियों राष्ट्रों और नगरों को देख* ॥१०॥

[टिप्पणी—कतिपयपाश्चात्यलेखकों की अटकल है कि प्राचीन काल में दक्षिण भारत में नगरादि न थे। किन्तु रावण की लङ्का से पञ्चवटी की यात्रा का विवरण पढ़ने से रामायण काल में दक्षिण भारत में अनेक समृद्धशालीन गरों का होना सिद्ध है ।]

समेत्य दण्डकारण्यं राघवस्याश्रमं ततः ।
ददर्श सहमारीचो रावणो राक्षसाधिपः ॥११॥

तदनन्तर दण्डकवन में जा, राक्षसराज रावण और मारीच ने श्रीरामाश्रम को देखा ॥११॥

---

*लोगों का अनुमान है कि, वर्तमान् बम्बई नगर का टापू ही मारीच के रहने का स्थान था।

अवतीर्य रथात्तस्मात्ततः काञ्चनभूषणात् ।
हस्ते गृहीत्वा मारीचं रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥१२॥

तदनन्तर सुवर्णभूषित रथ से नीचे उतर, रावण ने मारीच का हाथ पकड़ उससे कहा ॥१२॥

एतद्रामाश्रमपदं दृश्यते कदलीवृतम् ।
क्रियतां तत्सखे शीघ्रं यदर्थं वयमागताः ॥१३॥

केले के वृक्षों से घिरा हुआ यही राम का आश्रम है, अब हे मित्र! जिस काम के लिए हम लोग आए हैं, उसे झटपट कर डाल ॥१३॥

स रावणवचः श्रुत्वा मारीचो राक्षसस्तदा ।
मृगो भूत्वाऽऽश्रमद्वारि रामस्य विचचार ह ॥१४॥

तब रावण का यह वचन सुन, मारीच राक्षस मृग बन कर, रामाश्रम के द्वार पर विचरने लगा ॥१४॥

स तु रूपं समास्थाय महदद्भुतदर्शनम् ।
मणिप्रवरशृङ्गाग्रः सितासितमुखाकृतिः ॥१५॥

उस समय मारीच ने अपना बड़ा अद्भुत मृग का रूप बनाया। नीलम की तो उसके सींगों की नोंके थीं और मुख की रंगत कुछ सफेद और कुछ काली थी ॥१५॥

रक्तपद्मोत्पलमुख इन्द्रनीलोत्पलश्रवाः ।
किञ्चिदभ्युन्नतग्रीव इन्द्रनीलदलाधरः ॥१६॥

मुख लाल कमल जैसा था और कान नील कमल के समान थे। गर्दन कुछ उठी हुई और शरीर का निचला भाग नील कमल की तरह बैंजनी रंग का था ॥१६॥

कुन्देन्दुवज्रसङ्काशमुदरं चास्य भास्वरम् ।
मधूकनिभपार्श्वश्च पद्मकिञ्जल्कसन्निभः ॥१७॥

उसका पेट नीले कमल के रंग का और हीरा की तरह चमकता था। महुआ के पुष्प के रंग की तरह उसकी दोनों कोखें थीं और कमल की केसर के रंग जैसे रंग की उसकी छवि थी ॥१७॥

वैडूर्यसङ्काशखुरस्तनुजङ्घः सुसंहतः ।
इन्द्रायुधसवर्णेन पुच्छेनोर्ध्वं विराजता ॥१८॥

पन्ने के रंग जैसे रंग के उसके खुर, उसकी जांघें पतली और सब सन्धियां भरी हुई थीं और इन्द्रधनुष जैसे रंग की पूछ को वह ऊपर उठाए हुए था ॥१८॥

मनोहरःस्निग्धवर्णो रत्नैर्नानाविधैर्वृतः ।
क्षणेन राक्षसो जातो मृगः परशोभनः ॥१९॥

वह देखने में बड़ा मनोहर, सचिक्कन रंग का था और तरह तरह के रत्नों के रंगों से उसका शरीर सजा हुआ था। वह मारीच ... में परम शोभायमान मृग बन गया था ॥१९॥

वनं प्रज्वलयन्(... रामाश्रमपदं च तत् ।
मनोहरं दर्शनीयं रूपं कृत्वा स राक्षसः ॥२०॥

वह राक्षस मारीच देखने योग्य । नोहर रूप धारण कर, उस वन और रमणीक श्रीरामाश्र म को शोभित करने लगा ॥२०॥

प्रलोभनार्थं वैदेह्या नानाधातुविचित्रितम् ।
विचरन् गच्छते तस्माच्छाद्वलानि समन्ततः ॥२१॥

वह, जानकी जी को लुभाने के लिए नाना प्रकार की धातुओं जैसे रंगों से विचित्र रूप धारण कर, हरी हरी दूब चरता हुआ, श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम में चारों ओर घूमने लगा ॥ २१ ॥

रूप्यैर्बिन्दुशतैश्चित्रो भूत्वा स प्रियदर्शनः ।
विटपीनां किसलयान् भङ्क्त्वादन्विचचार ह ॥२२॥

चांदी के रग की सैकड़ों बूँदों से विभूषित होने के कारण वह बहुत ही भला मालूम पड़ता था और वृक्षों के कोमल पत्तों को चरता हुआ वह घूम रहा था ॥२२॥

कदलीगृहकं गत्वा कर्णिकारानितस्ततः ।
समाश्रयन् मन्दगतिः सीतासन्दर्शनं तथा ॥२३॥

वह धीमी चाल से इधर उधर घूमता हुआ कभी केलों के और कभी कनेर की कुँजों की ओर जाता, जिससे सीता की दृष्टि उस पर पड जाय ॥२३॥

राजीवचित्रपृष्ठः स विरराज महामृगः ।
रामाश्रमपदाभ्याशे विचचार यथासुखम् ॥२४॥

वह, कमल पुष्प के रग जैसी विचित्र पीठ को दिखलाता श्रीराम के आश्रम में सुखपूर्वक (मनमाना) घूमने लगा ॥२४॥

पुनर्गत्वा निवृत्तश्च विचचार मृगोत्तमः ।
गत्वा मुहूर्तं त्वरया पुनः प्रतिनिवर्तते ॥२५॥

वह मृगोत्तम बार बार आश्रम में जाता और बार बार लौट आता था। फिर कुछ ही देर बाद वह आश्रम में जाता और थोड़े ही देर बाद वहाँ से फिर लौट आता था। इस प्रकार वह मृग आश्रम में घूम फिर रहा था ॥२५॥

विक्रीडंश्च क्वचिद्भूमौ पुनरेव निषीदति।
आश्रमद्वारमागम्य मृगयूथानि गच्छति ॥२६॥

वह कुछ काल तक कुलेल करता और फिर क्षण भर विश्राम करता। फिर आश्रम के द्वार पर आ कर मृगों के झुंडों मे चला जाता ॥२६॥

मृगयूथैरनुगतः पुनरेव निवर्तते।
सीतादर्शनमाकाङ्क्षन् राक्षसो मृग तां गतः ॥२७॥

और मृगों के झुंडों के पीछे पाछे हो लेता और फिर लौट आता था। उस राक्षस ने जानकी के दर्शन की इच्छा से मृग का रूप धारण किआ था ॥२७॥

परिभ्रमति चित्राणि मण्डलानि विनिष्पतन्।
समुद्वीक्ष्य च तं सर्वे मृगा ह्यन्ये वनेचराः ॥२८॥

वह चित्र विचित्र मण्डलाकार गतियों से (अर्थात् चक्कर लगा कर) घूम रहा था। उसको देख हिरन तथा अन्य वनचर जन्तु ॥२८॥

उपागम्य समाघ्राय विद्रवन्ति दिशो दश।
राक्षसः सोऽपि तान्व न्यान् मृगान्मृगवधे रतः ॥२९॥

उसके पास आ कर उसके शरीर को सूँघते और सूँघ कर इधर उधर भाग जाते थे। वह पशुघाती राक्षस भी ॥२९॥

प्रच्छादनार्थं भावस्य न भक्षयति संस्पृशन्।
तस्मिन्नेव ततः काले वैदेही शुभलोचना ॥३०॥

अपना भाव छिपाने के लिए उनको छू कर के भी वह उनको खाता न था उस समय सुघर नेत्रों वाली सीता जी ॥३०॥

कुसुमापचयव्यग्रा पादपानभ्यवर्तत ।
कर्णिकारानशोकांश्च चूतांश्च मदिरेक्षणा ॥३१॥
जानकी जी फूल तोड़ने मे व्यग्र कभी कनैर, कभी अशोक और कभी आम के वृक्षों के नीचे घम रही थीं ॥३१॥

कुसुमान्यपचिन्वन्ती चचार रुचिरानना ।
अनर्हाऽरण्यवासस्य सा तं रत्नमयं मृगम् ॥३२॥
वनवास करने के अयोग्य, सुन्दर मुखवाली सीता जी ने फूल तोडने के लिए इधर उधर घूमते समय उस रत्नमय मृग को देखा ॥३२॥

मुक्तामणिविचित्राङ्गं ददर्श परमाङ्गना ।
सा त रुचिरदन्तोष्ठी रूप्यधातुतनूरुहम् ॥३३॥
सुन्दर दांतों और अधर वाली जानकी जी ने उस मणि मुक्ताओं से सर्वाङ्ग-विभूषित और रुपैहले रोओं से चमकते हुए मृग को ॥३३॥

विस्मयोत्फुल्लनयना सस्नेहं समुदैक्षत ।
स च तां रामदयितां पश्यन् मायामयो मृगः ॥३४॥
आश्चर्यचकित हो बडे प्यार से देखा । वह बनावटी हिरन भी श्रीरामचन्द्र की प्यारी जानकी को देखता रहा ॥३४॥

विचचार पुनश्चित्रं दीपयन्निव तद्वनम् ।
अदृष्टपूर्वं तं दृष्ट्वा नानारत्नमयं मृगम् ।
विस्मयं परमं सीता जगाम जनकात्मजा ॥३५॥

इति द्विचत्वारिंश. सर्ग ॥

फिर वह विचित्र मृग उस वन को सुशोभित करता हुआ वहाँ घूमने लगा। उस अपूर्व एवं अनेक रत्नमय मृग को देख, जनक-दुलारी जानकी जी को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥३५॥

अरण्यकाण्ड का बयालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—❀—

सा तं समेक्ष्य सुश्रोणी कुसुमान्यपचिन्वती ।
हैमराजतवर्णाभ्यां पार्श्वाभ्यामुपशोभितम् ॥१॥

फूलों को चुनती हुई सीता जी ने उस मृग को देखा, जो सोने और रूपे के रग वाली कोखों से सुभोभित था ॥१॥

प्रहृष्टा चानवद्याङ्गी मृष्ट[1] हाटक[2]वर्णिनी ।
भर्तारमभिचक्रन्द[3] लक्ष्मणं चापि सायुधम् ॥२॥

सुन्दर अगों वाली तथा विशुद्ध सुवर्ण जैसे रग के शरीरवाली सीता, उस हिरन को देख, अति आनन्दित हुई और आयुध ले कर आने के लिए श्रीराम और लक्ष्मण को उच्च स्वर से बुलाया ॥२॥

तयाऽऽहूतौ नरव्याघ्रौ वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।
वीक्षमाणौ तु तं देशं तदा ददृशतुर्मृगम् ॥३॥

---

१ मृष्ट—शुद्ध। (गो०) २हाटक—सुवर्ण। (गो०) ३ अभिचक्रन्द—उच्चैराहूयत्। (गो०)

सीता जी के इस प्रकार पुकारने पर पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उस ओर ताकते हुए वहाँ पहुँचे और उन्होंने भी उस मृग को देखा ॥३॥

शङ्कमानस्तु तं दृष्ट्वा लक्ष्मणो राममब्रवीत् ।
तमेवैनमहं मन्ये मारीचं राक्षसं मृगम् ॥४॥

उस मृग को देखते, ही लक्ष्मण के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ और उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—मुझे मृगरूपधारी यह निशाचर मारीच मालूम पडता है ॥४॥

चरन्तो मृगयां हृष्टाः पापेनोपाधिना[1] वने ।
अनेन निहता राजन्राजानः कामरूपिणा ॥५॥

हे राम ! इस पापी दुष्ट राक्षस ने मृगरूप धारण कर के परम हर्षित हो, शिकार खेलने को वन में आए हुए अनेक राजाओं को मारा है ॥५॥

अस्य मायाविदो मायामृगरूपमिदं कृतम् ।
भानुमत्पुरुषव्याघ्र गन्धर्वपुरसन्निभम् ॥६॥

इसी मायावी ने, इस समय माया के बल से मृग का रूप धारण किया है । हे पुरुषसिंह ! सूर्य की तरह (अथवा) गन्धर्व-नगर की तरह, यह मृग परम दीप्तियुक्त जान पडता है ॥६॥

मृगो ह्येवंविधो रत्नविचित्रो नास्ति राघव ।
जगत्यां जगतीनाथ मायैषा हि न संशयः ॥७॥

---

१ उपाधिना—मृगरूपछलेन । (रा०)

हे पृथिवीनाथ ! हे राघव ! इस धरणीतल पर तो इस प्रकार का रत्नों से भूषित विचित्र मृग कोई है नहीं । अतः निस्सन्देह यह सब बनावट है ॥७॥

एवं ब्रुवाणं काकुत्स्थं प्रतिवार्य शुचिस्मिता ।
उवाच सीता संहृष्टा चर्मणा हृतचेतना ॥८॥

छद्मवेषधारी मृग को देखने से हतबुद्धि हुई सीता, लक्ष्मण को बोलने से रोक कर और परम प्रसन्न हो एवं मुसकरा कर, श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं ॥८॥

आर्यपुत्राभिरामोऽसौ मृगो हरति मे मनः ।
आनयैनं महाबाहो क्रीडार्थं नो भविष्यति ॥९॥

हे आर्यपुत्र ! यह परम मनोहर मृग मेरे मन को हरे लेता है । सो हे महाबाहो ! इसे तुम ले आओ । मैं इसके साथ खेला करूँगी ॥९॥

इहाश्रमपदेऽस्माकं बहवः पुण्यदर्शनाः ।
मृगाश्चरन्ति सहिताः सृमराश्चमरास्तथा ॥१०॥
ऋक्षाः पृषतसङ्घाश्च वानराः किन्नरास्तथा ।
विचरन्ति महाबाहो रूपश्रेष्ठा मनोहराः ॥११॥

हे महाबाहो ! हमारे इस आश्रम में बहुत से मनोहर एवं श्रेष्ठ रूपवाले मृग, सृमर, ऋच्छ, पृषत, वानर और किन्नरादि जातियों के अनेक जीव घूमा फिरा करते हैं ॥१०॥११॥

न चास्य सदृशो राजन् दृष्टपूर्वो मृगः पुरा ।
तेजसा[1] क्षमया[2] दीप्त्या[3] यथाऽयं मृगसत्तमः ॥१२॥

---

१ तेजसा—वर्णेन ! (गो०) २क्षमया—अत्वरया । (गो०)३दीप्त्या—शरीर प्रकाशेन । (गो०)

किन्तु हे राजन्! जैसा रंग और जैसी चमक इस उत्तम हिरन मे है और जैसा यह शान्त स्वभाव है, वैसा हिरन तो मैंने दूसरा पहले कभी नहीं देखा ॥१२॥

नानावर्णविचित्राङ्गो रत्नबिन्दुसमाचितः।
द्योतयन्वनमव्यग्रं शोभते शशिसन्निभः ॥१३॥

इसका सारा शरीर कैसा रग बिरंगा है, बीच बीच में रत्नों की बिंदुकीं कैसी शोभा दे रही हैं। यह मृग चन्द्रमा के समान वन भूमि को शान्तभाव से कैसा प्रकाशित कर रहा है ॥१३॥

अहो [१]रूपमहो लक्ष्मीः[२] स्वरसम्पच्च शोभना।
मृगोऽद्भुतो विचित्राङ्गो हृदयं हरतीव मे ॥१४॥

आहा! देखो तो इसके शरीर का रग और कान्ति कैसी अच्छी है और कैसा मनोहर इसका शब्द है। हे राम! यह रग बिरंगा अद्भुत हिरन मेरे मन को हरे लेता है ॥१४॥

यदि ग्रहणमभ्येति जीवन्नेव मृगस्तव।
आश्चर्यभूतं भवति विस्मयं जनयिष्यति ॥१५॥

यदि तुम कहीं इसे जीता ही पकड लेते, तो यह एक बड़ा आश्चर्यप्रद पदार्थ आश्रम में रह कर, विस्मय उत्पन्न किआ करता ॥१५॥

समाप्तवनवासानां राज्यस्थानां च नः पुनः।
अन्तःपुरविभूषार्थो मृग एष भविष्यति ॥१६॥

फिर वनवास की अवधि बीतने पर जब हम लोग अयोध्या चलेंगे; तब मृग हमारे रनवास की शोभा होगा ॥१६॥

---

१ रूप—वर्ण। (गो०) २ लक्ष्मी—कान्ति। (गो०)

भरतस्यार्य पुत्रस्य श्वश्रूणां मम च प्रभो ।
[१]मृगरूपमिदं व्यक्तं विस्मयं जनयिष्यति ॥१७॥

हे प्रभो ! इस उत्तम मृग को देख देख कर भरत, आप, मेरी सास और मैं स्वय, विस्मित हुआ करूँगी ॥१७॥

जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगसत्तमः ।
अजिनं नरशार्दूल रुचिरं मे भविष्यति ॥१८॥

यदि यह मृगोत्तम जीता न भी पकड़ मिले, तो हे पुरुषसिंह ! इसका चाम भी मुझे बहुत पसंद आवेगा ॥१८॥

निहतस्यास्य सत्त्वस्य जाम्बूनदमयत्वचि ।
[२]शष्पबृस्यां [३]विनीतायामिच्छाम्यहमुपासितुम्[४] ॥१९॥

यदि यह मारा ही गया तो भी इसकी सुनहली चाम की चटाई पर बिछा कर, मैं बैठना पसंद करूँगी ॥१९॥

[५]कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं[६] मतम् ।
वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम ॥२०॥

यद्यपि यह मैं जानती हूँ कि, मनमानी चीज पर मन चला कर, की प्राप्ति के लिए पति को प्रेरणा करना, सती स्त्रियों के लिए अनुचित और भयङ्कर कृत्य है, तथापि इस मृग की अद्भुत ने मुझे अत्यन्त विस्मित कर दिया है ॥२०॥

१ मृगरूप—प्रशस्तमृग । (गो०) २ शष्पबृस्या—बालतृणैः कृताया बृस्या । (गो०) ३ उपासितु—स्थातु । (गो०) ४ विनीताया—आस्तृतायां । (गो०) ५ कामवृत्त—भर्तृप्रेरणरूपस्वेच्छाव्यापार. । (गो०) ६ असदृश—अयुक्त । (गो०)

तेन काञ्चनरोम्णा तु मणिप्रवरशृङ्गिणा ।
तरुणादित्यवर्णेन नक्षत्रपथ[1]वर्चसा ॥२१॥

बभूव राघवस्यापि मनो विस्मयमागतम् ।
एवं सीतावचः श्रुत्वा तं दृष्ट्वा मृगमद्भुतम् ॥२२॥

इतने में श्रीरामचन्द्र जी भी उस सुवर्ण रोम वाले, मणिभूषित सींगों वाले, तरुण सूर्य के समान कान्ति वाले और आकाश के समान रंग वाले मृग को देख, विस्मित हुए। सीता के ऐसे वचन सुन और उस अद्भुत मृग को देख, ॥२१।२२॥

लोभितस्तेन रूपेण सीतया च प्रचोदितः ।
उवाच राघवो हृष्टो भ्रातरं लक्ष्मणं वचः ॥२३॥

श्रीरामचन्द्र जी का मन उस मृग पर लुभा गया। वे सीता जी के कथन को मान और प्रसन्न हो अपने भाई लक्ष्मण से बोले ॥२३॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः स्पृहां मृगगतामिमाम् ।
रूपश्रेष्ठतया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति ॥२४॥

हे लक्ष्मण! देखो तो सीता इस मृग के सौन्दर्य पर कैसी लट्टू हो गई है। सचमुच अब ऐसा मृग मिलना दुर्लभ है ॥२४॥

न वने नन्दनोद्देशे न चैत्ररथसंश्रये ।
कुतः पृथिव्यां सौमित्रे योऽस्य कश्चित्समो मृगः ॥२५॥

क्योंकि हे लक्ष्मण! जब ऐसा मृग नन्दनवन और चैत्ररथवन ही में नहीं है तब पृथिवी पर ऐसा मृग मिलना तो सर्वथा दुर्लभ है ॥२५॥

---

१ नक्षत्रपथ—छायापथ। (गो०)

¹प्रतिलोमानुलोमा²श्च रुचिरा रोमराजयः ।
शोभन्ते मृगमाश्रित्य चित्राः³ कनकबिन्दुभिः ॥२६॥

इस मृग के शरीर पर आड़ी तिरछी सुन्दर रोमावली सुवर्ण बिन्दुओं से भूषित हो, कैसी अद्भुत जान पड़ती हैं ॥२६॥

पश्यास्य जृम्भमाणस्य दीप्तामग्निशिखोपमाम् ।
जिह्वां मुखान्निःसरतीं मेघादिव शतह्रदाम् ॥२७॥

जैसे मेघ मे बिजली कौंधे, वैसे ही जमुहाई लेने के समय इसके मुख से अग्निशिखा के समान लप लप करती जीभ निकलती है ॥२७॥

मसारगल्लर्कमुखः शङ्खमुक्तानिभोदरः ।
कस्य नामाभिरूपो⁴ऽसौ न मनो लोभयेन् मृगः ॥२८॥

इसका मुख, नीलम के प्याले जैसा है और इसका पेट शङ्ख और मोती की तरह है । भला ऐसा सुन्दर मृग किसके मन को न लभावेगा अथवा ऐसा सुन्दर मृग देख कौन लोभायमान न होगा ? ॥२८॥

कस्य रूपमिदं दृष्ट्वा जाम्बूनदमयं प्रभो ।
नानारत्नमयं दिव्यं न मनो विस्मयं व्रजेत् ॥२९॥

इसका सुवर्णनिर्मित और नाना रत्नखचित दिव्य रूप देख, मन विस्मित न होगा ॥२९॥

[किं पुनर्मैथिली सीता बाला नारी न विस्मयेत् ।]
मांसहेतोरपि मृगान् विहारार्थं च धन्विनः ॥३०॥

---

१ प्रतिलोमाः—तिर्यग्भूता । (गो०) २अनुलोमाः—अनुकूलाः (गो०) ३ चित्राः—आश्चर्यभूताः । (गो०) ४ अभिरूप.—सुन्दर । (गो०)

फिर भला इसको देख मैथिली सीता, जो एक स्त्री है, क्यों न विस्मित होगी। हे लक्ष्मण! धनुर्धारी राजा लोग, मांस और विनोद के लिए भी आखेट मे मृगों को मारते हैं ॥३०॥

घ्नन्ति लक्ष्मण राजानो मृगयायां महावने।
धनानि व्यवसायेन विचीयन्ते महावने ॥३१॥

राजाओं को शिकार के लिए बड़े बड़े वनों मे घूमने फिरने पर बहुमूल्य पदार्थ भी मिल जाते हैं ॥३१॥

धातवो विविधाश्चापि मणिरत्नसुवर्णिनः।
तत्सारमखिलं नृणां धनं निचयवर्धनम् ॥३२॥

अनेक प्रकार की धातुएँ, तरह तरह की मणियाँ, रत्न और स्वर्ण उनको मिलते हैं। इन्हीं श्रेष्ठ पदार्थो से राजा लोग अपने धनागार की वृद्धि करते हैं ॥३२॥

मनसा चिन्तितं सर्वं यथा शुक्रस्य लक्ष्मण।
अर्थी येनार्थकृत्येन संव्रजत्यविचारयन् ॥३३॥

हे लक्ष्मण! इसी लिए वन में सब लोगों की इच्छा उसी प्रकार पूरी होती है, जिस प्रकार शुक्र की इच्छा पूरी हुई थी। अर्थ के लिए उद्योग करने मे जो अर्थ अनायास मिल जाय ॥३३॥

तमर्थमर्थशास्त्रज्ञाः प्राहुरर्थ्यांश्च लक्ष्मण।
एतस्य मृगरत्नस्य[1] परार्ध्ये[2] काञ्चनत्वचि ॥३४॥

उपवेक्ष्यति वैदेही मया सह सुमध्यमा।
न कादली न प्रियकी न प्रवेणी न चाविकी ॥३५॥

---

१ मृगरत्नस्य—मृगश्रेष्ठस्य। (गो०) २ परार्ध्ये—श्लाघ्ये। (गो०)

भवेदेतस्य सदृशी स्पर्शनेनेति मे मतिः ।
एष चैव मृगः श्रीमान् यश्च दिव्यो नभश्चरः[१] ॥३६॥

हे लक्ष्मण ! उसी अर्थ को अर्थशास्त्रज्ञ अर्थ कहते हैं। अतः इस श्रेष्ठ मृग की श्लाघ्य सुनहली खाल पर सुन्दर कमर वाली जानकी मेरे साथ बैठेगी। मेरी समझ मे इस मृग की खाल के बराबर छूने मे कोमल, न तो कादली, न प्रियकी, न प्रवेणी न चाविकी जाति के हिरनों की खाल हो सकती है। यह मृग और आकाशचारी दिव्य ॥३४॥३५॥३६॥

उभावेतौ मृगौ दिव्यौ तारामृगमहीमृगौ ।
यदि वाऽयं तथा यन्मां भवेद्वदसि लक्ष्मण ॥३७॥

मृगशिरा नक्षत्र रूपी मृग—दोनों ही अत्यन्त शोभायुक्त हैं। हे लक्ष्मण ! यदि तुम्हारा कहना ही ठीक हो ॥३७॥

मायैषा राक्षसस्येति कर्तव्योऽस्य वधो मया ।
एतेन हि नृशंसेन मारीचेनाकृतात्मना[२] ॥३८॥

और यह राक्षसी माया ही हो, तो भी इसका वध करना मेरा कर्त्तव्य है। क्योंकि इस कसाई मारीच ने दुष्टतापूर्वक, ॥३८॥

वने विचरता पूर्वं हिंसिता मुनिपुङ्गवाः ।
उत्थाय[३] बहवो येन मृगयायां जनाधिपाः ॥३९॥

वन मे विचरते हुए पहिले अनेक श्रेष्ठ मुनियों का वध किया और वन मे प्रकट हो, शिकार खेलने के लिए आए हुए अनेक राजाओं को जो, ॥३९॥

---

१ नभश्चरोमृग—मृगशीर्ष। (गो०) २ अकृतात्मना—दुष्टभावेन। (गो०) ३ उत्थाय—प्रादुर्भूय। (गो०)

निहताः परमेष्वासास्तस्माद्वध्यस्त्वयं मृग ।
पुरस्तादिह वातापिः परिभूय तपस्विनः ॥४०॥

बड़े बड़े धनुर्धारी थे, इसने वध किया है। इसलिए भी यह मृगरूपधारी मारीच मारने योग्य है। पूर्वकाल मे वातापी नामक राक्षस तपस्वियों को धोखा दे कर, ॥४०॥

उदरस्थो द्विजान् हन्ति स्वगर्भोऽश्वतरीमिव[1] ।
स कदाचिच्चिराल्लोभादाससाद महामुनिम् ॥४१॥

और उनके पेट मे घुस उनको वैसे ही मार डाला करता था, जैसे गर्भस्थ खच्चरी अपनी माता को मार डालती है, सो उस राक्षस ने बहुत दिनों बाद, लोभ मे पड़, अगस्त्य जी पर हाथ साफ करना चाहा ॥४१॥

अगस्त्यं तेजसा युक्तं भक्षस्तस्य बभूव ह ।
समुत्थाने[2] च तद्रूपं[3] कर्तुकामं समीक्ष्य तम् ॥४२॥

उत्स्मयित्वा तु भगवान् वातापिमिदमब्रवीत् ।
त्वयाविगण्य[4] वातापे परिभूताः स्वतेजसा ॥४३॥

जीवलोके द्विजश्रेष्ठास्तस्मादसि जरां गतः ।
तदेतन्न भवेद्रक्षो वातापिरिव लक्ष्मण ॥४४॥

वह राक्षस अगस्त्य मुनि का भक्ष्य बन गया। फिर श्राद्ध के अन्त मे अपना पूर्व रूप धारण करने की इच्छा उस राक्षस को देख अगस्त्य जी ने हँस कर उससे यह कहा—हे वातापे ! तूने

---

१ अश्वतरो नाम गर्दभादश्वायामुत्पन्न इति । (गो०) २ समुत्थाने—श्राद्धान्ते । (गो०) ३ तद्रूप—रक्षोरूप । (गो०) ४ अविगण्य—अविचार्य । (गो०)

विना सोचे समझे इस जीवलोक में बहुत ब्राह्मणों को अपने छल से नष्ट किया है, अतः तू मेरे पेट में जीर्ण हो गया। हे लक्ष्मण! वातापी की तरह ही क्या यह राक्षस नहीं है? ॥४२॥४३॥४४॥

मद्विधं योऽतिमन्येत धर्मनित्यं जितेन्द्रियम्।
भवेद्धतोऽयं वातापिरगस्त्येनेव मां गतः ॥४५॥

जब यह मेरे जैसे जितेन्द्रिय और सदा धर्म में तत्पर रहने वाले का तिरस्कार करता है, तब यह उसी तरह मेरे हाथ से मारा जायगा, जिस प्रकार अगस्त्य द्वारा वातापी मारा गया था ॥४५॥

इह त्वं भव सन्नद्धो यन्त्रितो रक्ष मैथिलीम्।
अस्यामायत्तमस्माकं यत्कृत्यं रघुनन्दन ॥४६॥

अब तुम तो शस्त्र ले और सावधान रह कर, जानकी की रक्षा करो। क्योंकि जानकी की रक्षा करना हमारा अवश्यकरणीय कार्य है ॥४६॥

अहमेनं वधिष्यामि ग्रहीष्याम्यपि वा मृगम्।
यावद्गच्छामि सौमित्रे मृगमानयितुं द्रुतम् ॥४७॥

अब मैं या तो इस मृग को पकड़ कर ही लाता हूँ अथवा इसका वध ही करता हूँ। हे लक्ष्मण! अब मैं इस मृग को लाने के लिए शीघ्रता पूर्वक जाता हूँ ॥४७॥

पश्य लक्ष्मण वैदेहीं मृगत्वचि गतस्पृहाम्।
त्वचा प्रधानया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति ॥४८॥

देखो लक्ष्मण सीता जी की लालसा इस मृगचर्म में कितनी अधिक है। इससे यह हिरन अपनी खाल के कारण आज अवश्य मारा जायगा ॥४८॥

अप्रमत्तेन ते भाव्यमाश्रमस्थेन सीतया ।
यावत्पृषतमेकेन सायकेन निहन्म्यहम् ।
हत्वैतच्चर्म चादाय शीघ्रमेष्यामि लक्ष्मण ॥४९॥

हे लक्ष्मण ! जब तक मैं इस मृग को एक ही बाण से मार और इसका चाम ले लौट कर न आऊँ, तब तक तुम सावधानता पूर्वक इस आश्रम में सीता के पास रहो। मैं शीघ्र ही लौट कर आता हूँ ॥४९॥

[1]प्रदक्षिणेनातिबलेन पक्षिणा
जटायुषा बुद्धिमता च लक्ष्मण ।
भवाप्रमत्तः परिगृह्य मैथिलीं
प्रतिक्षणं सर्वत एव शङ्कितः ॥५०॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण ! तुम जानकी की रक्षा के लिए अत्यन्त बली और चतुर जटायु के साथ सब से सदा चौकन्ने रह कर, यहाँ सावधान बने रहना ॥५०॥

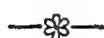
अरण्यकाण्ड का तेतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

---

१ प्रदक्षिणेन—अत्यन्तसमर्थेन । (गो०)

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः



तथा तु तं समादिश्य भ्रातरं रघुनन्दनः ।
बबन्धासिं महातेजा जाम्बूनदमयत्सरुम्[1] ॥१॥

भाई को इस प्रकार समझा कर, श्रीरामचन्द्र ने सोने की मूठ लगी हुई तलवार ली ॥१॥

ततस्त्रयवनतं चापमादायात्मविभूषणम् ।
आबध्य च कलापौ द्वौ जगामोदग्रविक्रमः ॥२॥

फिर तीन जगह से झुका हुआ धनुष, जो उनका आभूषण था, ले और दो तरकस पीठ पर बाँध, प्रचण्ड पराक्रमी श्रीरामचन्द्र रवाना हुए ॥२॥

तं वञ्चयानो राजेन्द्रमापतन्तं निरीक्ष्य वै ।
बभूवान्तर्हितस्त्रासात्पुनः सन्दर्शनेऽभवत् ॥३॥

राजेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी को आते देख, धोखेबाज मारीच कुछ के लिए छिप गया। पीछे से फिर दिखलाई दिआ ॥३॥

बद्धासिर्धनुरादाय प्रदुद्राव यतो मृग ।
तं स्म पश्यति रूपेण द्योतमानमिवाग्रतः ॥४॥

श्रीरामचन्द्र जी भी खड्ग कमर मे बाँधे और धनुष हाथ मे लिए हुए, जिधर वह देख पडा उसी ओर चले। मारीच कान्तिमान् श्रीरामचन्द्र जी को अपने सामने ही देखता था ॥४॥

---

१ त्सरु —खड्गमुष्टि. । (गो०)

अवेक्ष्यावेक्ष्य धावन्तं धनुष्पाणिं महावने ।
अतिवृत्तमिषोः पाताल्लोभयानं कदाचन ॥५॥

कभी वह मृग धनुषधारी श्रीरामचन्द्र को बार बार देख कर उस महावन मे दौड़ लगाता, कभी कुलाचें मार कर, दूर हो जाता और कभी अति निकट आ उनको लुभाता ॥५॥

शङ्कितं तु समुद्भ्रान्तमुत्पतन्तमिवाम्बरे
दृश्यमानमदृश्य च वनोद्देशेषु केषुचित् ॥६॥

कभी शङ्कित और घवडा कर वह इतनी ऊँची छलांग भरता कि, मानों वह आकाश मे चला जायगा। कभी देखते ही देखते वह अदृश्य हो जाता और कभी वह वन में दूर निकल जाता ॥६॥

छिन्नाभ्रैरिव संवीतं शारदं चन्द्रमण्डलम् ।
मुहूर्तादेव ददृशे मुहुर्दूरात्प्रकाशते ॥७॥

कभी वह (पवन से) छितराए हुए मेघों से घिरे हुए शरत्कालीन चन्द्रमा की तरह छिप जाता और मुहुर्त्त बाद ही फिर दूर पर दिखलाई पडता था ॥७॥

दर्शनादर्शनादेवं सोऽपाकर्षत राघवम् ।
सुदूरमाश्रमस्यास्य मारीचो मृगतां गतः ॥८॥

इस प्रकार बार बार छिपता और प्रगट होता हुआ, मृग रूपधारी मारीच, श्रीरामचन्द्र जी को आश्रम से दूर ले गया ॥८॥

आसीत्क्रुद्धस्तु काकुत्स्थो विवशः[१] तेन मोहितः[२] ।
अथावतस्थे *सुश्रान्तश्छायामाश्रित्य शाद्वले ॥९॥

---

१ विवश कुतूहलपरवश.। (गो०) २ मोहित —वञ्चित । (गो०)
*पाठान्तरे—"सम्भ्रान्त ।"

श्रीरामचन्द्र जी कुतूहलवश हो, मारीच से जब इस प्रकार छले गए, तब वे क्रुद्ध और थक जाने के कारण छायायुक्त तृणमय स्थान पर खड़े हो गए ॥६

स तमुन्मादयामास मृगरूपो निशाचरः ।
मृगैः परिवृतो वन्यैरदूरात्प्रत्यदृश्यत ॥१०॥

वह मृगरूपधारी निशाचर श्रीरामचन्द्र जी को भुलावा देने के लिए, अन्य मृगों मे जा मिला और समीप ही देख पड़ा ॥१०॥

ग्रहीतुकामं दृष्ट्वैनं पुनरेवाभ्यधावत ।
तत्क्षणादेव संत्रासात्पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥११॥

जब उसने देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी मुझे पकड़ा ही चाहते हैं, तब वह फिर भागा और डर कर फिर छिप गया ॥११॥

पुनरेव ततो दूराद्वृक्षषण्डाद्विनिःसृतम् ।
दृष्ट्वा रामा महातेजास्तं हन्तु कृतनिश्चयः ॥१२॥

फिर वह बहुत दूर जा कर वृक्ष समूह से निकलता हुआ दिखलाई पड़ा । महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने यह देख कर, अब उस मृग को जीवित पकड़ने का नहीं प्रत्युत मार डालने ही का निश्चय कि । ॥१२॥

भूयस्तु शरमुद्धृत्य कुपितस्तत्र राघवः ।
सूर्यरश्मिप्रतीकाशंज्वलन्तमरिमर्दनः ॥१३॥

उन्होंने रोष में भर कर, बड़े वेग से तरकस से सूर्य की तरह और शत्रु का नाश करने वाला एक बाण निकाला ॥१३॥

सन्धाय सुदृढे चापे विकृष्य बलवद्बली ।
तमेव मृगमुद्दिश्य श्वसन्तमिव पन्नगम् ॥१४॥

और उसको अपने मजबूत धनुष पर चढ़ा और रोदे को बल-पूर्वक खींच, और हिरन का निशाना बाँध, फुसकारते हुए साँप का तरह ॥१४॥

मुमोच ज्वलितं दीप्तमस्त्रं ब्रह्मविनिर्मितम् ।
शरीरं मृगरूपस्य विनिर्भिद्य शरोत्तमः ॥१५॥

छोड़ा । ब्रह्मा के बनाए हुए और चमचमाते हुए उस उत्तम बाण ने जा कर, उस मृग के शरीर को विदीर्ण कर डाला ॥१५॥

मारीचस्यैव हृदयं विभेदाशनिसन्निभः ।
तालमात्रमथोत्प्लुत्य न्यपतत्स शरातुरः ॥१६॥

उस वज्र तुल्य बाण के लगने से मारीच एक ताड़ वृक्ष के बरा-बर ऊँचा उछल कर और बाण की चोट से व्यथित हो, जमीन पर गिर पड़ा ॥१६॥

विनदन् भैरवं नादं धरण्यामल्पजीवितः ।
म्रियमाणस्तु मारीचो जहौ तां कृत्रिमां तनुम् ॥१७॥

जमीन पर गिर अल्प समय जीने वाले मारीच ने भयङ्कर नाद किया । मरते समय मारीच ने बनावटी (हिरन के) शरीर को त्याग दिया ॥१७॥

स्मृत्वा तद्वचनं रक्षो दध्यौ केन तु लक्ष्मणम् ।
इह प्रस्थापयेत्सीता शून्ये तां रावणो हरेत् ॥१८॥

उस समय वह रावण की बात याद कर, विचारने लगा कि, सीता क्यों कर लक्ष्मण को यहाँ भेजे जिससे सीता को एकान्त में पा, रावण हर कर ले जाय ॥१८॥

स प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वरम् ।
सदृशं राघवस्यैव हा सीते लक्ष्मणेति च ॥१९॥

उपयुक्त अवसर जान, मारीच ने ठीक श्रीरामचन्द्र के कण्ठस्वर का अनुकरण कर, चिल्ला कर कहा—हा सीते! हा लक्ष्मण! ॥१९॥

तेन मर्मणि निर्विद्धः शरेणानुपमेन च ।
मृगरूपं तु तत्त्यक्त्वा राक्षसं रूपमात्मनः ॥२०॥

श्रीरामचन्द्रजी के अनुपम बाण से उसका मर्मस्थल ऐसा विदीर्ण हो गया था कि, वह फिर मृग का रूप धारण न कर सका और अपने राक्षस रूप में प्रकट हो गया ॥२०॥

चक्रे स सुमहाकायो मारीचो जीवितं त्यजन् ।
ततो विचित्रकेयूरः सर्वाभरणभूषितः ॥२१॥

मरने के समय मारीच विशाल शरीरधारी हो गया और उस समय विचित्र केयूरादि सब आभूषण धारण किए हुए वह देख पड़ा ॥२१॥

हेममाली महादंष्ट्रो राक्षसोऽभूच्छराहतः ।
तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ राक्षसं घोरदर्शनम् ॥२२॥

बाण के लगने से वह सुवर्ण की माला पहिने हुए बड़े बड़े दाँतों वाला राक्षस बन गया। उस भयङ्कर राक्षस को पृथिवी पर पड़ा हुआ देख ॥२२॥

रामो रुधिरसिक्ताङ्गं वेष्टमानं महीतले ।
जगाम मनसा सीतां लक्ष्मणस्य वचः स्मरन् ॥२३॥

और लोहू से तरबतर जमीन पर लोटता हुआ देख, श्रीरामचन्द्र मन ही मन सीता की चिन्ता करने लगे। उस समय उन्हें लक्ष्मण की कही बात याद आई ॥२३॥

मारीचस्यैव मायैषा पूर्वोक्तं लक्ष्मणेन तु ।
तत्तथा ह्यभवच्चाद्य मारीचोऽयं मया हतः ॥२४॥

वे सोचने लगे कि, देखो लक्ष्मण ने पहले ही कहा था कि, यह मारीच की माया है। सो उन्हीं की बात ठीक निकली और यह मारीच मेरे द्वारा मारा गया ॥२४॥

हा सीते लक्ष्मणेत्येवमाक्रुश्य च महास्वनम् ।
ममार राक्षसः सोऽयं श्रुत्वा सीता कथं भवेत् ॥२५॥

यह राक्षस 'हा ! सीते हा लक्ष्मण !'' चिल्लाता हुआ मरा है। सो जब ये शब्द सीता ने सुने होंगे, तब उसकी क्या दशा हुई होगी ॥२५॥

लक्ष्मणश्च महाबाहुः कामवस्थां गमिष्यति ।
इति सञ्चिन्त्य धर्मात्मा रामो हृष्टतनूरुहः ॥२६॥

इससे महाबाहु लक्ष्मण की भी न मालूम क्या दशा हुई होगी यह सोचने से डर के मारे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र के शरीर के रोए खड़े हो गए ॥२६॥

तत्र रामं भयं तीव्रमाविवेश विषादजम् ।
राक्षसं मृगरूपं तं हत्वा श्रुत्वा च तत्स्वरम् ॥२७॥

इस समय मृगरूपी मारीच को मार और उसका इस प्रकार चिल्लाना सुन कर, वे बहुत डरे और दुःखी हुए ॥२७॥

निहत्य पृषतं चान्यं मांसमादाय राघवः ।
त्वरमाणो जनस्थानं [1]ससाराभिमुखस्तदा ॥२८॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

---

1 ससार—ययौ (गो०)

तदनन्तर (श्रीरामचन्द्र जी) एक और मृग को मार और उसका मांस ले शीघ्रतापूर्वक जनस्थान की ओर प्रस्थानित हुए ॥२८॥

अरण्यकाण्ड का चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हु

—❀—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—❀—

आर्तस्वरं तु तं भर्तुर्विज्ञाय सदृशं वने ।
उवाच लक्ष्मणं सीता गच्छ जानीहि राघवम् ॥१॥

जब जानकी जी ने उस वन मे पति के कण्ठस्वर के सदृश स्वर मे आर्त्तनाद सुना, तब वे लक्ष्मण से बोलीं कि, जा कर तुम श्रीरामचन्द्र को देखो तो ॥१॥

न हि मे हृदयं स्थाने[१] जीवितं[२] वाऽवतिष्ठते[*] ।
क्रोशतः परमार्तस्य श्रुतः शब्दो मया भृशम् ॥२॥

इस समय मेरा जी ठिकाने नहीं, चित्त न जाने कैसा हो रहा । क्योंकि मैंने परम पीडित और अत्यन्त चिल्लाते हुए श्रीरामचन्द्र का शब्द सुना है ॥२॥

आक्रन्दमानं तु वने भ्रातरं त्रातुमर्हसि ।
तं क्षिप्रमभिधाव त्वं भ्रातरं शरणैषिणम्[३] ॥३॥

१ स्थाने—स्वस्थाने । (गो०) २ जीवित—प्राण । (गो०) ३ शरणैषिणं—रक्षार्थिनम् । (गो०) * पाठान्तरे—"तिष्ठति ।"

अतः तुम वन में जा कर इस प्रकार आर्त्तनाद करने वाले अपने भाई की रक्षा करो और दौड़ कर शीघ्र जाओ, क्योंकि उनको इस समय रक्षक की आवश्यकता है ॥३॥

रक्षसां वशमापन्नं सिंहानामिव गोवृषम् ।
न जगाम तथोक्तस्तु भ्रातुराज्ञाय शासनम् ॥४॥

जान पड़ता है, वे राक्षसों के वश में जा पड़े हैं। इसीसे वे सिंहों के बीच में पड़े हुए बैल की तरह चिल्ला रहे हैं। सीता जी के इस कहने पर भी लक्ष्मण जी न गए क्योंकि उनको उनके भाई श्रीरामचन्द्र जाते समय आश्रम में रह कर सीता की रखवाली करने की आज्ञा दे गए थे ॥४॥

तमुवाच ततस्तत्र कुपिता जनकात्मजा ।
सौमित्रे मित्ररूपेण भ्रातुस्त्वमसि शत्रुवत् ॥५॥

तब तो सीता जी ने क्रोध कर लक्ष्मण से कहा—हे लक्ष्मण ! तुम अपने भाई के मित्ररूपी शत्रु हो ॥५॥

यस्त्वमस्यामवस्थायां भ्रातरं नाभिपत्स्यसे ।
इच्छसि त्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते ॥६॥

क्योंकि इस दशा में भी तुम भाई के समीप नहीं जाते। मैंने जान लिया तुम मेरे लिये अपने भाई का विनाश चाहते हो ॥६॥

लोभात्तु मत्कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम् ।
व्यसनं ते प्रियं मन्ये स्नेहो भ्रातरि नास्ति ते ॥७॥

निश्चय ही मुझे हथियाने के लोभ से श्रीरामचन्द्र जी के पास नहीं जाते। तुमको अपने भाई का दुःखी होना अच्छा लगता है। अपने भाई में तुम्हारी ज़रा भी प्रीति नहीं है ॥७॥

तेन तिष्ठसि विस्रब्धस्तमपश्यन् महाद्युतिम् ।
किं हि संशयमापन्ने तस्मिन्निह मया भवेत् ॥८॥
कर्तव्यमिह तिष्ठन्त्या यत्प्रधानस्त्वमागतः ।
इति ब्रुवाणां वैदेहीं बाष्पशोकपरिप्लुताम् ॥९॥

(यदि ऐसा न होता तो) तुम क्या उस महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र के बिना इसी प्रकार निश्चिन्त और स्थिर बैठे रहते। देखो जिन श्रीरामचन्द्र जी के अधीन हो कर, तुम वन मे आए हो, उन्हीं श्रीरामचन्द्र जी के प्राण जब सङ्कट में पड़े हैं, तब मैं यहाँ रह कर ही क्या करूँगी (अर्थात् यदि तुम न जाओगे तो मैं जाऊँगी)। जब जानकी जी ने आँखों मे आँसू भर कर, यह कहा ॥८॥ ॥९॥

अब्रवील्लक्ष्मणस्त्रस्तां सीतां मृगवधूमिव ।
पन्नगासुरगन्धर्वदेवमानुषराक्षसैः ॥१०॥

तब मृगी के समान डरी हुई सीता जी से लक्ष्मण जी बोले कि, पन्नग, असुर, गन्धर्व, देवता, मनुष्य, राक्षस ॥१०॥

अशक्यस्तव वैदेहि भर्ता जेतुं न संशयः ।
देवि देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु पतत्रिषु ॥११॥
राक्षसेषु पिशाचेषु किन्नरेषु मृगेषु च ।
दानवेषु च घोरेषु न स विद्येत शोभने ॥१२॥
यो रामं प्रति युध्येत समरे वासवोपमम् ।
अवध्यः समरे रामो नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥१३॥

कोई भी तुम्हारे पति (श्रीरामचन्द्र जी) को नहीं जीत सकता। इसमें कुछ भी सन्देह मत करना। हे सीते ! हे शोभने ! देवताओं,

मनुष्यों, गन्धर्वों, पक्षियों, राक्षसों, पिशाचों, किन्नरो, मृगो, भयङ्कर वानरों मे कोई भी ऐसा नहीं, जो इन्द्र के समान पराक्रमी श्रीरामचन्द्र के सामने रणक्षेत्र में खड़ा रह सके। युद्धक्षेत्र मे श्रीरामचन्द्र अवध्य हैं। अत तुमको ऐसा करना उचित नहीं ॥११॥१२॥१३॥

न त्वामस्मिन् वने हातुमुत्सहे राघवं विना ।
अनिवार्यं बल तस्य बलैर्बलवतामपि ॥१४॥

श्रीरामचन्द्र की अनुपस्थिति मे, मैं तुम्हें इस वन मे अकेली छोड कर नहीं जा सकता। बडे बडे बलवानों का भी यह शक्ति नहीं कि, वे श्रीरामचन्द्र के बल को रोक सकें ॥१४॥

त्रिभिर्लोकैः समुद्युक्तैः सेश्वरैरपि सामरैः ।
हृदयं निर्वृत तेऽस्तु सन्तापस्त्यज्यतामयम् ॥१५॥

अगर तीनों लोक और समस्त देवताओं सहित इन्द्र इकट्ठे हो जाय तो भी श्रीरामचन्द्र का सामना नहीं कर सकते। अतः तुम सन्ताप को दूर कर, आनन्दित हो ॥१५॥

आगमिष्यति ते भर्ता शीघ्रं हत्वा मृगोत्तमम् ।
न च तस्य स्वरो व्यक्त मायया केनचित्कृतः ॥१६॥

इस उत्तम मृग को मार तुम्हारे पति शीघ्र आ जाँयगे। जो शब्द तुमने सुना है, वह श्रीरामचन्द्र जी का नहीं है, यह तो किसी का बनावटी शब्द है ॥१६॥

गन्धर्वनगरप्रख्या माया सा तस्य रक्षसः ।
न्यासभूतासि वैदेहि न्यस्ता मयि महात्मना ॥१७॥
रामेण त्वं वरारोहे न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे ।
कृतवैराश्च वैदेहि वयमेतैर्निशाचरैः ॥१८॥

खरस्य निधनादेव जनस्थानवधं प्रति ।
राक्षसा विविधा वाचो विसृजन्ति[1] महावने ॥१६॥

बल्कि गन्धर्व-नगर की तरह यह उस राक्षस की माया है। हे सीते! महात्मा श्रीरामचन्द्र जी मुझको, तुम्हें धरोहर की तरह सौंप गए हैं। अतः हे वरारोहे! मैं तुम्हें अकेली छोड़कर जाना नहीं चाहता। (हे वैदेही! एक बात और है, जनस्थान निवासी खरादि राक्षसों का वध करने से राक्षसों से हमारा वैर हो गया है। सो इस महावन में राक्षस लोग हम लोगों को धोखा देने के लिए भाँति भाँति की बोलियाँ बोला करते हैं ॥१७॥१८॥१६॥

[2]हिंसाविहारा वैदेहि न चिन्तयितुमर्हसि ।
लक्ष्मणेनैवमुक्ता सा क्रुद्धा संरक्तलोचना ॥२०॥

और साधु जनों को पीड़ित करना राक्षसों का एक प्रकार का खेल है। अतः तुम किसी बात की चिन्ता मत करो। जब लक्ष्मण ने इस प्रकार कहा, तब सीता जी के नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गए॥२०॥

अब्रवीत्परुषं वाक्यं लक्ष्मणं सत्यवादिनम् ।
[3]अनार्या[4]करुणारम्भ नृशंस कुलपांसन ॥२१॥
अहं तव प्रियं मन्ये रामस्य व्यसनं महत् ।
रामस्य व्यसनं दृष्ट्वा तेनैतानि प्रभाषसे ॥२२॥

१ वाचोविसृजन्ति अस्मन्मोहनार्थमितिशेषः । (गो०) २ हिंसैव साधुजनपीडैव विहारोयेषां । (रा०) ३ अनार्य—दुःशील । (गो०) ४ अकरुणारम्भ—दयाप्रसक्तिरहित । (गो०)

और उन्होंने लक्ष्मण से, जो यथार्थ बात कह रहे थे, कठोर वचन कहते हुए कहा—हे दुःशील कठोरहृदय! हे क्रूरस्वभाव और कुलकलङ्क! मैं जान गई कि, श्री रामचन्द्र जी का विपद्ग्रस्त होना तुझको भला लगता है। तभी तो तू श्रीरामचन्द्र जी को विपद्ग्रस्त देख ऐसा कहता है ॥२१॥२२॥

नैतच्चित्रं सपत्नेषु पाप लक्ष्मण यद्भवेत् ।
त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचारिषु ॥२३॥

हे लक्ष्मण! तुझ जैसे घातक और सदैव छिपे छिपे व्यवहार करने वाले शत्रुओं का यदि ऐसी निन्द्य बात कहना हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं ॥२३॥

सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि ।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा ॥२४॥

लक्ष्मण! तेरा स्वभाव बड़ा खोटा है, इससे तू अकेला श्रीराम के साथ वन में आया है। अथवा छिप कर भरत का भेजा हुआ तू श्रीराम के साथ आया है ॥२४॥

तन्न सिध्यति सौमित्रे तव वा भरतस्य वा ।
कथमिन्दीवरश्यामं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥२५॥
उपसंश्रित्य भर्तारं कामयेयं पृथग्जनम् ।
समक्षं तव सौमित्रे प्राणांस्त्यक्ष्ये न संशयः ॥२६॥

रामं विना क्षणमपि न हि जीवामि भूतले ।
इत्युक्तः परुषं वाक्यं सीतया रोमहर्षणम् ॥२७॥

श्रीराम के विना इस भूतल पर मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती। जब जानकी जी ने, ऐसी रोमाञ्चकारी कठोर बातें कहीं ॥२७॥

अब्रवील्लक्ष्मणः सीतां प्राञ्जलिर्विजितेन्द्रियः ।
उत्तरं नोत्सहे वक्तुं दैवतं भवती मम ॥२८॥

तब जितेन्द्रिय लक्ष्मण जी ने हाथ जोड़कर सीता से कहा—आप मेरी साक्षात् देवता हैं (अर्थात पूज्य हैं) अत मैं आपकी इन बातों का उत्तर नहीं दे सकता ॥२८॥

वाक्यमप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु मैथिलि ।
स्वभावस्त्वेष नारीणामेव लोकेषु दृश्यते ॥२९॥

हे मैथिली ! आपने जो यह अनुचित बातें कही हैं, सो स्त्रियों के लिए इनका कहना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि संसार में स्त्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता है ॥२९॥

विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः
न सहे हीदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे ॥३०॥

लोक में देखा जाता है कि, स्त्रियाँ धर्म को छोड़ने वाली, चञ्चल, उग्रस्वभाव और आपस में भेदभाव डालने वाली होती हैं। किन्तु हे जानकी ! हे वैदेही ऐसे वाक्य मैं सह नहीं सकता ॥३०॥

श्रोत्रयोरुभयोर्मेऽद्य तप्तनाराचसन्निभम् ।
उपशृण्वन्तु मे सर्वे साक्षिभूता वनेचराः ॥३१॥

अत्यन्त तपाए हुए बाणों की तरह तुम्हारे ये वचन मेरे दोनों कानों को विद्ध कर रहे हैं। अच्छा सब वनवासी देवता गण मेरे साक्षी बन कर सुनें ॥३१॥

न्यायवादी यथान्यायमुक्तोऽहं परुषं त्वया ।
धिक्त्वामद्य प्रणश्य त्वं यन्मामेवं विशङ्कसे ॥३२॥

मेरे यथार्थ कहने पर भी तुमने मुझसे कठोर वचन कहे। अतः तुमको धिक्कार है। जान पड़ता है, आज तुम्हारा कुछ अनिष्ट होने वाला है, तभी तुमको मुझ पर ऐसा निर्मूल सन्देह हुआ है ॥३२॥

स्त्रीत्वं दुष्ट स्वभावेन गुरुवाक्ये व्यवस्थितम् ।
गमिष्ये यत्र काकुत्स्थः स्वस्ति तेऽस्तु वरानने ॥३३॥

हे सीते! इस समय तुमने स्त्रियोचित दुष्ट स्वभाव दिखलाया है। मैं तो श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा मान तुम्हें अकेली छोड़ कर, नहीं जाता किन्तु हे वरानने! तुम्हारा मङ्गल हो! (तुम्हारे दुराग्रहवश) लो मैं अब श्रीरामचन्द्र के पास जाता हूँ ॥३३॥

रक्षन्तु त्वा विशालाक्षि समग्रा वनदेवताः ।
निमित्तानि हि घोराणि यानि प्रादुर्भवन्ति मे ॥३४॥

हे विशालाक्षि! समस्त वनदेवता तुम्हारी रक्षा करें। इस समय बड़े बुरे बुरे शकुन मुझे दिखलाई पड़ रहे हैं ॥३४॥

अपि त्वां सह रामेण पश्येयं पुनरागतः ॥३५॥

क्या मैं श्रीरामचन्द्र सहित लौट कर फिर तुम्हें (यहाँ) देख सकूँगा? ॥३५॥

लक्ष्मणेनैवमुक्ता सा रुदन्ती जनकात्मजा ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं तीव्रं बाष्पपरिप्लुता ॥३६॥

तदासाद्य दशग्रीवः क्षिप्रमन्तरमास्थितः ।
अभिचक्राम वैदेहीं परिव्राजकरूपधृत् ॥२॥

इतने में एकान्त अवसर पा, रावण ने सन्यासी का भेष बनाया और वह तुरन्त सीता के सामने जा पहुँचा ॥२॥

[1]श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही ।
वामे चांसेऽवसज्याथ शुभे [2]यष्टिकमण्डलू ॥३॥

उस समय रावण स्वच्छ गेरुआ रङ्ग के कपडे पहिने हुए था, उसके सिर पर चोटी थी, सिर पर छत्र ताने हुए था और पैरों मे खडाऊ थी। उसके वाम कधे पर त्रिदण्ड था और हाथ मे कमण्डलु लिए हुए था ॥३॥

[टिप्पणी—रावण ने उस समय के सन्यासियों का यथार्थ रूप धारण किया था। इससे जान पड़ता है रामायणकाल के सन्यासी चोटीकट नहीं होते थे। प० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने अपने रामायण के अनुवाद में "शिखी" का अर्थ किया है "सिर पर बाल रखाए"—इसका कारण उनका चोटीकट सन्यासियों का पक्षपाती होना ही कहा जा सकता है। ऋषि अङ्गिरा ने सन्यासियों के चिह्न बतलाते हुये लिखा है—

"यतेर्लिङ्ग प्रवक्ष्यामि येनासौ लक्ष्यते यति.
ब्रह्मसूत्र त्रिदण्ड च वस्त्र जन्तुनिवारणं ॥
शिक्य पात्र वृसी चैव कौपीन कटिवेष्टनम् ।
यस्यैतद्विद्यते लिङ्ग स यतिर्नेतरो यति. ॥

इसके अतिरिक्त मिश्र जी ने मूल श्लोक में प्रयुक्त "यष्टि" का अर्थ किया है "लाठी"। यदि रामाभिरामी तथा भूषण आदि टीकाकारों का किया हुआ महाभारत से समर्थित यष्टि का अर्थ (रावणास्तु यतिर्भूत्वा मुण्डः कुण्डी त्रिदण्डधृक) त्रिदण्ड न भी करते, तो प्रसङ्गानुसार

---

१ श्लक्ष्णः—स्वच्छ (शि०) २ यष्टि —त्रिदण्ड (गो०) (रा०)

"दण्ड" तो करते, किन्तु न मालूम मिश्र जी महाराज ने यष्टि का अर्थ "लाठी" क्योंकर, कर डाला]

परिव्राजकरूपेण वैदेहीं समुपागमत् ।
तामाससादातिबलो भ्रातृभ्यां रहितां वने ॥४॥

इस प्रकार का यति भेष धारण कर अतिबली रावण श्रीराम लक्ष्मण की अनुपस्थिति में सीता को अकेली पा, उनके पास उसी प्रकार गया ॥४॥

रहितां चन्द्रसूर्याभ्यां सन्ध्यामिव महत्तमः ।
तामपश्यत्ततो बालां रामपत्नीं यशस्विनाम् ॥५॥

जिस प्रकार चन्द्र और सूर्य की अनुपस्थिति में सन्ध्या के समय अन्धकार आता है। उसने श्रीरामाश्रम में जा यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीता को वैसे ही देखा ॥५॥

रोहिणीं शशिना हीनां ग्रहवद्भृशदारुणः ।
तमुग्रतेजः कर्माणं जनस्थानरुहा द्रुमाः ॥६॥
समीक्ष्य न प्रकम्पन्ते न प्रवाति च मारुतः ।
शीघ्रस्रोताश्च तं दृष्ट्वा वीक्षन्त रक्तलोचनम् ॥७॥

जैसे चन्द्रमा की अनुपस्थिति में राहु रोहिणी को देखता है। इस अत्याचारी रावण को देख, जनस्थान के वृक्ष हिलते न थे और हवा का चलना भी बन्द हो गया था। लाल लाल नेत्र कर सीता जी की ओर उसे देखते हुए देख, ॥६॥७॥

स्तिमितं गन्तुमारेभे भयाद्गोदावरी नदी ।
रामस्य त्व[1]न्तरप्रेप्सुर्दशग्रीवस्तदन्तरे ॥८॥

१ अन्तरप्रेप्सु—छिद्रान्वेषी । (गो०)

भय के मारे, तेज बहने वाली गोदावरी की धार भी धीमी पड़ गई। श्रीराम से सीता का वियोग करने की इच्छा रखने वाला रावण, ॥८॥

उपतस्थे च वैदेहीं भिक्षुरूपेण रावणः।
अभव्यो भव्यरूपेण भर्तारमनुशोचतीम् ॥९॥

जो दुर्जन होने पर भी उस समय सन्यासी का भेष धारण कर सज्जन बना हुआ था, सीता जी के पास, जो श्रीरामचन्द्र जी की चिन्ता मे मग्न थीं, पहुँचा ॥९॥

अभ्यवर्तत वैदेहीं चित्रामिव शनैश्चरः।
स पापो भव्यरूपेण तृणैः कूप इवावृतः ॥१०॥

रावण, जानकी जी के पास उसी तरह गया, जिस प्रकार शनैश्चर चित्रा के पास जाता है। उस समय उस पापी रावण का वह भव्य रूप वैसा ही जान पड़ता था, जैसा उस कुएँ का जो तृणों से ढका हुआ हो ॥१०॥

अतिष्ठत्प्रेक्ष्य वैदेहीं रामपत्नीं यशस्विनीम्।
शुभां रुचिरदन्तोष्ठीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥११॥
आसीनां पर्णशालायां बाष्पशोकाभिपीडिताम्।
स तां पद्मपलाशाक्षीं पीतकौशेयवासिनीम् ॥१२॥
अभ्यागच्छत वैदेहीं दुष्टचेता निशाचरः।
स मन्मथशराविष्टो ब्रह्मघोषमुदीरयन् ॥१३॥

रावण यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीता को देखता हुआ खड़ा हो गया। सुन्दर रूपवाली, मनोहर दाँतों वाली, पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान मुख वाली, जो सीता पर्णकुटी मे बैठी हुई अपने पति के शोक से दुःखी हो रही थी, उस कमल सदृश नेत्र वाली, सुनहले

रंग की साडी पहिने हुए सीता के पास वह दुष्ट रावण पहुँचा और सीता को देख वह कामासक्त हो मन्त्रदर्शियों के पढ़ने योग्य वेद के मन्त्रों को पढ़ने लगा ॥११॥१२॥१३॥

अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं रहिते राक्षसाधिपः ।
तामुत्तमां स्त्रियं लोके पद्महीनामिव श्रियम् ॥१४॥
विभ्राजमानां वपुषा रावणः प्रशशंस ह ।
का त्वं काञ्चनवर्णाभे पीतकौशेयवासिनि ॥१५॥
कमलानां शुभां मालां पद्मिनीव हि बिभ्रती ।
[1]ह्रीः कीर्तिः श्रीः[2] शुभा [3]लक्ष्मीरप्सरा वा शुभानने ॥१६॥
भूतिर्वा त्वं वरारोहे रतिर्वा स्वैरचारिणी[4] ।
समाः शिखरिणः स्निग्धाः पाण्डुरा दशनास्तव ॥१७॥

तदनन्तर वह त्रैलोक्य-सुन्दरी और कमलहीन लक्ष्मी की तरह शोभायमान शरीर से युक्त सीता की प्रशंसा करने लगा। (रावण बोला—हे स्वर्ण काञ्चन के समान वर्णवाली! हे पीले रंग की साडी पहिनने वाली! हे सुन्दर कमल के फूलों की माला से सुशोभित कमलिनि! हे शुभानने! क्या तुम विष्णुपत्नी भूदेवी हो। अथवा कीर्ति हो अथवा कमला हो अथवा लक्ष्मी देवी हो अथवा कोई अप्सरा हो अथवा स्वतन्त्र विहार करने वाली कामदेव की पत्नी रति हो? तुम्हारे दाँत बराबर हैं (इनमें [illegible] छोटे बड़े नहीं) इनके अग्रभाग कुन्द के फूल की तरह मनोहर और सफेद हैं ॥१४॥१५॥१६॥१७॥

विशाले विमले नेत्रे रक्तान्ते कृष्णतारके ।
विशालं जघनं पीनमूरू करिकरोपमौ ॥१८॥

तेरे नेत्र विशाल, निर्मल और अरुणाई लिए हुए हैं और उनमे काली पुतलियाँ हैं। तेरी जंघाएं बडी और मोटी है और उनके नीचे का भाग हाथी की सूँड की तरह है ॥१८॥

एतावुपचितौ[1] वृत्तौ सहतौ[2] संप्रवल्गितौ ।
पीनोन्नतमुखौ कान्तौ स्निग्धौ तालफलोपमौ ॥१९॥

और वे उठे हुए एव गोलाकार होने के कारण आपस मे मिले हुए और कुछ कुछ कम्पायमान हो रहे हैं। तुम्हारे दोनो उरोज, मोटे और उनके अग्रभाग तने हुए हैं। वे परम मनोहर है और कोमल एव ताल फल के आकार वाले हैं ॥१९॥

मणिप्रवेकाभरणौ रुचिरौ ते पयोधरौ ।
चारुस्मिते चारुदति चारुनेत्रे विलासिनि ॥२०॥

उन उरोजो पर मणियों की माला पडी हुई उनको शोभायमान कर रही है। हे मनोहर हास्य युक्ते ! हे सुन्दर दांतों वाली ! हे सुन्दर नेत्रों वाली ! हे विलासिनि ! ॥२०॥

मनो हरसि मे कान्ते नदीकूलमिवाम्भसा ।
करान्तमितमध्यासि सुकेशी संहतस्तनी ॥२१॥

हे कान्ते ! तू मेरे मन को वैसे ही हर रही है जैसे नदी का जल नदी के तट को हरण करता है। तू पतली कमर वाली है, तू सुन्दर केशों वाली है और मिले हुए उरोजो से तू सुशोभित है ॥२१॥

---

१ उपचितौ—उन्नतौ। (गो०) २ संहतौ—अन्योन्यसश्लिष्टौ। (गो०)

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किन्नरी।
नैवंरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ॥२२॥

इस महीतल पर तो मैंने ऐसी रूपवती स्त्री पहले कभी नहीं देखी। तेरे रूप के समान न तो कोई देवता की स्त्री है, न कोई गन्धर्वी है, न कोई यक्षिणी है और न कोई किन्नरी ही है ॥२२॥

रूपमग्र्यं च लोकेषु सौकुमार्यं वयश्च ते ।
इह वासश्च कान्तारे चित्तमुन्मादयन्ति मे ॥२३॥

कहाँ तो तेरा ऐसा सुन्दर रूप और तेरी यह सुकुमारता और वय (उम्र) और कहाँ यह वन में रहना। जब मैं इन बातों पर विचार करता हूँ, तब मेरा मन उन्मत्त हो उठता है ॥२३॥

सा प्रतिक्राम भद्रं ते न त्वं वस्तुमिहार्हसि ।
राक्षसानामयं वासो घोराणां कामरूपिणाम् ॥२४॥

अतः तू आश्रम से निकल चल। तेरा यहाँ (वन में) रहना ठीक नहीं। क्योंकि इस वन में कामरूपी भयङ्कर राक्षसों का डेरा है ॥२४॥

प्रासादाग्राणि रम्याणि नगरोपवनानि च ।
सम्पन्नानि सुगन्धीनि युक्तान्याचरितुं त्वया ॥२५॥

तुम्हारे तो सुन्दर विशाल वनों में और रमणीक एवं सम्पन्न नगरों और सुगन्धित पुष्पों से युक्त वृक्षों से परिपूर्ण उपवनों में विहार करना उचित है ॥२५॥

वरं माल्यं वरं भोज्यं वरं वस्त्रं च शोभने ।
भर्तारं च वरं मन्ये त्वद्युक्तमसितेक्षणे ॥२६॥

हे शोभने ! तुझे तो उत्तम पुष्पमालाएँ धारण करनी चाहिए, सुस्वादु भोजन करने चाहिए। सुन्दर बढिया वस्त्र पहिनने चाहिए। हे अमितेक्षणे ! तेरे समान तेरे लिए सुन्दर वर भी होना चाहिए ॥२६॥

का त्वं भवसि रुद्राणां मरुतां वा वरानने ।
वसूनां वा वरारोहे देवता प्रतिभासि मे ॥२७॥

हे वरानने ! क्या तू रुद्रों की, मरुतों की अथवा वसुओं की स्त्री है ? तू तो मुझे देवता सी जान पड़ती है ॥२७॥

नेह गच्छन्ति गन्धर्वा न देवा न च किन्नराः ।
राक्षसानामयं वासः कथं नु त्वमिहागता ॥२८॥

इस वन में गन्धर्व, देवता अथवा किन्नर नहीं आया करते। क्योंकि यहाँ तो राक्षसों का डेरा है, सो तू यहाँ क्यों कर आई ? ॥२८॥

इह शाखामृगाः सिंहा द्वीपिव्याघ्रमृगास्तथा ।
ऋक्षास्तरक्षवः[१] कङ्काः कथं तेभ्यो न बिभ्यसि ॥२९॥

इस वन में बंदर, सिंह चीते, बघेरें, मृग, रीछ, बड़े बड़े बाघ और मांसभक्षी बड़े बड़े पक्षी रहते हैं, क्या उनका तुमको डर नहीं लगता ? ॥२९॥

मदान्वितानां घोराणां कुञ्जराणां तरस्विनाम्[२] ।
कथमेका महारण्ये न बिभेषि वरानने ॥३०॥

हे वरानने ! इस महावन में बड़े बड़े बलवान भयङ्कर और मतवाले हाथी घूमा करते हैं। सो अकेली होने पर भी तुझे उनसे डर क्यों नहीं लगता ? ॥३०॥

१तरक्षवो,—मृगादना महाव्याघ्रा.। (गो०) २ तरस्विना—बलवना। (गो०)

कासि कस्य कुतश्चित्त्वं किंनिमित्तं च दण्डकान्।
एका चरसि कल्याणि घोरान् राक्षससेवितान् ॥३१॥

हे कल्याणी! तू कौन है? किसकी स्त्री है? कहाँ से आई है? और इस दण्डकवन में आने का कारण क्या है? तू भयङ्कर राक्षसों से सेवित इस वन में अकेली क्यों विचरती है? ॥३१॥

इति प्रशस्ता वैदेही रावणेन दुरात्मना।
द्विजातिवेषेण[1] हितं[2] दृष्ट्वा रावणमागतम् ॥३२॥

जब इस प्रकार रावण ने सीता जी की प्रशंसा की, तब उस सन्यासवेषधारी रावण को आया हुआ देख, सीता जी ने उसका यथाविधि आतिथ्य किया ॥३२॥

सर्वैरतिथिसत्कारैः पूजयामास मैथिली।
उपनीयासनं पूर्वं पाद्येनाभिनिमन्त्र्य च।
अब्रवीत्सिद्धमित्येव तदा तं सौम्यदर्शनम् ॥३३॥

सीता ने पहले उसे बैठने को आसन दिया, फिर पैर धोने को जल दिया, फिर फल आदि भोज्य पदार्थ देते हुए कहा, यह सिद्ध किये हुए पदार्थ हैं। (अर्थात् भूँजे हुए अथवा उबाले हुए हैं) ॥३३॥

द्विजातिवेषेण समीक्ष्य मैथिली
समागतं पात्रकुसुम्भ[3]धारिणम्।
अशक्यमुद्द्वेष्टुमपायदर्शनं
न्यमन्त्रयद्ब्राह्मणवत्तदाङ्गना ॥३४॥

---

१ द्विजातिवेषेण—संन्यासिवेषे (गो०) २ हितं—सहित (गो०) ३ कुसुम्भ—महारजताख्यरञ्जनद्रव्यविशेष रक्तवस्त्र। (गो०)

सन्यासी का रूप धारण किए, गेरुआ वस्त्र पहिने कमण्डलु लिए हुए रावण को देख और उसे महात्मा जान, जानकी जी ने उसकी उपेक्षा करनी उचित न समझी। अत जानकी जी ने उसका ब्राह्मणोचित सत्कार किया ॥३४॥

इयं बृसी ब्राह्मण काममास्यताम्
इदं च पाद्यं प्रतिगृह्यतामिति ।
इदं च सिद्धं वनजातमुत्तमम्
त्वदर्थमव्यग्रमिहोपभुज्यताम् ॥३५॥

सीता जी ने कहा—हे ब्राह्मण! यह आसन है, इस पर आप विराजें। यह पैर धोने को जल है, इसे लें। ये वन में उत्पन्न हुए उबले या भूने हुए फल आपके भोजन के लिए हैं। आप इनको व्यग्रता छोड़ अर्थात् शान्त होकर, खाँय ॥३५॥

निमन्त्र्यमाणः प्रतिपूर्णभाषिणीं
नरेन्द्रपत्नीं प्रसमीक्ष्य मैथिलीम् ।
प्रसह्य तस्या हरणे धृतं मनः
समार्पयत्स्वात्मवधाय रावणः ॥३६॥

सीता जी ने जब इस प्रकार रावण का आतिथ्य किया और ... वचन कहे, तब रावण ने अपना नाश करने के लिए बल... सीता को हरना चाहा ॥३६॥

ततः सुवेषं मृगयागतं पतिं
प्रतीक्षमाणा सहलक्ष्मणं तदा ।

*विदीक्षमाणा हरितं ददर्श तत्
महद्वनं नैव तु रामलक्ष्मणौ ॥३७॥
इति षट्चत्वारिंश सर्गः ॥

सीता जी परम सुन्दर और शिकार के लिए गए हुए श्रीरामचन्द्र जी की तथा लक्ष्मण की भी प्रतीक्षा करती हुई वन की ओर देखने लगीं। उस समय उनको चारों ओर हरा हरा वन ही देख पड़ा, किन्तु श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण आते न देख पड़े ॥३७॥

अरण्यकाण्ड का छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—ॐ—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—ॐ—

रावणेन तु वैदेही तदा पृष्टा जिहीर्षता[१]।
परिव्राजकलिङ्गेन शशंसात्मानमङ्गना ॥१॥

जब संन्यासी वेषधारी रावण ने हरण करने की अभिलाषा से इस प्रकार पूँछा तब सीता जी ने अपने मन में विचारा ॥१॥

ब्राह्मणश्चातिथिश्चायमनुक्तो हि शपेत माम्।
इति ध्यात्वा मुहूर्तं तु सीता वचनमब्रवीत् ॥२॥

कि यह ब्राह्मण अतिथि को यदि मैं अपना नाम व गोत्र न बतलाऊँगी तो यह मुझे शाप दे देगा। इस बात पर कुछ देर विचार कर सीता जी बोलीं ॥२॥

दुहिता जनकस्याहं मैथिलस्य महात्मनः।
सीता नाम्नास्मि भद्रं ते रामभार्या द्विजोत्तम ॥३॥

---

१ जिहीर्षता—हर्तुमिच्छता। (गो०)

* पाठान्तरे—"निरीक्षमाणा" वा "समीक्षमाणा"।

मैं मिथिला देशाधिपति राजा जनक की लड़की हूँ। मेरा नाम सीता है और मैं श्रीरामचन्द्र की प्रिय भार्या हूँ ॥३॥

उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने ।
भुञ्जाना मानुषान्भोगान्सर्वकामसमृद्धिनी ॥४॥

विवाह के अनन्तर मैं ने बारह वर्षों तक इक्ष्वाकुवंशियों की राजधानी अयोध्या में रह कर, मनुष्यदुर्लभ भोग भोगे और अपने सब मनोरथों को पूर्ण किया ॥४॥

ततस्त्रयोदशे वर्षे राजामन्त्रयत प्रभुः ।
अभिषेचयितुं रामं समेतो राजमन्त्रिभिः[1] ॥५॥

तदनन्तर तेरहवें वर्ष महाराज दशरथ ने श्रेष्ठ मंत्रियों से परामर्श कर, श्रीरामचन्द्र को युवराज पद पर अभिषिक्त करने का विचार किया ॥५॥

तस्मिन्संभ्रियमाणे तु राघवस्याभिषेचने ।
कैकेयी नाम भर्तारमार्या[2] सा याचते वरम् ॥६॥

जब श्रीरामाभिषेक की सब तैयारियाँ होने लगीं, तब कैकेयी ने, जो मेरी सास लगती है, महाराज से वर माँगा ॥६॥

प्रतिगृह्य तु कैकेयी श्वशुरं सुकृतेन मे ।
मम प्रव्राजनं भर्तुर्भरतस्याभिषेचनम् ॥७॥

कैकेयी ने, मेरे ससुर को धर्म सङ्कट में डाल, मेरे पति के लिए वनवास और भरत के लिए अभिषेक चाहा ॥७॥

द्वावयाचत भर्तारं सत्यसन्धं नृपोत्तमम् ।
नाद्य भोक्ष्ये न च स्वप्स्ये न च पास्ये कथञ्चन ॥८॥

---

१ राजमन्त्रिभिः—मंत्रिश्रेष्ठैः (गो०) २ आर्या—पूज्या ममश्वश्रूरित्यर्थः। (गो०)

(उन्होंने) सत्यप्रतिज्ञ व पतिश्रेष्ठ महाराज दशरथ से ये दो वर माँगे। साथ ही यह भी कहा कि, आज मैं किसी प्रकार भी न खाऊँगी न पीऊँगी और न सोऊँगी ॥८॥

एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते।
इति ब्रुवाणा कैकेयी श्वशुरो मे स मानदः ॥९॥

यदि श्रीराम का राज्याभिषेक हुआ, तो मैं अपने प्राण दे दूँगी। जब कैकेयी ने इस प्रकार कहा, तब बहुत सम्मान करने वाले मेरे ससुर महाराज दशरथ जी ने ॥९॥

अयाचतार्थैरन्वर्थैर्न च याच्ञां चकार सा।
मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः ॥१०॥

कैकेयी से विविध प्रकार के अन्य पदार्थ माँगने के लिए कहा गया—परन्तु उसने और कुछ न चाहा। उस समय मेरे पति महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र की उम्र २५ वर्ष की थी ॥१०॥

अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते।
रामेति प्रथितो लोके गुणवान्[1] सत्यवाञ्शुचिः ॥११॥
विशालाक्षो महाबाहुः सर्वभूतहिते रतः।
कामार्तस्तु महातेजाः पिता दशरथः स्वयम् ॥१२॥
कैकेय्याः प्रियकामार्थं तं रामं नाभ्यषेचयत्।
अभिषेकाय तु पितुः समीपं राममागतम् ॥१३॥

और मेरी उम्र जन्मकाल से गणना करके १८ वर्ष की थी। श्रीरामचन्द्र जी लोक में प्रसिद्ध हैं और जो सुशील, सत्यवादी, पवित्र बड़े नेत्रों और लम्बी बाहुओं वाले हैं तथा सब प्राणियों के

[1] गुणवान्—शीलवान। (गो०)

हितकारी है—उनका महातेजस्वी महाराज दशरथ ने कामासक्त हो, कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए स्वयं राज्याभिषेक न किया और जब अभिषेक के लिए श्रीरामचन्द्र पिता के समीप गए ॥११॥ १२॥१३॥

कैकेयी मम भर्तारमित्युवाच धृत वचः ।
तव पित्रा समाज्ञप्तं ममेदं शृणु राघव ॥१४॥

तब कैकेयी ने धीरज धारण कर, कहा—हे रामचन्द्र! तुम्हारे पिता ने तुम्हारे लिए जो आज्ञा दी है, वह मुझसे सुनो ॥१४॥

भरताय प्रदातव्यमिदं राज्यमकण्टकम् ।
त्वया हि खलु वस्तव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥१५॥

यह निष्कण्टक राज्य भरत को दिया जाय और तुम्हें १४ वर्षों तक अवश्य वन में रहना चाहिए ॥१५॥

वने प्रव्रज काकुत्स्थ पितरं मोचयानृतात् ।
तथेत्युक्त्वा च तां रामः कैकेयीमकुतोभयः ॥१६॥

अतः तुम्हें चाहिए कि तुम अपने पिता को झूठा न होने दो। दृढव्रतधारी मेरे पति श्रीरामचन्द्र जी ने निडर हो कैकेयी से कि, अच्छा ऐसा ही होगा ॥१६॥

चकार तद्वचस्तस्या मम भर्ता दृढव्रतः ।
दद्यान्न प्रतिगृह्णीयात्सत्यं ब्रूयान्न चानृतम् ॥१७॥

और तदनुसार ही कार्य भी किया। मेरे पति बड़े दृढव्रत हैं। वे दान तो देते हैं, पर दान लेते नहीं, वे सच बोलते हैं, किन्तु झूठ नहीं बोलते ॥१७॥

एतद्ब्राह्मण रामस्य ध्रुवं व्रतमनुत्तमम् ।
तस्य भ्राता तु द्वैमात्रो लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥१८॥

हे ब्राह्मण ! रामचन्द्र जी के निश्चय ही ये उत्तमोत्तम व्रत हैं। उनके सौतेले भाई लक्ष्मण बड़े वीर हैं ॥१८॥

रामस्य पुरुषव्याघ्रः सहायः समरेऽरिहा ।
स भ्राता लक्ष्मणो नाम धर्मचारी दृढव्रतः ॥१९॥

वे मेरे पति के सहायक और समर में शत्रु का नाश करने वाले हैं। वे दृढव्रत और ब्रह्मचारी लक्ष्मण ॥१९॥

अन्वगच्छद्धनुष्पाणिः प्रव्रजन्तं मया सह ।
जटी तापसरूपेण मया सह सहानुजः ॥२०॥

जटा रखाए हुए हाथ में धनुष लिए तपस्वी के रूप में मेरे अनुगामी हुए हैं ॥२०॥

प्रविष्टा दण्डकारण्यं धर्मनित्या जितेन्द्रियः ।
ते वयं प्रच्युता राज्यात्कैकेय्यास्तु कृते त्रयः ॥२१॥

इस प्रकार धर्म में नित्य तत्पर और जितेन्द्रिय, श्रीरामचन्द्र जी आदि हम तीनों जन कैकेयी द्वारा राज्य से च्युत हो, इस दण्डकवन में आए हैं ॥२१॥

विश्राम द्विजश्रेष्ठ वने गम्भीरमोजसा ।
समाश्वस मुहूर्तं तु शक्यं वस्तुमिह त्वया ॥२२॥
आगमिष्यति मे भर्ता वन्यमादाय पुष्कलम् ।
[रुरून् गोधान् वराहांश्च हत्वाऽऽदायामिषान् बहून् ॥२३॥]

और अपने बलबूते पर इस भङ्कयर वन मे विचरते हैं। द्विजश्रेष्ठ, तुम मूहूत भर यहा ठहरो। मेरे पति अनेक वन्य पदार्थो को ले कर आते होंगे। रुरु, गोह और बनैले शूकर को मार, वे बहुत सा माँस लावेंगे ॥२२॥२३॥

स त्व नाम च गोत्रं च कुल चाचक्ष्व तत्त्वतः ।
एकश्च दण्डकारण्ये किमर्थं चरसि द्विज ॥२४॥

अब आप अपना नाम, गोत्र और कुल ठीक ठीक बतलाइए और यह भी बतलाइए कि, आप अकेले इस दण्डकवन में क्यो फिरते है ॥२४॥

एव ब्रुवन्त्यां सीतायां रामपत्न्यां महाबलः ।
प्रत्युवाचोत्तरं तीव्रं रावणो राक्षसाधिपः ॥२५॥

जब सीता जी ने इस प्रकार पूँछा, तब (उत्तर मे) महाबली राक्षसनाथ रावण ने ये कठोर वचन कहे ॥२५॥

येन वित्रासिता लोकाः सदेवासुरपन्नगाः ।
अहं स रावणो नाम सीते रक्षोगणेश्वरः ॥२६॥

हे सीते! जिसके डर से देवताओ, असुरों और मनुष्यों हित तीनो लोक थरथराते है, मै वही राक्षसों का राजा रावण ॥२६॥

त्वां तु काञ्चनवर्णाभां दृष्ट्वा कौशेयवासिनीम् ।
रतिं स्वकेषु दारेषु नाधिगच्छाम्यनिन्दिते ॥२७॥

हे अनिन्दिते! तेरे सुवर्ण तुल्य शरीर के रग और कौशेय वस्त्र देख कर, मुझे अपनी पत्नियों के प्रति प्रीति नहीं रही ॥२७॥

बह्वीनामुत्तमस्त्रीणामाहृतानामितस्ततः ।
सर्वासामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भव ॥२८॥

मैं बहुत सी उत्तम उत्तम स्त्रियों को अनेक स्थानों से हर कर लाया हूँ। सो तू उन सब में मेरी पटरानी बन ॥२८॥

लङ्का नाम समुद्रस्य मध्ये मम महापुरी ।
सागरेण परिक्षिप्ता निविष्टा नागमूर्धनि ॥२९॥

समुद्र के बीच लङ्का नाम की मेरी महापुरी है। वह चारों ओर से समुद्र से घिरी हुई है और एक पर्वतशृङ्ग पर है ॥२९॥

तत्र सीते मया सार्धं वनेषु विचरिष्यसि ।
न चास्यारण्यवासस्य स्पृहयिष्यसि भामिनि ॥३०॥

हे सीते! वहाँ तू मेरे साथ उन वनों में विहार करेगी तब तुझे इस वन में रहने की इच्छा ही न रह जायगी ॥३०॥

पञ्च दास्यः सहस्राणि सर्वाभरणभूषिताः ।
सीते परिचरिष्यन्ति भार्या भवसि मे यदि ॥३१॥

हे सीते! यदि तू मेरी भार्या बनना अङ्गीकार कर लेगी तो पाँच हजार दासियाँ जो सब प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित हैं, तेरी परिचर्या करेंगी ॥३१॥

रावणेनैवमुक्ता तु कुपिता जनकात्मजा ।
प्रत्युवाचानवद्याङ्गी तमनादृत्य राक्षसम् ॥३२॥

रावण के ऐसे वचन सुन अनिन्दिता सीता कुपित हुई और उस राक्षस का तिरस्कार कर बोलीं ॥३२॥

महागिरिमिवाकम्प्यं महेन्द्रसदृशं पतिम् ।
महोदधिमिवाक्षोभ्यमहं राममनुव्रता ॥३३॥

महेन्द्राचल पर्वत की तरह अचल इन्द्र जैसे और समुद्र की तरह क्षोभरहित श्रीरामचन्द्र की मैं अनुगामिनी हूँ ॥३३॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं न्यग्रोधपरिमण्डलम् ।
सत्यसन्धं महाभागमहं राममनुव्रता ॥३४॥

जो सब शुभलक्षणों से युक्त और वटवृक्ष की तरह सब को सदैव सुखदायी हैं, उन सत्यप्रतिज्ञ और महाभाग श्रीरामचन्द्र की मैं अनुगामिनी हूँ ॥३४॥

[वटवृक्ष—"कूपोदकं वटच्छाया युवतीनां स्तनद्वयम् ।
शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम् ॥"]

महाबाहुं महोरस्कं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
नृसिंहं सिंहसङ्काशमहं राममनुव्रता ॥३५॥

महाबाहु, चौड़ी छाती वाले, सिंह जैसी चाल चलने वाले, पुरुषसिंह और सिंह के समान पराक्रमी श्रीरामचन्द्र की मैं अनुगामिनी हूँ ॥३५॥

पूर्णचन्द्राननं रामं राजवत्सं[1] जितेन्द्रियम् ।
पृथुकीर्त्तिं महात्मानमहं राममनुव्रता ॥३६॥

मैं उन राजकुमार एवं जितेन्द्रिय श्रीराम की अनुगामिनी हूँ, जिनका मुख पूर्णमासी के चन्द्रमा के तुल्य है, जिनकी कीर्ति दिग्दिगन्त व्यापिनी है और जो महात्मा हैं ॥३६॥

त्वं पुनर्जम्बुकः सिंहीं मामिच्छसि सुदुर्लभाम् ।
नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुमादित्यस्य प्रभा यथा ॥३७॥

सो तू शृगाल के समान हो कर, सिंहनी के तुल्य मुझे चाहता है। किन्तु तू मुझे उसी प्रकार नहीं छू सकता, जिस प्रकार सूर्य की प्रभा को कोई नहीं छू सकता ॥३७॥

---

१ राजवत्स—राजकुमार (गो०)

पादपान् काञ्चनान् नूनं* बहून् पश्यसि मन्दभाक् ।
राघवस्य प्रियां भार्यां यस्त्वमिच्छसि रावण ॥३८॥

अरे अभागे राक्षस! जब तू श्रीरामचन्द्र जी की प्रिय भार्या को चाहता है, तब निश्चय ही तू बहुत से सुवर्णमय वृक्ष (स्वप्न में) देखता होगा ॥३८॥

[टिप्पणी—जो शीघ्र मरने वाले होते हैं, उनको स्वप्न में सोने के वृक्ष दिखलाई पड़ते हैं।]

क्षुधितस्य हि सिंहस्य मृगशत्रोस्तरस्विनः ।
आशीविषस्य वदनाद्दंष्ट्रामादातुमिच्छसि ॥३९॥

मृग के बलवान शत्रु भूखे सिंह के अथवा विषधर सर्प के मुख से तू दाँत उखाड़ना चाहता है ॥३९॥

मन्दरं पर्वतश्रेष्ठं पाणिना हर्तुमिच्छसि ।
कालकूटं विषं पीत्वा स्वस्तिमान् गन्तुमिच्छसि ॥४०॥

तू पर्वतश्रेष्ठ मन्दराचल को हाथ से हरण करना चाहता है और हलाहल विषपान कर के भी तू सुखपूर्वक चला जाना चाहता है ॥४०॥

अक्षि सूच्या प्रमृजसि जिह्वया लेक्षि च क्षुरम् ।
राघवस्य प्रियां भार्यां योऽधिगन्तुं[1] त्वमिच्छसि ॥४१॥

श्रीरामचन्द्र जी की भार्या को पाने की इच्छा कर, मानों तू आँख की सफाई सुई से करता है और जिह्वा से छुरे को चाटता है ॥४१॥

अवसज्य शिलां कण्ठे समुद्रं तर्तुमिच्छसि ।
सूर्याचन्द्रमसौ चोभौ पाणिभ्यां हर्तुमिच्छसि ॥४२॥

---

१ अधिगन्तुं—प्राप्तुं । (गो०) * पाठान्तरे—"बहू" ।

अथवा गले में पत्थर बाँध समुद्र को पार करता है और हाथों से सूर्य और चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है ॥४२॥

यो रामस्य प्रियां भार्यां प्रधर्षयितुमिच्छसि ।
अग्निं प्रज्वलितं दृष्ट्वा वस्त्रेणाहर्तुमिच्छसि ॥४३॥

तू जो श्रीरामचन्द्र की भार्या को प्राप्त करना चाहता है, सो मानो तू प्रज्वलित अग्नि को वस्त्र में लपेट कर ले जाना चाहता है ॥४३॥

कल्याणवृत्तां[1] रामस्य यो भार्यां हर्तुमिच्छसि ।
अयोमुखानां शूलानामग्रे चरितुमिच्छसि ।
रामस्य सदृशीं भार्यां योऽधिगन्तुं त्वमिच्छसि ॥४४॥

जो शुभाचरण वाले श्रीराम की भार्या के पाने की अभिलाषा रखता है, सो मानो लोहे के नुकीले काँटों पर चलना चाहता है। तू श्रीराम की प्रेमी पत्नी को प्राप्त करना चाहता है ॥४४॥

यदन्तरं सिंहशृगालयोर्वने[2]
यदन्तरं स्यन्दनिका[3]समुद्रयोः ।
सुराग्र्य[4]सौवीर[5]कयोर्यदन्तरं
तदन्तरं वै तव राघवस्य च ॥४५॥

जो भेद सिंह और स्यार में है, जो अन्तर एक क्षुद्र नदी और समुद्र में है, जो अन्तर श्रेष्ठ मद्य और काञ्जी में है वही अन्तर श्रीरामचन्द्र में और तुझमें है ॥४५॥

---

१ कल्याणवृत्ता—शुभाचारा । (गो०) २ वने—जले । (गो०) ३ स्यन्दिनिका—क्षुद्रनदी । (गो०) ४ सुराग्र्य—श्रेष्ठ मद्य । (गो०) ५ सौवीरक—काञ्जिक । (गो०)

यदन्तरं काञ्चनसीसलोहयो-
र्यदन्तरं चन्दनवारिपङ्कयोः ।
यदन्तरं हस्तिबिडालयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥४६॥

जो अन्तर सोने और सीसे लोहे मे है, जो अन्तर चन्दन और पानी की कीचड में है, जो अन्तर वन मे (बसने वाले) हाथी और बिल्ली मे है वही अन्तर दशरथनन्दन और तुझमे है ॥४६॥

यदन्तरं वायसवैनतेययो-
र्यदन्तरं [1]मद्गुमयूरयोरपि ।
यदन्तरं सारसगृध्रयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥४७॥

जो अन्तर गरुड और कौए मे है जो अन्तर जलकाक और मोर में है और जो अन्तर वन में (बसने वाले) सारस और गृद्ध में है, वही अन्तर दाशरथि श्रीराम और तुझमें है ॥४७॥

तस्मिन् सहस्राक्षसमप्रभावे
रामे स्थिते कार्मुकबाणपाणौ ।
हृतापि तेऽहं न जरां गमिष्ये
वज्रं यथा मक्षिकयाऽवगीर्णम् ॥४८॥

इन्द्र के समान प्रभाव वाले और हाथ में धनुष बाण लिए हुए श्रीरामचन्द्र के रहते यदि तू मुझे हर भी ले जायगा, तो मुझे

१ मद्गु—जलवायस । (गो०)

उसी तरह न पचा सकेगा, जैसे मक्खी (चावल के धोखे में) हीरा खा कर, उसे नहीं पचा सकती ॥४८॥

इतीव तद्वाक्यमदुष्टभावा
सुधृष्टमुक्त्वा रजनीचरं तम् ।
गात्रप्रकम्पव्यथिता बभूव
वातोद्धता सा कदलीव तन्वी ॥४९॥

जिस प्रकार पवन के वेग से केले का वृक्ष काँपने लगता है, उसी प्रकार साधु स्वभाव वाली सीता, अत्यन्त धृष्टतापूर्ण वचन उस राक्षस से कह कर, थर थर काँपने लगी ॥४९॥

तां वेपमानामुपलक्ष्य सीतां
स रावणो मृत्युसमप्रभावः ।
कुलं बलं नाम च कर्म च स्वं
समाचचक्षे भयकारणार्थम् ॥५०॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

काल समान रावण, सीता को डर से थर थर काँपते देख उसे और भी अधिक भयभीत करने के लिए, अपने कुल, बल, नाम और कामों का बखान करने लगा ॥५०॥

अरण्यकाण्ड का सैंतालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—❀—

एवं ब्रुवन्त्यां सीतायां संरब्धः[1] परुषं वचः ।
ललाटे भ्रुकुटीं कृत्वा रावणः प्रत्युवाच ह ॥१॥

जब सीता जी ने इस प्रकार के कठोर वचन कहे, तब रावण ने महाक्रुद्ध हो और भौंहें टेढ़ी कर, कठोर वचन कहना आरम्भ किया ॥१॥

भ्राता वैश्रवणस्याहं सापत्न्यो वरवर्णिनि ।
रावणो नाम भद्रं ते दशग्रीवः प्रतापवान् ॥२॥

हे सुन्दरी ! तेरा भला हो, मैं कुबेर का सौतेला भाई हूँ। मेरा नाम रावण है। मैं दसमाथ वाला और बड़ा प्रतापी हूँ ॥२॥

यस्य देवाः सगन्धर्वाः पिशाचपतगोरगाः ।
विद्रवन्ति भयाद्भीता मृत्योरिव सदा प्रजाः ॥३॥

मेरे डर के मारे देवता, गन्धर्व पिशाच, पन्नग और सर्प उसी प्रकार भाग खड़े होते हैं, जैसे मनुष्य लोग मृत्यु के डर से भागते हैं ॥३॥

येन वैश्रवणो राजा द्वैमात्रः[2] कारणान्तरे ।
द्वन्द्वमासादितः[3] क्रोधाद्रणे विक्रम्य निर्जितः ॥४॥

मैंने अपने सौतेले भाई कुबेर को कारणविशेषवश युद्ध में क्रुद्ध हो अपने बल विक्रम से जीता है ॥४॥

---

१ संरब्ध —कुपित । (गो०) २ द्वैमात्र —सपत्नीमातृपुत्र । (गो०)
३ द्वन्द्व—युद्ध । (गो०)

यद्भयार्तः परित्यज्य स्वमधिष्ठानमृद्धिमत् ।
कैलासं पर्वतश्रेष्ठमध्यास्ते नरवाहनः ॥५॥

वह कुवेर मेरे भय से भीत हो, भरी पूरी अपनी लङ्कापुरी को त्याग, पर्वतश्रेष्ठ कैलास पर जा बसा है ॥५॥

यस्तु तत्पुष्पकं नाम विमानं कामगं शुभम् ।
वीर्यादेवार्जितं भद्रे येन यामि विहायसम्[१] ॥६॥

उसके सुन्दर और इच्छाचारी पुष्पक विमान को मैंने बरजोरी उससे छीन लिया है। मैं उसी विमान मे बैठ, आकाश मे घूमा करता हूँ ॥६॥

मम सञ्जातरोषस्य मुखं दृष्ट्वैव मैथिलि ।
विद्रवन्ति परित्रस्ताः सुराः शक्रपुरोगमाः ॥७॥

हे मैथिली ! इन्द्रादि देवता मेरा कुपित मुख देख, भयभीत हो भाग जाते हैं ॥७॥

यत्र तिष्ठाम्यहं तत्र मारुतो वाति शङ्कितः ।
तीव्रांशुः शिशिरांशुश्च भयात्सम्पद्यते रविः ॥८॥

जहाँ मैं खड़ा होता हूँ, वहाँ पवन शङ्कायुक्त हो बहता है। मेरे डर के मारे सूर्य की प्रखर किरणें चन्द्रमा की तरह शीतल पड़ जाती हैं ॥८॥

निष्कम्पपत्रास्तरवो नद्यश्च स्तिमितोदकाः ।
भवन्ति यत्र यत्राहं तिष्ठामि विचरामि च ॥९॥

---

१ विहायसम्—आकाश । (गो०)

जहाँ पर मैं उठता बैठता हूँ या घूमता फिरता हूँ, वहाँ वृक्षों के पत्तों का हिलना बंद हो जाता है और नदियों की धार रुक जाती है ॥९॥

सम पारे समुद्रस्य लङ्का नाम पुरी शुभा ।
सम्पूर्णा राक्षसैर्घोरैर्यथेन्द्रस्यामरावती ॥१०॥

समुद्र के पार लङ्का नामक मेरी परम सुन्दर नगरी है। वह भयङ्कर राक्षसों से वैसे ही परिपूर्ण है, जैसे (देवताओं से) इन्द्रपुरी अमरावती ॥१०॥

प्राकारेण परिक्षिप्ता पाण्डुरेण विराजता ।
हेमकक्ष्या पुरी रम्या वैडूर्यमयतोरणा ॥११॥

वह सफेद परकोटे से घिरी हुई है। उसके चौक सोने के हैं और उनके बाहिरी सब फाटक वैडूर्य मणि के बने हुए हैं। वह नगरी सुरम्य है ॥११॥

हस्त्यश्वरथसंबाधा तूर्यनादविनादिता ।
सर्वकालफलैर्वृक्षैः सङ्कुलोद्यानशोभिता ॥१२॥

हाथियों और घोड़ों तथा रथों से वह भरी हुई है और उसमें बाजे सदा बजा ही करते हैं, सब ऋतुओं में फलने वाले वृक्षों से युक्त उद्यानों से वह सुशोभित है ॥१२॥

तत्र त्वं वसती सीते राजपुत्रि मया सह ।
न स्मरिष्यसि नारीणां मानुषीणां मनस्विनि ॥१३॥

हे राजकुमारी सीते! वहाँ चल कर तू मेरे साथ रहना। वहाँ रहने पर तुझे कभी मानवी नारियों का स्मरण भी न होगा ॥१३॥

भुञ्जाना मानुषान् भोगान् दिव्यांश्च वरवर्णिनि ।
न स्मरिष्यसि रामस्य मानुषस्य गतायुषः ॥१४॥

हे वरवर्णिनी! जब तू वहाँ मनुष्योचित भोग्य एवं दिव्य पदार्थों को उपभोग करेगी तब तू गतायु और मनुष्य-शरीर-धारी राम को कभी याद भी न करेगी ॥१४॥

स्थापयित्वा प्रियं पुत्रं [4]राज्ये दशरथेन यः ।
मन्दवीर्यः सुतो ज्येष्ठस्ततः प्रस्थापितो ह्ययम् ॥१५॥

देखो दशरथ ने अपने प्यारे पुत्र भरत को राज्य पर बिठाया और निकम्मे ज्येष्ठ पुत्र राम को वन में निकाल दिया ॥१५॥

तेन किं भ्रष्टराज्येन रामेण गतचेतसा[1] ।
करिष्यसि विशालाक्षि तापसेन[2] तपस्विना[3] ॥१६॥

हे विशालाक्षी! तुम उस राज्यभ्रष्ट एवं कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञान-शून्य, डरपोक और शोच्य राम के पास रह कर करोगी क्या? ॥१६॥

सर्वराक्षसभर्तारं कामा[4]त्स्वयमिहागतम् ।
न मन्मथशराविष्टं प्रत्याख्यातुं त्वमर्हसि ॥१७॥

मैं राक्षसों का राजा हो कर भी अपनी इच्छा से अपने आप [यहाँ] आया हूँ। मैं कामदेव के बाणों से घायल हो रहा हूँ। मेरा [तिरस्]कार करना तुझको उचित नहीं है ॥१७॥

प्रत्याख्याय हि मां भीरु परितापं गमिष्यसि ।
चरणेनाभिहत्येव पुरूरवसमुर्वशी ॥१८॥

---

१ गतचेतसा—कर्त्तव्याकर्त्तव्यमूढमनसा। (गो०) २ तापसेन—"भया कुषेर्भगवता भवन्त" इति न्यायेन पराङ्मुखेण। (गो०) ३ तपस्विना—शोच्येन। (गो०) ४ कामात्—स्वेच्छया। (शि०) ५ पाठान्तरे—"राजा"।

हे भीरु! यदि तू मेरा तिरस्कार करेगी, तो पीछे तुझको वैसे ही पछताना पड़ेगा, जैसे उर्वशी अप्सरा राजा पुरूरवा के लात मार कर, पछताई थी ॥१८॥

अङ्गुल्या न समो रामो मम युद्धे स मानुषः ।
तव भाग्येन सम्प्राप्त भजस्व वरवर्णिनि ॥१९॥

राम मनुष्य है, वह युद्ध मे मेरी एक अगुली के बल के समान भी (बलवान्) नहीं है। (अर्थात् उसमे इतना भी बल नहीं, जितना मेरी एक अगुली मे है) अतः वह युद्ध मे मेरा सामना कैसे कर सकता है। हे वरवर्णिनी! इसे तू अपना सौभाग्य समझ कि, मैं यहाँ आया हूँ। अत तू मुझे अङ्गीकार कर ॥१९॥

एवमुक्ता तु वैदेही क्रुद्धा संरक्तलोचना ।
अब्रवीत्परुषं वाक्यं [१]रहिते राक्षसाधिपम् ॥२०॥

रावण के ऐसे वचन सुन, सीता कुपित हो और लाल लाल नेत्र कर, उस निर्जन वन मे रावण से कठोर वचन बोली ॥२०॥

कथ वैश्रवणं देवं सर्वभूतनमस्कृतम् ।
भ्रातर व्यपदिश्य त्वमशुभ कर्तुमिच्छसि ॥२१॥

हे रावण! तू सर्वदेवताओं के पूज्य कुबेर को अपना भाई बतला कर भी ऐसा बुरा काम करने को (क्यों) उतारु हुआ है? ॥२१॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः ।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥२२॥

हे रावण! याद रख। निश्चय ही वे समस्त राक्षस मारे जायँगे, जिसका तुझ जैसा क्रूर, दुष्टबुद्धि और अजितेन्द्रिय राजा है ॥२२॥

---

१ रहिते—निर्जने वने। (गो०)

अपहृत्य शचीं भार्यां शक्यमिन्द्रस्य जीवितुम् ।
न च रामस्य भार्यां मामपनीयास्ति जीवितम् ॥२३॥

इन्द्र की पत्नी शाची को हर कर, कोई चाहे भले ही जीता बना रहे, किन्तु मुझ रामपत्नी को हर कर, कोई जीता नहीं रह सकता ॥२३॥

जीवेच्चिरं वज्रधरस्य हस्ता-
च्छचीं प्रधृष्याप्रतिरूपरूपाम् ।
न मादृशीं राक्षस दूषयित्वा
पीतामृतस्यापि तवास्ति मोक्षः ॥२४॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे राक्षस! अत्यन्त रूपवती शची को हरने वाला, वज्रधारी इन्द्र के हाथ से एक बार जीता बच भी सकता है, किन्तु मुझ जैसी को दूषित कर, अमृतपान किआ हुआ पुरुष भी, मृत्यु के हाथ से नहीं बच सकता ॥२४॥

अरण्यकाण्ड का अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—⁂—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

—⁂—

सीताया वचनं श्रुत्वा दशग्रीवः प्रतापवान् ।
हस्ते हस्तं समाहत्य चकार सुमहद्वपुः ॥१॥

प्रतापी रावण ने सीता के ये वचन सुन, हाथ पर हाथ मार, अपना विशाल शरीर प्रकट किआ ॥१॥

स मैथिलीं पुनर्वाक्य बभाषे च ततो भृशम् ।
नोन्मत्तया श्रुतौ मन्ये मम वीर्यपराक्रमौ ॥२॥

फिर उसने सीता से कहा—मैं जानता हूँ कि, तू पगली है, क्योंकि तूने मेरे बल एवं पराक्रम पर ध्यान नहीं दिया ॥२॥

उद्वहेय भुजाभ्या तु मेदिनीमम्बरे स्थितः ।
आपिबेयं समुद्र च हन्यां मृत्यु रणे स्थितः ॥३॥

मैं आकाश मे बैठा बैठा अपनी भुजाओं से इस पृथिवी को उठा सकता हूँ और समुद्र को पी सकता हूँ और काल को संग्राम में मार सकता हूँ ॥३॥

अर्कं रुन्ध्या शरैस्तीक्ष्णैर्निर्भिन्द्यां* हि महीतलम् ।
कामरूपिणमुन्मत्ते पश्य मां कामदं पतिम् ॥४॥

मैं अपने पैने बाणों से सूर्य की गति को रोक सकता हूँ और पृथिवी को विदीर्ण कर सकता हूँ । हे उन्मत्ते ! मुझ इच्छारूपधारी और मनोरथपूर्ण करने वाले पति को देख । (अर्थात् मुझे अपना पति बना) ॥४॥

एवमुक्तवतस्तस्य सूर्यकल्पे शिखिप्रभे ।
क्रुद्धस्य [१]हरिपर्यन्ते रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥५॥

ऐसा कहते हुए रावण की पीली आँखे मारे क्रोध के प्रज्वलित आग की तरह लाल हो गई ॥५॥

ततः सौम्य परित्यज्य भिक्षुरूप स रावणः ।
स्व रूप कालरूपाभ भेजे वैश्रवणानुजः ॥६॥

---

[१] हरिपर्यन्ते—पिङ्गलवर्णपर्यन्ते । (गो० * पाठान्तरे—"विभिद्या ।"

उसी क्षण कुवेर के छोटे भाई रावण ने अपने उस सन्यासी भेष को त्याग, काल के समान भयङ्कर रूप धारण किया ॥६॥

सरक्तनयनः [1]श्रीमांस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
क्रोधेन महताऽविष्टो नीलजीमूतसन्निभः ॥७॥

विशुद्ध सुवर्ण के कुण्डल धारण किए हुए, विचित्र शक्ति सम्पन्न और नील मेघ की तरह डीलडौल का रावण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥७॥

दशास्यः कार्मुकी वाणी वभूव क्षणदाचरः ।
स परिव्राजकच्छद्म महाकायो विहाय तत् ॥८॥

उस समय वह महाकाय रावण, बनावटी सन्यासी का रूप त्याग कर, दस मुख और बीस भुजा वाला हो गया ॥८॥

प्रतिपद्य स्वकं रूपं रावणो राक्षसाधिपः ।
संरक्तनयनः क्रोधाज्जीमूतनिचयप्रभः ॥९॥

राक्षसेश्वर रावण ने अपना असली रूप धारण कर लिया। क्रोध के मारे उस नीलमेघ सदृश शरीर वाले रावण के नेत्र लाल हो गए थे ॥९॥

रक्ताम्बरधरस्तस्थौ स्त्रीरत्नं प्रेक्ष्य मैथिलीम् ।
स तामसितकेशान्तां भास्करस्य प्रभामिव ॥१०॥

वसनाभरणोपेतां मैथिलीं रावणोऽब्रवीत् ।
त्रिषु लोकेषु विख्यातं यदि भर्तारमिच्छसि ॥११॥

१ श्रीमान् विचित्रशक्तिसम्पन्न । (गो०)

वह लाल वस्त्र पहिने हुए था और स्त्रियों में उत्तम जानकी की ओर देख, उन सूर्य के समान प्रभावाली, काले बालों से युक्त, वस्त्र भूषण धारण किए हुए जानकी जी से कहने लगा—यदि तीनों लोकों में विख्यात व्यक्ति को तू अपना पति बनाना चाहती है ॥१०॥११॥

मामाश्रय वरारोहे तवाहं सदृशः पतिः ।
मां भजस्व चिराय त्वमहं श्लाघ्यः प्रियस्तव ॥१२॥

तो हे वरारोहे ! मेरा पल्ला पकड़ । क्योंकि मैं ही तेरे योग्य पति हूँ । तू चिरकाल तक मेरे साथ रह । मैं ही तेरा उपयुक्त प्रेमी हूँ ॥१२॥

नैव चाहं क्वचिद्भद्रे करिष्ये तव विप्रियम् ।
त्यज्यतां मानुषो भावो मयि भावः प्रणीयताम् ॥१३॥

हे भद्रे ! मैं कभी कोई बात तेरे मन के प्रतिकूल न करूँगा । अतः तू अब राम, जो मनुष्य है, उसकी ओर से अपने प्रेम को हटा, मुझसे प्रेम कर ॥१३॥

राज्याच्च्युतमसिद्धार्थं रामं परिमितायुषम् ।
कैर्गुणैरनुरक्तासि मूढे पण्डितमानिनि ॥१४॥

राम तो राज्यच्युत, अकृतकार्य और परिमित आयु वाला है । अरे मूढ़ और अपने को बुद्धिमान समझने वाली ! तू राम के कौन से गुण पर लट्टू हो रही है ? ॥१४॥

यः स्त्रिया वचनाद्राज्यं विहाय ससुहृज्जनम् ।
अस्मिन् व्यालानुचरिते वने वसति दुर्मतिः ॥१५॥

जो राम, स्त्री का कहना मान, राज्य और इष्टमित्रों को त्याग, इस सर्पादि संकुल भयानक वन में वास करता है, वह दुर्बुद्धि नहीं तो है क्या ? ॥१५॥

इत्युक्त्वा मैथिली वाक्यं प्रियार्हां प्रियवादिनीम् ।
अभिगम्य सुदुष्टात्मा राक्षसः काममोहितः ॥१६॥

इस प्रकार उस प्रियभाषिणी और प्रेम करने योग्य सीता से कह, कामान्ध एवं महादुष्ट राक्षस रावण ने सीता के निकट जा ॥१६॥

जग्राह रावणः सीतां बुधः खे रोहिणीमिव ।
वामेन सीतां पद्माक्षीं मूर्धजेषु करेण सः ॥१७॥
ऊर्वोस्तु दक्षिणेनैव परिजग्राह पाणिना ।
तं दृष्ट्वा मृत्युसङ्काश तीक्ष्णदंष्ट्रं महाभुजम् ॥१८॥
प्राद्रवन् गिरिसङ्काश भयार्ता वनदेवताः ।
स च मायामयो दिव्यः खरयुक्तः खरस्वनः ॥१९॥
प्रत्यदृश्यत [1]हेमाङ्गो रावणस्य महारथः ।
ततस्तां परुषैर्वाक्यैर्भर्त्सयन् स महास्वनः ॥२०॥

सीता को उसी प्रकार पकड़ लिआ, जिस प्रकार आकाश में बुध ने रोहिणी को पकड़ लिआ था। रावण ने बाएँ हाथ से सीता के सिर के बालों को और दहिने हाथ से दोनों ऊरुओं को पकड़ा। उस समय काल के समान पैने दाँतों वाले और लंबी भुजाओं वाले तथा पर्वत के समान लंबे चौड़े डीलडौल वाले रावण को देख, वनदेवता भयभीत हो, भाग गए। तदनन्तर रावण का मायामय आकाशचारी बड़ा रथ, जिसमें खच्चर जुते हुए थे और जिसके पहिये सोने के थे, सामने देख पड़ा। रावण ने गम्भीर स्वर से, कठोर वचन कह, सीता को धमकाया ॥१७॥१८॥१९॥२०॥

---

१ हेमाङ्गो—स्वर्णमयचक्र । (गो०)



सीताहरण

मुझे कामरूपी राक्षस हरे लिए जाता है। हाय ! तुम्हें इसकी खबर नहीं है। हे राघव ! तुमने आश्रितों की रक्षा रूपी धर्म के लिए जीवन सुख और राज्य को भी त्याग दिया ॥२५॥

ह्रियमाणामधर्मेण मां राघव न पश्यसि।
ननु नामाविनीतानां विनेतासि[1] परन्तप ॥२६॥

यह पापी राक्षस मुझे हरे लिए जाता है, क्या तुमको यह नहीं देख पड़ता ? हे परन्तप ! तुम तो दुर्जनों के शिक्षक (दण्ड देने वाले) हो ॥२६॥

कथमेवंविधं पापं न त्वं शास्सि हि रावणम्।
ननु सद्योऽविनीतस्य दृश्यते कर्मणः फलम् ॥२७॥

तब इस प्रकार के पाप करने वाले इस पापी रावण को क्यों दण्ड नहीं देते ? ठीक है, दुष्ट कर्म का फल तुरन्त ही नहीं मिलता ॥२७॥

कालोऽप्यङ्गी[2] भवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये[3]।
स कर्म कृतवानेतत्कालोपहतचेतनः ॥२८॥

जिस प्रकार अनाज के पकने में कुछ समय लगता है, उसी [प्रकार] पाप भी कर्त्ता को फल देने के लिए कुछ समय लेता है। [इस]ने काल के प्रभाव से चेतना रहित हो (नष्टबुद्धि हो), जो [यह] कर्म किया है ॥२८॥

जीवितान्तकरं घोरं रामाद्व्यसनमाप्नुहि।
हन्तेदानीं सकामास्तु कैकेयी सह बान्धवैः ॥२९॥

---

१ विनेतासि—शिक्षक। (गो०) २ कालोप्यङ्गी—सहकारिकारणं। (गो०) ३ पक्तये—पाकाय। (गो०)

सो इसके लिए रावण को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा प्राणान्त करने वाली घोर विपद मे पड़ना पड़ेगा। इस समय अपने वान्धवों सहित कैकेयी का मनोरथ पूरा हुआ ॥२६॥

हिये यद्धर्मकामस्य धर्मपत्नी यशस्विनः।
[१]आमन्त्रये जनस्थाने कर्णिकारान् सुपुष्पितान् ॥३०॥

क्योंकि धर्म मे तत्पर और यशस्वी श्रीरामचन्द्र की धर्मपत्नी मैं हरी जा रही हूँ। मैं जनस्थान मे इन फूले हुए कर्णिकार वृक्षों को सम्बोधन कर कहती हूँ कि. ॥३०॥

क्षिप्रं रामाय शंसध्व सीतां हरति रावणः।
माल्यवन्त शिखरिण वन्दे प्रस्रवण गिरिम् ॥३१॥

तुम शीघ्र श्रीरामचन्द्र से कह देना कि, रावण सीता को हर कर ले गया। पुष्पित वृक्षों से युक्त एव प्रशस्त शिखर वाले प्रस्रवण पर्वत को मैं प्रणाम करती हूँ कि ॥३१॥

क्षिप्रं रामाय शंस त्व सीतां हरति रावणः।
हंसकारण्डवाकीर्णां वन्दे गोदावरीं नदीम् ॥३२॥

तुम शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी से कह देना कि रावण सीता को हर कर ले गया। हंस और सारस पक्षियों से सेवित गोदावरी नदी को मैं प्रणाम करती हूँ कि, ॥३२॥

क्षिप्रं रामाय शंस त्व सीतां हरति रावणः।
दैवतानि च यान्यस्मिन् वने विविधपादपे ॥३३॥

तुम शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी से कह देना कि सीता को रावण हर ले गया। अनेक वृक्षों से पूर्ण इस वन मे जो देवता रहते हैं. ॥३३॥

---

[१] आमन्त्रये—सम्बोधयामि। (गो०)

नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्तुः शंसत मां हृताम् ।
यानि कानि चिदप्यत्र सत्त्वानि[१] निवसन्त्युत ॥३४॥
सर्वाणि शरणं यामि मृगपक्षिगणानपि ।
ह्रियमाणां प्रियां भर्तुः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥३५॥
विवशापहृता सीता रावणेनेति शंसत ।
विदित्वा मां महाबाहुरमुत्रापि महाबलः ॥३६॥

उन सब को मैं प्रणाम करती हूँ कि, वे मेरा (रावण द्वारा) हरा जाना मेरे पति (श्रीरामचन्द्र जी) से कह दें। अन्य जो कोई जीव-जन्तु इस वन में रहते हैं तथा जो मृगपक्षी (यहाँ) हैं, उन सब के मैं शरण होती हूँ और उनसे प्रार्थना करती हूँ कि, वे मेरे पति से कह दें कि, उनकी प्राणों से भी बढ़ कर प्यारी भार्या (सीता) को, बरजोरी रावण ने हर लिआ है। क्योंकि बड़ी भुजाओं वाले महाबली श्रीराम को यदि यह वृत्तान्त मालूम हो गया तो, ॥३४॥ ॥३५॥३६॥

आनेष्यति पराक्रम्य वैवस्वतहृतामपि ।
सा तदा करुणा वाचो विलपन्ती सुदुःखिता ॥३७॥

वे अपने पराक्रम द्वारा मुझे यमराज से भी छुड़ा लावेंगे। इस प्रकार दुःखित और दीन हो विलाप करती हुई सीता ने ॥३७॥

वनस्पतिगतं गृध्रं ददर्शायतलोचना ।
सा तमुद्वीक्ष्य सुश्रोणी रावणस्य वशं गता ॥३८॥

जो विशाल नेत्र वाली थी, वृक्ष पर बैठे हुए जटायु को देखा। रावण के वश में पड़ी हुई सीता ने जटायु को देख ॥३८॥

---

१ सत्त्वानि—जन्तवः। (गो०)

समाक्रन्दद्भयपरा दुःखोपहतया गिरा ।
जटायो पश्य मामार्य ह्रियमाणामनाथवत् ॥३९॥
अनेन राक्षसेन्द्रेण करुणं पापकर्मणा ।
नैष वारयितुं शक्यस्तव क्रूरो निशाचरः ।
सत्त्ववाञ्जितकाशी च सायुधश्चैव दुर्मतिः ॥४०॥

भयभीत एवं दुःखित हो रो कर कहा हे मेरे बड़े बूढ़े जटायु देखो यह पापी रावण मुझे अनाथ की तरह निर्भय भाव से पकड़ कर लिए जाता है। जान पड़ता है, तुम इस महाबली विजयी, कूटयुद्ध करने वाले क्रूर और आयुधधारी राक्षस को रोक नहीं सकते (अतः) ॥३९॥४०॥

रामाय तु यथातत्त्वं जटायो हरणं मम ।
लक्ष्मणाय च तत्सर्वमाख्यातव्यमशेषतः ॥४१॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

हे जटायु ! तुम श्रीरामचन्द्र जी से मेरे हरे जाने का यथार्थ वृत्तान्त कह देना और लक्ष्मण को यह आद्यन्त समस्त वृत्तान्त बता देना ॥४१॥

अरण्यकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— * —

पञ्चाशः सर्गः

— * —

तं शब्दमवसुप्तस्तु जटायुरथ शुश्रुवे ।
निरीक्ष्य रावणं क्षिप्रं वैदेहीं च ददर्श सः ॥१॥

---

१ जटायो—हे वृद्ध जटायु ! (गो०)

जटायु ने जो उस समय सो रहा था, सीता की आवाज सुन, आँखे खोलीं और उसने रावण और सीता को देखा ॥१॥

ततः पर्वतकूटाभस्तीक्ष्णतुण्डः खगोत्तमः ।
वनस्पतिगतः श्रीमान् व्याजहार शुभां गिरम् ॥२॥

उस पर्वत के शृङ्ग के तुल्य बड़े डीलडौल के जटायु पक्षी ने, जिसकी बड़ी पैनी चोंच थी, पेड़ पर बैठे ही बैठे मधुर शब्दों में रावण से कहा ॥२॥

दशग्रीव स्थितो धर्मे[1] पुराणे[2] सत्यसंश्रयः ।
जटायुर्नाम नाम्नाऽहं गृध्रराजो महाबलः ॥३॥

हे दशग्रीव ! मैं सदैव से सेवाधर्म में लगा हुआ हूँ और सत्य पर आरूढ़ हूँ। मेरा नाम जटायु है और मैं गीधों का महाबलवान राजा हूँ ॥३॥

राजा सर्वस्य लोकस्य महेन्द्रवरुणोपमः ।
लोकानां च हिते युक्तो रामो दशरथात्मजः ॥४॥

तस्यैषा लोकनाथस्य धर्मपत्नी यशस्विनी ।
सीता नाम वरारोहा यां त्वं हर्तुमिहेच्छसि ॥५॥

जो सब लोकों के राजा हैं, जो इन्द्र और वरुण के तुल्य हैं और जो प्राणि मात्र की भलाई में लगे रहते हैं उन्हीं त्रिलोकीनाथ दशरथ नन्दन श्रीरामचन्द्र की यह यशस्विनी वरारोहा धर्मपत्नी सीता है, जिसे तुम हर कर लिए जाते हो ॥४॥५॥

---

१ धर्मे—शरणागतिधर्मे । (गो०) २ पुराणे—अनादौ । (गो०)

कथं राजा स्थितो धर्मे परदारान् परामृशेत् ।
रक्षणीया विशेषेण राजदारा महाबलः ॥६॥

जो राजा धर्म मार्ग पर आरूढ है, क्या उसको परस्त्री पर हाथ डालना उचित है? महाबली! तुमको तो एक राजपत्नी की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिए ॥६॥

निवर्तय मतिं नीचां परदाराभिमर्शनात् ।
न तत्समाचरेद्धीरो यत्परोऽस्य विगर्हयेत् ॥७॥

अतः तुम पराई स्त्री के हरण करने की नीच बुद्धि को त्याग दो। जिस काम के करने से निन्दा होती हो, वह काम बड़े लोग नहीं किया करते ॥७॥

यथाऽऽत्मनस्तथाऽन्येषां दारा रक्ष्या विपश्चिता[२] ।
धर्ममर्थं च कामं च शिष्टाः शास्त्रष्वनागतम्[३] ॥८॥
व्यवस्यन्ति न राजानो धर्मं पौलस्त्यनन्दन ।
राजा धर्मश्च कामश्च द्रव्याणां चोत्तमो निधिः ॥९॥

विवेकी पुरुषों का कर्त्तव्य है कि अपनी स्त्री की तरह पराई स्त्री की भी रक्षा करे। हे पौलस्त्यनन्दन! शिष्टजन अथवा विवेकीजन धर्म अर्थ अथवा काम सम्बन्धी किसी भी कार्य के विषय में, जब शास्त्र का विधान नहीं पाते, तब राजा जैसे करता है, उसीका वे लोग अनुसरण करते हैं। अतः राजा को सदैव धर्ममार्ग का अनुसरण करना चाहिए। क्योंकि राजा ही धर्म और राजा ही काम और राजा ही समस्त उत्तम द्रव्यों का खजाना है ॥८॥९॥

धर्मः शुभं वा पापं वा राजमूलं प्रवर्तते ।
पापस्वभावश्चपलः कथं त्वं रक्षसांवर ॥१०॥

धर्म, शुभकर्म अथवा पापकर्म सब की जड़ राजा ही है। क्योंकि राजा की प्रवृत्ति के अनुसार ही प्रजाजनों की भी प्रवृत्ति होती है। हे! राक्षसोत्तम! स्वभाव ही से पापी और चञ्चल हो कर भी ॥१०॥

ऐश्वर्यमभिसम्प्राप्तो विमानमिव दुष्कृतिः ।
कामं स्वभावो यो यस्य न शक्यः परिमार्जितुम् ॥११॥

किस प्रकार दुष्कर्म करने वाले जन को देवविमान प्राप्त होने के समान, तुम इस ऐश्वर्य को प्राप्त हुए हो? जो कामी है अथवा स्वेच्छाचारी है, वह अपने उस स्वभाव को बदल नहीं सकता ॥११॥

न हि दुष्टात्मनामार्[1]यमावसत्यालये[2] चिरम् ।
विषये वा पुरे वा ते यदा रामो महाबलः ॥१२॥

नापराध्यति धर्मात्मा कथं तस्यापराध्यसि ।
यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः ॥१३॥

इसीसे दुष्ट जनों के हृदय में सदुपदेश बहुत देर तक नहीं टिकता। जब महाबली श्रीराम ने तुम्हारे अधिकृत देश में, अथवा पुर में, तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया, तब तुम उनके प्रति यह अपराध कार्य क्यों कर रहे हो? यदि कहो कि, शूर्पणखा के पीछे जनस्थानवासी खरादि का ॥१२॥१३॥

---

[1] आर्य—सदुपदेश। (गो०) [2] आलये—हृदये। (गो०)

अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः ॥१४॥

वध कर अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र पहिले ही मर्यादा भङ्ग कर चुके हैं, तो तुम्हीं बतलाओ कि, वास्तव मे श्रीरामचन्द्र का इसमें क्या दोष है ? ॥१४॥

यस्य त्व लोकनाथस्य भार्यां हृत्वा गमिष्यसि ।
क्षिप्रं विसृज वैदेहीं मा त्वा घोरेण चक्षुषा ॥१५॥

दहेद्दहनभूतेन वृत्रमिन्द्राशनिर्यथा ।
सर्पमाशीविषं बद्ध्वा वस्त्रान्ते नावबुध्यसे ॥१६॥

जो तुम उन लोकनाथ की भार्या को हर कर लिये जाते हो ? हे रावण ! तुम तुरन्त सीता को छोड दो । नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि जिस प्रकार इन्द्र ने अपने वज्र से वृत्रासुर को भस्म किया था, उसी प्रकार कहीं श्रीराम तुम्हें (भी) अपने अग्नितुल्य नेत्र से भस्म कर डाले । अरे रावण ! महाविषैले सर्प को आँचल में बाँध कर भी तू नहीं चेतता ॥१५॥१६॥

ग्रीवायां प्रतिमुक्त[१] च कालपाशं न पश्यसि ।
स भारः सौम्य भर्तव्यो यो नरं नावसादयेत् ॥१७॥

तुम गले में काल का फन्दा लगा कर भी आँख से नहीं देखते । हे सौम्य ! बोझ उतना ही उठाना चाहिए जितने से स्वयम् दब जाना न पडे ॥१७॥

---

१ प्रतिमुक्तं—आमुक्तं । (गो०)

तदन्नमपि भोक्तव्यं जीर्यते यदनामयम् ।
यत्कृत्वा न भवेद्धर्मो न कीर्त्तिर्न यशो भुवि ॥१८॥
शरीरस्य भवेत्खेदः कस्तत्कर्म समाचरेत् ।
षष्टिर्वर्षसहस्राणि मम जातस्य रावण ॥१९॥

वही अन्न खाना चाहिए जो किसी प्रकार के रोग को उत्पन्न न कर के पच जाय। जिस कार्य के करने से न तो पुण्य ही होता है और न संसार में कीर्ति और यश ही फैलता है, बल्कि जिसके करने से शरीर को क्लेश हो ऐसे कर्म को कौन (समझदार) पुरुष करेगा? हे रावण! मुझे उत्पन्न हुए साठ हजार वर्ष बीत चुके ॥१८॥१९॥

पितृपैतामहं राज्यं यथावदनुतिष्ठतः ।
वृद्धोऽहं त्वं युवा धन्वी सशरः कवची रथी ॥२०॥

और मैं अपने बाप दादा से परम्परागत प्राप्त राज्य का पालन यथावत करता हूँ। यद्यपि मैं बूढ़ा हूँ और तुम युवा हो, रथ पर सवार हो, कवचधारी हो और धनुष बाण लिये हुए हो ॥२०॥

तथाप्यादाय वैदेहीं कुशली न गमिष्यसि ।
न शक्तस्त्वं बलाद्धर्तुं वैदेहीं मम पश्यतः ॥२१॥

जैसे किसी वेदवेत्ता के सामने कोई तर्कशास्त्री वेद के मन्त्रों का अनुचित अर्थ नहीं कर सकता। हे रावण! यदि तुझे शूरवीर होने का दावा है, तो दो घड़ी यहाँ रुक कर, मुझसे युद्ध कर ॥२२॥

शयिष्यसे हतो भूमौ यथा पूर्वं खरस्तथा।
असकृत्संयुगे येन निहता दैत्यदानवाः ॥२३॥

फिर देखना कि, मैं तुझे मार कर पृथिवी पर उसी प्रकार लिटाता हूँ कि नहीं जिस प्रकार पहिले खर मर कर पृथिवी पर लोट चुका है। हे रावण! जिन्होंने अनेक बार युद्ध में दैत्य और दानवों को मारा है ॥२३॥

न चिराच्चीरवासास्त्वां रामो युधि वधिष्यति।
किं नु शक्यं मया कर्तुं गतौ दूरं नृपात्मजौ ॥२४॥

वे चीरधारी श्रीराम संग्राम में क्या तेरा वध करने में देर लगावेंगे! मैं क्या करूँ वे दोनों राजकुमार वन में दूर निकल गए हैं ॥२४॥

हे नीच ! तू भी उनसे डर कर, निस्सन्देह शीघ्र मारा जायगा, किन्तु मेरे जीते जी तो तू कमलनयनी श्रीराम की प्यारी पट-रानी सीता को नहीं ले जाने पावेगा। क्योंकि मैं तो उन महात्मा श्रीराम की और दशरथ की भलाई जान दे कर भी अवश्य करूँगा। हे दशग्रीव रावण ! खड़ा रह !! खड़ा रह !!! मुहूर्त्तभर में ॥२५॥२६॥२७॥

युद्धातिथ्यं प्रदास्यामि यथाप्राणं[1] निशाचर।
वृन्तादिव फलं त्वां तु पातयेयं रथोत्तमात् ॥२८॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

हे निशाचर ! मैं तेरा अपने बल के अनुरूप युद्धोचित आतिथ्य कर, पके फल की तरह तुझे उस उत्तम रथ से नीचे गिराए देता हूँ ॥२८॥

अरण्यकाण्ड का पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ।

— * —

एकपञ्चाशः सर्गः

— * —

इत्युक्तस्य यथान्यायं रावणस्य जटायुषा।
क्रुद्धस्याग्निनिभाः सर्वा रेजुर्विंशतिदृष्टयः ॥१॥

जटायु के न्यायपूर्वक कहे हुए वचनों को सुन कर, रावण के बीसों नेत्र क्रोध से भरने के कारण अग्नि के समान लाल पड़ गए ॥१॥

---

१ यथाप्राणं—यथाबलं। (गो०)

रक्तनयनः कोपात्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
राक्षसेन्द्रोऽभिदुद्राव पतगेन्द्रममर्षणः[१] ॥२॥

तब जटायु के वाक्यों को न सह कर, शुद्ध सुवर्ण के कुण्डल पहिने हुए रावण, क्रोध के मारे लाल नेत्र कर, जटायु पर बड़े वेग से झपटा ॥२॥

स [२]संप्रहारस्तुमुलस्तयोस्तस्मिन् महावने ।
बभूव वातोद्धतयोर्मेघयोर्गगने यथा ॥३॥

जिस प्रकार आकाश में पवन प्रेरित दो मेघों की टक्कर होती है, उसी प्रकार उन दोनों का विकट युद्ध हुआ ॥३॥

तद्बभूवाद्भुतं युद्धं गृध्रराक्षसयोस्तदा ।
सपक्षयोर्माल्यवतोर्महापर्वतयोरिव ॥४॥

पक्षधारी दो माल्यवान श्रेष्ठपर्वतों की तरह गृद्धराज जटायु और राक्षसेश्वर रावण का अद्भुत युद्ध हुआ ॥४॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः ।
अभ्यवर्षन्महाघोरैर्गृध्रराजं महाबलः ॥५॥

रावण ने महाबली जटायु के ऊपर पैनी नोकों वाले नालीक और विकर्णि नामक बड़े भयङ्कर तीरों की वर्षा कर, उसे (बाणों से) ढक दिया ॥५॥

स तानि शरजालानि गृध्रः पत्ररथेश्वरः[३] ।
जटायुः प्रतिजग्राह[४] रावणास्त्राणि संयुगे ॥६॥

---

१ अमर्षण—असहन। (गो०) २ संप्रहार—युद्धं। (गो०)
३ पत्ररथेश्वर—पक्षीश्वर। (गो०) ४ प्रतिजग्राह—सेहे। (गो०)

परन्तु पक्षीश्वर गृद्ध ने उस युद्ध में रावण के सब तीरों और अस्त्रों के प्रहारों को सह लिआ ॥६॥

तस्य तीक्ष्णनखाभ्यां तु चरणाभ्यां महाबलः ।
चकार बहुधा गात्रे व्रणान् पतगसत्तमः ॥७॥

और जटायु ने (भी) अपने पैने नखवाले दोनों पैरों से रावण के शरीर को क्षत विक्षत कर डाला ॥७॥

अथ क्रोधाद्दशग्रीवो जग्राह दश मार्गणान्[1] ।
मृत्युदण्डनिभान् घोराञ्शत्रुमर्दनकाङ्क्षया ॥८॥

तब तो क्रोध में भर कर, दशग्रीव रावण ने जटायु का वध करने के लिए बड़े भयङ्कर कालदण्ड की तरह दस बाण निकाले ॥८॥

स तैर्बाणैर्महावीर्यः पूर्णमुक्तैरजिह्मगैः[2] ।
बिभेद निशितैस्तीक्ष्णैर्गृध्रं घोरैः शिलीमुखैः ॥९॥

और कान तक धनुष के रोदे को खींच कर, उन सीधे चलने वाले सान पर पनाए हुए और भयङ्कर बाणों से जटायु का शरीर विदीर्ण कर डाला ॥९॥

ततोऽस्य सशरं चापं मुक्तामणिविभूषितम् ।
चरणाभ्यां महातेजा बभञ्ज पतगेश्वरः ॥११॥

और उस महातेजस्वी पक्षिराज ने मारे लातों के रावण का तीरों सहित धनुष जिसमें मोती और मणियाँ जड़ी थीं, तोड़ डाला ॥११॥

ततोऽन्यद्धनुरादाय रावणः क्रोधमूर्छितः ।
ववर्ष शरवर्षाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥१२॥

तब तो अत्यन्त कुपित हो रावण ने दूसरा धनुष उठाया और जटायु पर सैकड़ों सहस्रों बाणों की वर्षा की ॥१२॥

शरैरावारितस्तस्य संयुगे पतगेश्वरः ।
कुलायमुपसम्प्राप्तः पक्षीव प्रबभौ तदा ॥१३॥

उस समय जटायु उन शरसमूह से घिर कर घोंसले में बैठे हुए पक्षी की तरह शोभा को प्राप्त हुआ ॥१३॥

स तानि शरवर्षाणि पक्षाभ्यां च विधूय च ।
चरणाभ्यां महातेजा बभञ्जास्य महद्धनुः ॥१४॥

तदनन्तर महातेजस्वी जटायु ने अपने दोनों पंखों से उस शरजाल को खण्डित कर अपने दोनों पंजों से रावण के उस (दूसरे) बड़े धनुष को भी तोड़ डाला ॥१४॥

तच्चाग्निसदृशं दीप्तं रावणस्य शरावरम्[1] ।
पक्षाभ्यां स महावीर्यो व्याधुनोत्पतगेश्वरः ॥१५॥

(इतना ही नहीं बल्कि) अपने पखों के प्रहार से महातेजस्वी जटायु ने रावण का अग्नि की तरह चमचमाता कवच भी तोड फोड डाला ॥१५॥

काञ्चनोरश्छदान् दिव्यान् पिशाचवदनान् खरान् ।
तांश्चास्य जवसम्पन्नाञ्जघान समरे बली ॥१६॥

उस बली जटायु ने रावण का सुवर्णमय दिव्य कवच तोड, अति शीघ्र दौडने वाले और पिशाचों जैसे मुख वाले रथ में जुते हुए खचरों को भी मार डाला, ॥१६॥

वरं त्रिवेणुसम्पन्नं कामगं पावकार्चिषम् ।
मणिहेमविचित्राङ्गं बभञ्ज च महारथम् ॥१७॥

फिर इच्छागामी, अग्नि के समान चमचमाता और मणियों के बने पायदानों से युक्त, तथा जिसके जुए में तीन बाँस लगे हुए थे—ऐसे रावण के बडे रथ को भी जटायु ने तोड डाला ॥१७॥

पूर्णचन्द्रप्रतीकाशं छत्रं च व्यजनैः सह ।
पातयामास वेगेन ग्राहिभी राक्षसैः सह ॥१८॥

फिर जटायु ने पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह छत्र, चामरों को और उनके थामने वाले राक्षसों को भी मार डाला ॥१८॥

सारथेश्चास्य वेगेन तुण्डेनैव महच्छिरः ।
पुनर्व्यपाहरच्छ्रीमान् पक्षिराजो महाबलः ॥१९॥

फिर महाबली पक्षिराज जटायु ने अपनी चोंच के प्रहार से रावण के सारथी का बड़ा सिर भी काट डाला । इस प्रकार परम बल सम्पन्न पक्षिराज द्वारा ॥१९॥

स भग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
अङ्केनादाय वैदेहीं पपात भुवि रावणः ॥२०॥

जब रावण का धनुष तोड़ा गया। रथ नष्ट किया गया और घोड़े तथा सारथी मार डाले गए, तब रावण सीता को अपनी गोदी में लिये हुए भूमि पर कूद पड़ा ॥२०॥

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ रावणं भग्नवाहनम् ।
साधु साध्विति भूतानि गृध्रराजमपूजयन् ॥२१॥

सवारी नष्ट होने के कारण रावण को पृथ्वी पर गिरा हुआ देख, समस्त प्राणी वाह वाह कह कर, जटायु की प्रशंसा करने लगे ॥२१॥

परिश्रान्तं तु तं दृष्ट्वा जरया पक्षियूथपम् ।
उत्पपात पुनर्हृष्टो मैथिलीं गृह्य रावणः ॥२२॥

पक्षिराज जटायु को बुढ़ापे के कारण थका जान, रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ सीता को ले फिर आकाशमार्ग से चल दिया ॥२२॥

तं प्रहृष्टं निधायाङ्के गच्छन्तं जनकात्मजाम् ।
गृध्रराजः समुत्पत्य समभिद्रुत्य रावणम् ॥२३॥

रावण को प्रसन्न होते हुए और जानकी को लेकर जाते हुए देख जटायु ने बड़े वेग से उसका पीछा किया ॥२३॥

*समावार्य महातेजा जटायुरिदमब्रवीत् ।
वज्रसंस्पर्शबाणस्य भार्यां रामस्य रावण ॥२४॥

---

* [illegible]

अलं तद्धि हरस्येनां वधाय खलु रक्षसाम् ।
समित्रबन्धुः सामात्यः सबलः सपरिच्छदः ॥२५॥

और उस महातेजस्वी जटायु ने रावण का मार्ग रोक उससे यह कहा—तू अपने इष्टमित्रों, भाईबन्धुओं, मन्त्रियों, सेनाओं और कुटुम्ब सहित समस्त राक्षसकुल का सर्वनाश करने के लिए ही, वज्र समान बाण धारण करने वाले श्रीरामचन्द्र की भार्या, इन जानकी को चुरा कर लिये जा रहा है ॥२४॥२५॥

विषपानं पिबस्येतत्पिपासित इवोदकम् ।
अनुबन्धम्[1] अजानन्तः कर्मणामविचक्षणाः[2] ॥२६॥

जिस प्रकार प्यासा पानी पीता है, उसी प्रकार तू यह विषपान कर रहा है। असमर्थ लोग जिस प्रकार अपने किए हुए कर्म के फल को न जान कर, ॥२६॥

शीघ्रमेव विनश्यन्ति यथा त्वं विनशिष्यसि ।
बद्धस्त्वं कालपाशेन क्व गतस्तस्य मोक्ष्यसे ॥२७॥

शीघ्र विनष्ट होते हैं, उसी प्रकार तू भी विनष्ट हो जायगा। तूने अपने गले में काल की फाँसी डाल ली है, अब तू किस देश में भाग कर उससे निस्तार पा सकता है ॥२७॥

वधाय बडिशं गृह्य सामिषं जलजो यथा ।
न हि जातु दुराधर्षौ काकुत्स्थौ तव रावण ॥२८॥

---

१ अनुबन्धम्—फलम्। (रा०) २ अविचक्षणाः—असमर्था। (गो०)

धर्षणं च.श्रमस्यास्य क्षमिष्येते तु राघवौ ।
यथा त्वया कृतं कर्म भीरुणा लोकगर्हितम् ॥२६॥
तस्कराचरितो मार्गो नैष वीरनिषेवितः ।
युध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण ॥३०॥

मांस के टुकड़े से युक्त वंशी के काँटे की ओर अपने प्राण खोने को जिस प्रकार मछली दौड़ती है, उसी प्रकार तू भी यह काम कर रहा है। हे रावण! श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण अजेय हैं, वे तेरे इस अपराध को, जो तू उनके आश्रय से सीता को हर कर लिये जाता है कभी क्षमा न करेंगे। तू जो यह लोकनिन्दित और डरपोकों जैसा काम कर रहा है, सो चोरों के योग्य है, वीरों के योग्य नहीं है। यदि तुझे वीर होने का अभिमान है, तो दो घड़ी खड़ा रह और युद्ध कर ॥२८॥२६॥३०॥

शयिष्यसे हतो भूमौ यथा भ्राता खरस्तथा ।
परेतकाले पुरुषो यत्कर्म प्रतिपद्यते ॥३१॥
विनाशायात्मनोऽधर्म्यं प्रतिपन्नोऽसि कर्म तत् ।
पापानुबन्धो वै यस्य कर्मणः कर्म को नु तत् ॥३२॥

और फिर देख मैं तुझे उसी तरह, जिस तरह तेरा भाई खर मारा गया है मार कर भूमि पर गिराता हूँ कि, नहीं। मरते समय मनुष्य अपने नाश के लिए जैसे अधर्म के काम किया करते हैं, वैसे ही तू भी कर रहा है। जिस कर्म का सम्बन्ध पाप से है, उस कर्म को कौन पुरुष ॥३१॥३२॥

कुर्वीत लोकाधिपतिः स्वयंभूर्भगवानपि ।
एवमुक्त्वा शुभं वाक्यं जटायुस्तस्य रक्षसः ॥३३॥

निपपात भृशं पृष्ठे दशग्रीवस्य वीर्यवान् ।
तं गृहीत्वा नखैस्तीक्ष्णैर्विददार समन्ततः ॥३४॥

करेगा—भले ही वह लोकाधिपति साक्षात् ब्रह्मा ही क्यों न हो। इस प्रकार की हित की बातें कह, जटायु उस बलवान राक्षस दशग्रीव रावण की पीठ से लिपट गया और अपने पैने नाखूनों से उसकी समस्त पीठ विदीर्ण कर डाली ॥३३॥३४॥

टिप्पणी—जब रावण ने जटायु का तिरस्कार कर, उसकी बातों पर ध्यान न दिया और वह आगे बढ़ने लगा, तब जान पड़ता है। जटायु उसकी पीठ में लिपट गया।]

अधिरूढो गजारोहो यथा स्याद्दुष्टवारणम् ।
विददार नखैरस्य तुण्डं पृष्ठे समर्पयन् ॥३५॥

जैसे महावत दुष्ट हाथी की गर्दन पर सवार हो उसके अंकुश चुभोता है, उसी प्रकार जटायु ने रावण की पीठ पर अपनी चोंच चुभोई ॥३५॥

केशांश्चोत्पाटयामास नखपक्षमुखायुधः ।
स तथा गृध्रराजेन क्लिश्यमानो मुहुर्मुहुः ॥३६॥

नख चोंच और परों के हथियार से लड़ने वाले जटायु ने रावण के सिर के बाल नोच डाले। इस प्रकार जटायु से बार बार सताए जाने पर ॥३६॥

[1]अमर्षस्फुरितोष्ठः सन् [2]प्राकम्पत स रावणः ।
स परिष्वज्य वैदेहीं वामेनाङ्केन रावणः ॥३७॥

१ अमर्ष—असहन। (गो०) २ प्राकम्पत—प्रहारार्थं प्रकर्षेण प्राचलदित्यर्थः। (गो०)

रावण क्रोध के मारे ओंठो को फरफराता हुआ, जटायु पर वार करने के लिए मुड़ा। उसने सीता को बाईं बगल में दवाया ॥२७॥

तलेनाभिजघानाशु जटायुं क्रोधमूर्छितः ।
जटायुस्तमभिक्रम्य तुण्डेनास्य खगाधिपः ॥२८॥

और वह क्रोध में भर कर, जटायु के थपेड़े मारने लगा। पक्षिराज जटायु ने उसके थपेडे को बचाया और अपनी चोंच से ॥२८॥

वामबाहून् दश तदा [1]व्यपाहरदरिन्दमः ।
संछिन्नबाहोः सद्यैव बाहवः सहसाऽभवन् ॥२९॥

शत्रुसूदन जटायु ने रावण की बाईं ओर की दसों भुजाओं को काट गिराया, किन्तु तत्क्षण रावण की बीसों भुजाएँ उसी प्रकार निकल आईं, ॥२९॥

विषज्वालावलीयुक्ता वल्मीकादिव पन्नगाः ।
ततः क्रोधाद्दशग्रीवः सीतामुत्सृज्य रावणः ॥४०॥

जिस प्रकार विष की ज्वालाएं फेकते हुए सर्प बाँबी से निकलते हैं। तब रावण ने क्रोध मे भर सीता को तो छोड दिया ॥४०॥

मुष्टिभ्यां चरणाभ्यां च गृध्रराजमपोथयत्[2] ।
ततो मुहूर्तं संग्रामो बभूवातुलवीर्ययोः ॥४१॥

राक्षसानां च मुख्यस्य पक्षिणां प्रवरस्य च ।
तस्य व्यायच्छमानस्य रामस्यार्थे स रावणः ॥४२॥

---

१ व्यपाहरत्—अच्छिनत् । (गो०) २ अपोथयत्—अताडयत् । (गो०)

और वह मूंकों और लातों से गृध्रराज को मारने लगा। अतुल वीर्यवान उन दोनो का (अर्थात् राक्षसराज और पक्षिराज का) एक मुहूर्त्त तक घमासान युद्ध हुआ। उस समय श्रीराम के लिए युद्ध करते हुए जटायु के, रावण ने ॥४१॥४२॥

पक्षौ पार्श्वौ च पादौ च खड्गमुद्धृत्य सोऽच्छिनत् ।
स च्छिन्नपक्षः सहसा रक्षसा रौद्रकर्मणा ।
निपपात हतो गृध्रो धरण्यामल्पजीवितः ॥४३॥

तलवार से समूल दोनो पर और दोनों पैर काट डाले। तब भयानक कर्म करने वाले रावण द्वारा पक्षो के काटे जाने पर, जटायु गृद्ध मरणप्राय हो कर, पृथिवी पर गिर पड़ा ॥४३॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम् ।
अभ्यधावत वैदेही स्वबन्धुमिव दुःखिता ॥४४॥

जटायु को घायल पड़ा देख, दुःख से पीड़ित होकर, सीता उस की ओर उसी प्रकार दौड़ी, जिस प्रकार कोई अपने किसी भाई बन्धु को पीड़ित देख, उसकी ओर दौड़ता है ॥४४॥

तं नीलजीमूतनिकाशकल्पं
सुपाण्डरोरस्कमुदारवीर्यम् ।
ददर्श लङ्काधिपतिः पृथिव्यां
जटायुषं शान्तमिवाग्निदावम् ॥४५॥

लङ्काधिपति रावण ने नीले मेघ के समान रंग वाले, पाण्डुर रंग की छाती वाले और अत्यन्त पराक्रमी जटायु को, उस समय, शान्त हुई वन की आग की तरह, पृथिवी पर पड़ा देखा ॥४५॥

ततस्तु तं पत्ररथं महीतले
निपातितं रावणवेगमर्दितम् ।
पुनः परिष्वज्य शशिप्रभानना
रुरोद सीता जनकात्मजा तदा ॥४६॥

इति एकपञ्चाश सर्ग ॥

रावण के द्वारा मर्दित अंगो वाले और भूमि पर लोटते हुए जटायु को अपने कण्ठ से लगा, शशिवदनी जानकी जी रोने लगीं ॥४६॥

अरण्यकाण्ड का एक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ

—❀—

द्विपञ्चाशः सर्गः

—❀—

तमल्पजीवितं गृध्रं स्फुरन्तं राक्षसाधिपः ।
ददर्श भूमौ पतितं समीपे राघवाश्रमात् ॥१॥

राक्षसेश्वर रावण ने श्रीरामाश्रम के समीप उस मृतप्राय जटायु को भूमि पर पड़ा हुआ और तड़फड़ाते हुए देखा ॥१॥

सा तु ताराधिपमुखी रावणेन बलीयसा* ।
गृध्रराजं विनिहतं विललाप सुदुःखिता ॥२॥

बलवान रावण द्वारा मारे गए जटायु को देख, सीताजी बहुत दुःखी हुईं और विलाप करने लगीं ॥२॥

---

* पाठान्तरे—"हर्मींदर तम् ।

आलिङ्ग्य गृध्रं निहतं रावणेन बलीयसा।
विललाप सुदुःखार्ता सीता शशिनिभानना ॥३॥

बलवान रावण द्वारा घायल किए गए गृध्रराज को आलिङ्गन कर, चन्द्रवदनी सीता अत्यन्त दुखी हो, विलाप करने लगीं ॥३॥

निमित्तं लक्षणज्ञानं शकुनिस्वरदर्शनम्।
अवश्यं सुखदुःखेषु नराणां प्रतिदृश्यते ॥४॥

वे बोलीं कि, बाएँ या दहिने अङ्गों का फड़कना, पक्षियों का बोलना और स्वप्न में सुवर्ण रूपी वृक्षों आदि का देखना, मनुष्यों के सुख दुःख के बारे में साक्षी रूप देख पड़ते हैं ॥४॥

नूनं राम न जानासि महद्व्यसनमात्मनः।
धावन्ति नूनं काकुत्स्थं मदर्थं मृगपक्षिणः ॥५॥

यद्यपि आज निश्चय ही मृग और पक्षीगण इस विपत्ति की सूचना देने को श्रीराम के सामने दौड़ते होंगे, तथापि यह भी निश्चय है कि, श्रीरामचन्द्र जी इस महान कष्ट को न समझ सकेंगे ॥५॥

अयं हि पापचारेण मां त्रातुमभिसङ्गतः।
शेते विनिहतो भूमौ ममाभाग्याद्विहङ्गमः ॥६॥

यह बेचारा जटायु, जो मेरी रक्षा करने यहाँ आया था यह भी मारा जा कर, मेरे अभाग्य से ज़मीन पर अचेत हुआ पड़ा है ॥६॥

त्राहि मामद्य काकुत्स्थ लक्ष्मणेति वराङ्गना।
सुसंत्रस्ता समाक्रन्दच्छृण्वतां तु [1]यथाऽन्तिके ॥७॥

---

[1] यथाऽन्तिके यथा—यथा समीपे इव। (गो०)

हे राम! हे लक्ष्मण! इस समय मुझे आ कर बचाओ। डरी हुई सीता इस प्रकार उस समय रो कर कह रही थी, मानों श्रीराम और लक्ष्मण पास ही कहीं उसकी बातें सुन ही रहे हों ॥७॥

तां क्लिष्टमाल्याभरणां विलपन्तीमनाथवत्।
अभ्यधावत वैदेहीं रावणो राक्षसाधिपः ॥८॥

अनाथ की तरह विलाप करती हुई, कुम्हलाई हुई माला और मसले हुए आभूषणों को पहिने हुए सीता की ओर राक्षसेश्वर रावण दौड़ा ॥८॥

तां लतामिव वेष्टन्तीमालिङ्गन्तीं महाद्रुमान्।
मुञ्च मुञ्चेति बहुशः प्रवदन्राक्षसाधिपः ॥९॥

उस समय सीता लता की तरह बड़े बड़े वृक्षों से लिपटने लगी। तब रावण ने उससे बार बार कहा। "छोड़ छोड़" ॥९॥

क्रोशन्तीं रामरामेति रामेण रहितां वने।
जीवितान्ताय केशेषु जग्राहान्तकसन्निभः ॥१०॥

उस समय श्रीराम की अनुपस्थिति में राम राम कह कर, उस वन में रोती हुई सीता के पास जा, रावण ने काल की तरह अपने विनाश के लिए सीता के सिर के बाल का जूड़ा पकड़ लिया ॥१०॥

प्रधर्षितायां सीतायां बभूव सचराचरम्।
जगत्सर्वममर्यादं तमसान्धेन संवृतम् ॥११॥

सीता का ऐसा अपमान होते देख कर, सम्पूर्ण चराचर जगत् मर्यादारहित हो कर, निविड़ अन्धकार से व्याप्त हो गया। अर्थात् सब चराचर जीव किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए ॥११॥

न वाति मारुतस्तत्र निष्प्रभोऽभूद्दिवाकरः ।
दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां दीनां दिव्येन चक्षुषा ॥१२॥

हवा का चलना बन्द हो गया । सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ गया । उस समय दुःखिनी सीता के केशाकर्षण को दिव्य दृष्टि से देख, ॥१२॥

कृतं कार्यमिति श्रीमान् व्याजहार पितामहः ।
प्रहृष्टा व्यथिताश्चासन्सर्वे ते परमर्षयः ॥१३॥

ब्रह्मा जी ने कहा कि, कार्य सिद्ध हो गया । समस्त बड़े बड़े ऋषि लोग हर्षित और दुःखित भी हुए ॥१३॥

दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां दण्डकारण्यवासिनः ।
रावणस्य विनाशं च प्राप्तं बुद्ध्वा यदृच्छया ॥१४॥

दण्डकारण्यवासी लोगों ने सीता का केशाकर्षण देख जान लिया कि, रावण के नाश में अब बहुत विलंब नहीं है ॥१४॥

स तु तां राम रामेति रुदन्तीं लक्ष्मणेति च ।
जगामादाय चाकाशं रावणो राक्षसेश्वरः ॥१५॥

हा राम ! हा लक्ष्मण ! कह कर, रोती हुई जानकी को पकड़ कर, राक्षसनाथ रावण आकाश मार्ग से चला गया ॥१५॥

तप्ताभरणसर्वाङ्गी पीतकौशेयवासिनी ।
रराज राजपुत्री तु विद्युत्सौदामिनी यथा ॥१६॥

उस समय विशुद्ध सुवर्ण के भूषणों को पहिने हुए और चपई रंग की साड़ी धारण किए हुए राजपुत्री जानकी ऐसी जान पड़ीं, मानों बादल में बिजली ॥१६॥

उद्धूतेन च वस्त्रेण तस्याः पीतेन रावणः ।
अधिकं प्रतिबभ्राज गिरिर्दीप्त इवाग्निना ॥१७॥

उस समय सीता जी की चपई रंग की साड़ी के उड़ने से रावण भी अग्नि से प्रदीप्त पर्वत की तरह शोभित जान पड़ता था ॥१७॥

तस्याः परमकल्याण्यास्ताम्राणि सुरभीणि च ।
पद्मपत्राणि वैदेह्या अभ्यकीर्यन्त रावणम् ॥१८॥

परम कल्याण रूपिणी सीता जी के शरीर पर जो सुगन्धि युक्त लाल वर्ण के कमलदल थे, वे रावण के शरीर पर गिरते जाते थे ॥१८॥

तस्याः कौशेयमुद्धूतमाकाशे कनकप्रभम् ।
बभौ चादित्यरागेण ताम्रमभ्रमिवातपे ॥१९॥

सुवर्ण के रंग जैसी सीता जी की साड़ी, जो आकाश में उड़ रही थी, ऐसी शोभायमान जान पड़ती थी, जैसे सूर्य की प्रभा से लाल मेघ शोभायमान होते हैं ॥१९॥

तस्यास्तन्सुनसं वक्त्रमाकाशे रावणाङ्कगम् ।
न रराज विना रामं विनालमिव पङ्कजम् ॥२०॥

सीता का निर्मल मुखमण्डल, रावण की गोदी में श्रीरामचन्द्र जी के विना नाल (डंडी) रहित कमल की तरह किसी प्रकार भी शोभायमान नहीं देख पड़ता था ॥२०॥

बभूव जलदं नीलं भित्त्वा चन्द्र इवोदितः ।
सुललाटं सुकेशान्तं पद्मगर्भाभमव्रणम् ॥२१॥

शुक्लैः सुविमलैर्दन्तैः प्रभावद्भिरलङ्कृतम् ।
तस्यास्तद्विमलं वक्त्रमाकाशे रावणाङ्कगम् ॥२२॥

अच्छे ललाट वाला, सुन्दर केशों से युक्त, पद्मगर्भसम प्रकाशित, व्रणरहित, सुन्दर सफेद, स्वच्छ और प्रभायुक्त दाँतों के सुशोभित और मनोहर नेत्रों से युक्त सीता का मुखमण्डल, रावण की गोद में ऐसा जान पड़ता था मानों नीले मेघों से निकल कर चन्द्रमा उदय हुआ हो ॥२१॥२२॥

रुदितं व्यपमृष्टास्रं चन्द्रवत्प्रियदर्शनम् ।
सुनासं चारु ताम्रोष्ठमाकाशे हाटकप्रभम् ॥२३॥

*राक्षसेन्द्रसमाधूतं तस्यास्तद्वदनं शुभम् ।
शुशुभे न विना रामं दिवा चन्द्र इवोदितः ॥२४॥

अनवरत रोदनयुक्त आँसुओं से मलिन हुआ, चन्द्रमा की तरह प्रियदर्शन, सुन्दर नासिकासहित, मनोहर व लाल ओठों से युक्त, सुवर्ण जैसी कान्तिवाला और रावण की तेज चाल के कारण कम्पित सीता का मुख, श्रीरामचन्द्र के बिना वैसे ही सुशोभित नहीं होता था, जैसे दिन में उदय हुआ चन्द्रमा ॥२३॥२४॥

सा हेमवर्णा नीलाङ्गं मैथिली राक्षसाधिपम् ।
शुशुभे काञ्चनी काञ्ची नीलं गजमिवाश्रिता ॥२५॥

सुवर्ण के रंग के शरीर की सीता नीले रंग के शरीर वाले रावण के साथ ऐसी शोभायमान होती थी जैसे सोने की जञ्जीर नीले रंग के हाथी के शरीर पर शोभायमान होती है ॥२५॥

---

* पाठान्तरे—"राक्षसेन।"

सा पद्मगौरी हेमाभा रावणं जनकात्मजा ।
विद्युद्घनमिवाविश्य शुशुभे तप्तभूषणा ॥२६॥

वह कमल फूल के केसर के और सोने के समान पीली और सुवर्ण के भूषणों से भूषित सीता रावण की गोद मे ऐसी शोभा देती थी, मानों बादल में बिजली दमक रही हो ॥२६॥

तस्या भूषणघोषेण वैदेह्या राक्षसाधिपः ।
बभौ सचपलो नीलः सघोष इव तोयदः ॥२७॥

उस समय सीता जी के गहनों के बजने के शब्द से रावण गरजते हुए मेघ की तरह जान पडता था ॥२७॥

उत्तमाङ्गाच्च्युता तस्याः पुष्पवृष्टिः समन्ततः ।
सीताया ह्रियमाणायाः पपात धरणीतले ॥२८॥

जिस समय रावण सीता को हर कर ले चला, उस समय सीता जी के सिर से फूलों की वर्षा सी पृथिवी पर चारों ओर हो रही थी ॥२८॥

सा तु रावणवेगेन पुष्पवृष्टिः समन्ततः ।
समाधूता दशग्रीवं पुनरेवाभ्यवर्तत ॥२९॥
अभ्यवर्तत पुष्पाणां धारा वैश्रवणानुजम् ।
नक्षत्रमाला विमला मेरुं नगमिवोन्नतम् ॥३०॥

वायु के झोकों और रावण के आकाश गमन के वेग से वे पुष्प उसके चारों ओर उडते हुए ऐसे जान पडते थे, मानों नक्षत्रों की माला ऊँचे ऊँचे मेरुपर्वत के चारों ओर घूम रही हो ॥२९॥३०॥

चरणान्नूपुरं भ्रष्टं वैदेह्या रत्नभूषितम् ।
विद्युन्मण्डलसङ्काशं पपात मधुरस्वनम् ॥३१॥

उस समय जानकी जी के चरण से मधुर झनकार करता हुआ रत्नजडाऊ नूपुर खसक कर, चक्कर खाती हुई बिजली की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥३१॥

तां महोल्का[1]मिवाकाशे दीप्यमानां स्वतेजसा ।
जहाराकाशमाविश्य सीतां वैश्रवणानुजः ॥३२॥

कुबेर का छोटा भाई रावण तेजस्विनी सीता को, आकाशमार्ग से उत्पातसूचक तारा (महोल्का) की तरह लिए हुए चला जाता था ॥३२॥

तस्यास्तान्यग्निवर्णानि भूषणानि महीतले ।
सघोषाण्यवकीर्यन्त क्षीणास्तारा इवाम्बरात् ॥३३॥

सीता जी के वे अग्नि की तरह दमकते हुए गहने, खुलखुल कर ज़मीन पर झनकार के साथ ऐसे गिरते थे, मानों आकाश से टूटे हुए तारे ॥३३॥

तस्याः स्तनान्तराद्भ्रष्टो हारस्ताराधिपद्युतिः ।
वैदेह्या निपतन्भाति गङ्गेव गगनाच्च्युता ॥३४॥

सीता जी के वक्षःस्थल पर पड़ा हुआ हार, जो चन्द्रमा की तरह चमचमाता था, ज़मीन पर गिरते समय ऐसा जान पड़ा, मानों आकाश से गङ्गा गिर रही हो ॥३४॥

---

[1] महोल्का—उत्पातसूचकतारा । (गो०)

उत्पन्न[1]वाताभिहता नानाद्विजगणायुताः ।
मा भैरिति विधूताग्रा[2] व्याजहुरिव पादपाः ॥३५॥

रावण के गमन के वेग से उत्पन्न वायु से कम्पित हो, पक्षिगण मानों अपना सिर हिला कर, सीता को धीरज बधाते हुए कह रहे थे कि, डरो मत ॥३५॥

नलिन्यो ध्वस्तकमलास्त्रस्तमीनजलेचराः ।
सखीमिव [3]गतोच्छ्वासामन्वशोचन्त मैथिलीम् ॥३६॥

तालावों में जो कमल के फूल थे (रावण के गमन के वेग-से) वे ध्वस्त हो गए थे और मछली आदि जलचर जीव जन्तु, भयभीत हो गए थे । मानों वे भी सीता के वियोग से वैसे विकल हो रहे थे, जैसे कोई स्त्री अपनी सहेली के लिए शोक करती हो ॥३६॥

समन्तादभिसम्पत्य सिंहव्याघ्रमृगद्विजाः ।
अन्वधावंस्तदा रोषात्सीतां छायानुगामिनः ॥३७॥

सिंह, व्याघ्र, मृग और पक्षी क्रोध में भर सीता जी की परछाईं पकड़ने के लिए चारों ओर से आ कर, उनके पीछे दौड़ने चले जाते थे ॥३७॥

जलप्रपातास्रमुखाः शृङ्गैरुच्छ्रितबाहवः ।
सीतायां ह्रियमाणायां विक्रोशन्तीव पर्वताः ॥३८॥

जानकी जी के हरे जाने से, पर्वतश्रेणी अपने शिखर रूपी बाँहों को उठा और झरनों के जल से मानों अश्रु बहा रो रही थीं ॥३८॥

---

१ उत्पन्नेति—रावणवेगोत्पन्नेत्यर्थः । (गो०) २ विधूताग्रा'—शाखा-[illegible] । (गो०) ३ गतोच्छ्वासां—मृतप्रायां । (गो०)

छिन्नमाल्यां तु वैदेहीं दृष्ट्वा दीनो दिवाकरः ।
प्रतिध्वस्तप्रभः श्रीमानासीत्पाण्डरमण्डलः ॥३६॥

सीता जी को हरी जाती देख, सूर्यदेव दुःखी होने के कारण तेजहीन हो गए और उनका मण्डल धुंधला पड़ गया ॥३६॥

नास्ति धर्मः कुतः सत्यं नार्जवं नानृशंसता ।
यत्र रामस्य वैदेहीं भार्यां हरति रावणः ॥४०॥

इति सर्वाणि भूतानि गणशः[1] पर्यदेवयन् ।
वित्रस्तका दीनमुखा रुरुदुर्मृगपोतकाः[2] ॥४१॥

उस वन के यावत् प्राणी एकत्र हो विलाप करते हुए कहते थे कि, जब रावण, श्रीरामभार्या सीता को हर कर लिए जाता है, तब फिर धर्म, सत्य, दया, सरलता और सुशीलता की तो इतिश्री ही हो गई। एक ओर मृगछौने त्रस्त हो दुःखी हो रहे थे ॥४०॥४१॥

उद्वीक्ष्योद्वीक्ष्य नयनैरास्रपाताविलेक्षणाः ।
सुप्रवेपितगात्राश्च बभूवुर्वनदेवताः ॥४२॥

बारबार नेत्र खोल खोल कर यह देखने से, वनदेवताओं के शरीर मारे भय के थर थर काँप रहे थे ॥४२॥

विक्रोशन्तीं दृढं सीतां दृष्ट्वा दुःखं तथा गताम् ॥४३॥
तां तु लक्ष्मण रामेति क्रोशन्तीं मधुरस्वरम् ।
अवेक्षमाणां बहुशो वैदेहीं धरणीतलम् ॥४४॥

---

१ गणशः —सङ्घशः । (गो०) २ मृगपोतकाः —मृगशावाः । (गो०)

स तामाकुलकेशान्तां विप्रमृष्टविशेषकाम् ।
जहारात्मविनाशाय दशग्रीवो मनस्विनीम् ॥४५॥

मधुर स्वर से हा राम ! हा लक्ष्मण ! कह कर चिल्लाती, रोती, दुःखी होती हुई और बार बार पृथिवी की ओर निहारती, खुले हुए बाल और माथे के मिटे हुए तिलक वाली और दृढ़ पतिव्रत धारण करने वाली सीता को रावण अपने विनाश के लिए हर कर लिये जाता था ॥४३॥४४॥४५॥

ततस्तु सा चारुदती शुचिस्मिता
विनाकृता बन्धुजनेन मैथिली ।
अपश्यती राघवलक्ष्मणावुभौ
विवर्णवक्त्रा भयभारपीडिता ॥४६॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः ॥

मनोहर दाँतों वाली, मन्द मन्द हास करने वाली सीता, बन्धुजनों से हीन और दोनों अर्थात् राम लक्ष्मण को न देखने से, बहुत उदास और भयभीत हो गई थी ॥४६॥

अरण्यकाण्ड का बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—ॐ—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—ॐ—

खमुत्पतन्तं तं दृष्ट्वा मैथिली जनकात्मजा ।
दुःखिता परमोद्विग्ना भये महति वर्तिनी ॥१॥

रावण को आकाशमार्ग से जाते देख, जनकात्मजा मैथिली बहुत डरी और दुःखित हो घबड़ा गई ॥१॥

रोषरोदनताम्राक्षी भीमाक्षं राक्षसाधिपम् ।
रुदन्ती करुणं सीता ह्रियमाणेदमब्रवीत् ॥२॥

हरे जाने पर, क्रोध के मारे और रोते रोते सीता के नेत्र लाल हो गए। वह आर्तस्वर से रोती हुई भयङ्कर नेत्रों वाले राक्षसेश्वर रावण से यह बोली ॥२॥

न व्यपत्रपसे नीच कर्मणाऽनेन रावण ।
ज्ञात्वा विरहितां यन्मां चोरयित्वा पलायसे ॥३॥

अरे नीच रावण! क्या तुझको यह काम करते हुए लज्जा नहीं मालूम पड़ती कि, जो तू मुझे अकेली पा और चुरा कर भागा जा रहा है ॥३॥

त्वयैव नूनं दुष्टात्मन् भीरुणा हर्तुमिच्छता ।
ममापवाहितो भर्ता मृगरूपेण मायया ॥४॥

मैं जान गई तू बड़ा दुष्ट और डरपोक है। तूने निश्चय ही तू मुझे हरने के लिए मायामृग के पीछे रूप में मेरे पति को आश्रम से दूर भेज दिया ॥४॥

यो हि मामुद्यतस्त्रातुं सोऽप्ययं विनिपातितः ।
गृध्रराजः पुराणोऽसौ श्वशुरस्य सखा मम ॥५॥

फिर इन बूढ़े गृध्रराज को भी, जो मेरे ससुर का मित्र था और मेरी रक्षा करने को तैयार हुआ था, मार डाला ॥५॥

परम खलु ते वीर्यं दृश्यते राक्षसाधम ।
विश्राव्य नामधेयं हि युद्धेनास्मि जिता त्वया ॥६॥

हे राक्षसाधम ! इससे तू बड़ा पराक्रमी जान पड़ता है (यह व्यङ्ग्योक्ति है) तूने केवल अपना नाम सुना कर, मुझे हरा है —न मुझे युद्ध मे जीत कर नहीं लाया ॥६॥

ईदृश गर्हित कर्म कथ कृत्वा न लज्जसे ।
स्त्रियाश्च हरणं नीच रहिते तु परस्य च ॥७॥

अरे नीच ! तूने मे पराई स्त्री के हरण करने का,यह गर्हित कर्म कर, तुझे लज्जा नहीं आती ? ॥७॥

कथयिष्यन्ति लोकेषु पुरुषाः कर्म कुत्सितम् ।
सुनृशसमधर्मिष्ठं तव शौण्डीर्यमानिनः ॥८॥

न अपने को शूर बतला कर,जो ऐसा क्रूर और पापकर्म कर रहा है सो लोग तेरे इस कर्म की निन्दा करेंगे ॥८॥

धिक्ते शौर्यं च सत्त्वं च यत्त्वं कथितवांस्तदा ।
कुलाक्रोशकर लोके धिक्ते चारित्र मीदृशम् ॥९॥

हरण करने के पूर्व तूने अपनी जिस शूरवीरता और बल का बखान किया था, उस तेरी शूरवीरता और बल को धिक्कार है। इस लोक मे कुल को कलङ्क लगाने वाले तेरे इस चरित्र पर भी लानत है ॥९॥

किं कर्तुं शक्यमेवं हि यज्जवेनैव धावसि ।
मुहूर्तमपि तिष्ठस्व न जीवन् प्रतियास्यसि ॥१०॥

ऐसी दशा में जब तू बड़े वेग से भागा जा रहा है कोई क्या कर सकता है। हाँ, यदि तू एक मुहूर्त भर ठहर जाय, तो तू जीता हुआ तो न जा सकेगा ॥१०॥

न हि चक्षुष्पथं प्राप्य तयोः पार्थिवपुत्रयोः ।
ससैन्योऽपि समर्थस्त्वं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥११॥

उन राजपुत्रों की दृष्टि में पड़ते ही तू अपनी सेना सहित भी एक मुहूर्त भर भी जीता जागता नहीं रह सकता ॥११॥

न त्वं तयोः शरस्पर्शं सोढुं शक्तः कथञ्चन ।
वने प्रज्वलितस्येव स्पर्शमग्नेर्विहङ्गमः ॥१२॥

पक्षी जिस प्रकार वन के दावानल को नहीं छू सकता, उसी प्रकार तू इन राजकुमारों के बाणों का स्पर्श किसी तरह सहन नहीं कर सकता ॥१२॥

साधु कृत्वाऽऽत्मनः पथ्यं साधु मां मुञ्च रावण ।
मत्प्रधर्षणरुष्टो हि भ्रात्रा सह पतिर्मम ॥१३॥
विधास्यति विनाशाय त्वं मां यदि न मुञ्चसि ।
येन त्वं व्यवसायेन बलान्मां हर्तुमिच्छसि ॥१४॥

अतएव हे रावण! भली प्रकार अपना हित विचार कर सीधी तरह मुझको छोड़ दे। यदि न छोड़ेगा, तो मेरी धर्षणा से क्रुद्ध हो, मेरे पति अपने भाई लक्ष्मण सहित तेरे विनाश के लिए उद्योग करेंगे। हे नीच! जिस उद्देश्य से तू बरजोरी मुझे हरे लिये जाता है ॥१३॥१४॥

व्यवसायः स ते नीच भविष्यति निरर्थकः ।
न ह्यहं तमपश्यन्ती भर्तारं विबुधोपमम् ॥१५॥

यह तेरा उद्देश्य कभी पूरा नहीं हो सकेगा। क्योंकि मैं उस देवतातुल्य अपने पति को न देख ॥१५॥

उत्सहे शत्रुवशगा प्राणान् धारयितुं चिरम्।
न नूनं चात्मनः श्रेयः पथ्यं वा समवेक्षसे ॥१६॥

और शत्रु के वश में पड़, बहुत दिनों जीती न रह सकूँगी। मैं समझती हूँ कि, तू अपने हित और कल्याण की ओर दृष्टि नहीं देता ॥१६॥

मृत्युकाले यथा मर्त्यो विपरीतानि सेवते।
मुमूर्षूणां हि सर्वेषां यत्पथ्यं तन्न रोचते ॥१७॥

जो पुरुष शीघ्र मरने वाला होता है वह अपथ्य सेवन करने लगता है। क्योंकि ऐसे पुरुष को पथ्य वस्तु भली ही नहीं लगती ॥१७॥

पश्याम्यद्य हि कण्ठे त्वां कालपाशावपाशितम्।
यथा चास्मिन् भयस्थाने न बिभेषि दशानन ॥१८॥

हे दशानन! मैं देख रही हूँ कि, तेरे गले में काल की फाँसी पड़ चुकी है क्योंकि इस भय के स्थान में भी तुझे भय नहीं लगता ॥१८॥

व्यक्तं हिरण्मयान् हि त्वं सम्पश्यसि महीरुहान्।
नदीं वैतरणीं घोरां रुधिरौघनिवाहिनीम् ॥१९॥

इससे स्पष्ट है कि, तू सोने के वृक्ष देखता (स्वप्न में) होगा। तू भयङ्कर और रुधिर के प्रवाह वाली वैतरणी नदी को ॥१९॥

असिपत्रवनं चैव भीमं पश्यसि रावण।
तप्तकाञ्चनपुष्पां च वैडूर्यप्रवरच्छदाम् ॥२०॥

द्रक्ष्यसे शाल्मलीं तीक्ष्णामायसैः कण्टकैश्चिताम् ।
न हि त्वमीदृशं कृत्वा तस्यालीकं महात्मनः ॥२१॥

और भयङ्कर असिपत्र वन नामक नरक को देखना चाहता है। तू तपाए हुए सुवर्ण के फूलों से पूर्ण और पन्नों के पत्रों वाले और नुकीले लोहे के काँटों से युक्त शाल्मली के वृक्ष को देखेगा। महात्मा श्रीराम का ऐसा अप्रिय कार्य कर ॥२०॥२१॥

[टिप्पणी—जो परदाराभिगमन करते हैं उन्हें मरने के अनन्तर यमलोक में कँटीले शाल्मली वृक्ष को आलिङ्गन करना पड़ता है।]

*चरितुं शक्ष्यसि चिरं विषं पीत्वेव निर्घृणः ।
बद्धस्त्वं कालपाशेन दुर्निवारेण रावण ॥२२॥

तू बहुत दिनों जीवित नहीं रह सकता। जैसे कोई विष पी कर बहुत दिनों तक नहीं जी सकता। हे निर्घृण रावण! अब तू दृढ़ काल पाश में बँध गया है ॥२२॥

क्व गतो लप्स्यसे शर्म भर्तुर्मम महात्मनः ।
निमेषान्तरमात्रेण विना भ्रात्रा महावने ॥२३॥

मेरे महात्मा भर्त्ता के सामने से भाग कर, तू कहाँ सुख पा सकता है! उन्होंने पलक मारते दण्डकवन में ही अपने भाई लक्ष्मण की सहायता के बिना अकेले ॥२३॥

राक्षसा निहता येन सहस्राणि चतुर्दश ।
स कथं राघवो वीरः सर्वास्त्रकुशलो बली ।
न त्वां हन्याच्छरैस्तीक्ष्णैरिष्टभार्यापहारिणम् ॥२४॥

चौदह हजार राक्षसों को मार डाला था। वे सब अस्त्रों के चलाने में निपुण एवं बलवान तथा वीर श्रीरामचन्द्र अपनी प्यारी भार्या के चोर तुझको अपने पैने बाणों से क्यों न मारेंगे? ॥२४॥

एतच्चान्यच्च परुषं वैदेही रावणाङ्कगा ।
भयशोकसमाविष्टा करुणं विललाप ह ॥२५॥

रावण की गोद में पड़ी हुई सीता, भय और शोक से पीड़ित हो, इस प्रकार के और भी अनेक कठोर वचन कह, करुण स्वर से विलाप करने लगी ॥२५॥

तथा भृशार्तां बहु चैव भाषिणीं
विलापपूर्वं करुणं च भामिनीम् ।
जहार पापः करुणं विवेष्टतीं
नृपात्मजामागतगात्रवेपथुम् ॥२६॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

जानकी जी बहुत घबड़ा कर, करुणा सहित विलाप कर अनेक कठोर वचन कहने लगीं। उस समय वह पापी रावण, भय से काँपता हुआ, छटपटाती सीता को लिये चला जाता था ॥२६॥

अरण्यकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

चतुःपञ्चाशः सर्गः

—❀—

ह्रियमाणा तु वैदेही कञ्चिन्नाथमपश्यती ।
ददर्श गिरिशृङ्गस्थान् पञ्च वानरपुङ्गवान् ॥१॥

इसी प्रकार हरी जाती हुई सीता ने, जब कोई अपना बचाने वाला न देखा, तब उसकी निगाह एक पर्वतशिखर पर बैठे हुए, पाँच वीर बंदरों पर पड़ी ॥१॥

तेषां मध्ये विशालाक्षी कौशेयं कनकप्रभम् ।
उत्तरीयं वरारोहा शुभान्याभरणानि च ॥२॥

उन विशालाक्षी वरारोहा जानकी जी ने सुवर्ण की तरह चमकीले चपई रंग के वस्त्र में बाँध अपने कुछ उत्तम गहनों को उन बंदरों के बीच में ॥२॥

मुमोच यदि रामाय शंसेयुरिति मैथिली ।
वस्त्रमुत्सृज्य तन्मध्ये निक्षिप्तं सहभूषणम् ॥३॥

यह समझ कर, गिरा दिया कि, ये वानर सम्भवतः सीता के हरण का संदेशा श्रीराम से कह दें। सीता जी के छोड़े हुए वे वस्त्र सहित आभूषण बंदरों के बीच में जा गिरे ॥३॥

सम्भ्रमात्तु दशग्रीवस्तत्कर्म न स बुद्धवान् ।
पिङ्गाक्षास्तां विशालाक्षीं नेत्रैरनिमिषैरिव ॥४॥

विक्रोशन्तीं तथा सीतां ददृशुर्वानरर्षभाः ।
स च पम्पामतिक्रम्य लङ्कामभिमुखः पुरीम् ॥५॥

सीता जी का यह कर्म, हडबडा मे रावण ने नहीं जान पाया । पीली आँखों वाले वे श्रेष्ठ वानर उच्च स्वर से चिल्लाती हुई सीता को विना पलक झपकाए अर्थात् टकटकी बाँधे देखते रहे । पम्पा नांघ लकापुर की ओर ॥४॥५॥

जगाम रुदतीं गृह्य वैदेहीं राक्षसेश्वरः ।
तां जहार सुसंहृष्टो रावणो मृत्युमात्मनः ॥६॥

राक्षसेश्वर रावण रोती हुई सीता को लिए हुए चला गया । उस समय रावण सीता रूपी अपनी मौत को लिये वैसे ही अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ चला जाता था ॥६॥

उत्सङ्गेनेव भुजगीं तीक्ष्णदंष्ट्रां महाविषाम् ।
वनानि सरितः शैलान् सरांसि च विहायसा ॥७॥

जैसे कोई पैने दांतो वाली और महाविषैली साँपिन को अपनी गोद मे ले प्रसन्न होता हो । अनेक वनों नदियों, पहाड़ों और झीलों को पीछे छोडता हुआ, रावण आगे बढता चला जाता था ॥७॥

स क्षिप्रं समतीयाय शरश्चापादिव च्युतः ।
तिमिनक्रनिकेतं तु वरुणालयमक्षयम् ॥८॥

वह ऐसी जल्दी चला जा रहा था, जैसे धनुष से छूटा बाण जाता है । तिमि (एक प्रकार की बडी भयङ्कर मछली) और घडियालों के निवासस्थान और वरुण के आवासस्थान सागर को भी रावण ने पार किया ॥८॥

सरितां शरणं गत्वा समतीयाय सागरम् ।
सम्भ्रमात्परिवृत्तोर्मी रुद्धमीनमहोरगः ॥९॥

उस समय सीता को हरी जाती देख, नदीनाथ समुद्र तरङ्गहीन हो गया और उसमें रहने वाले मत्स्य और सर्प घबड़ा उठे ॥९॥

वैदेह्यां ह्रियमाणायां बभूव वरुणालयः ।
अन्तरिक्षगता वाचः [1]ससृजुश्चारणास्तदा ॥१०॥

सीता जी के हरने पर समुद्र की तो यह दशा हुई । उधर आकाशस्थित चारणगण यह बात बोले, ॥१०॥

एतदन्तो दशग्रीव इति सिद्धास्तदाब्रुवन् ।
स तु सीतां विवेष्टन्तीमङ्केनादाय रावणः ॥११॥

बस अब रावण किसी प्रकार नहीं बच सकता । उस समय यही बात सिद्धों ने भी कही । रावण छटपटाती हुई सीता को गोदी में लिये ॥११॥

प्रविवेश पुरीं लङ्कां रूपिणीं मृत्युमात्मनः ।
सोऽभिगम्य पुरीं लङ्कां सुविभक्तमहापथाम् ॥१२॥

लङ्कापुरी में ले गया । वह सीता को नहीं ले गया बल्कि वह अपनी मृत्यु को ले गया । लङ्कापुरी बड़े बड़े चौराहों और चौड़ी चौड़ी सड़कों से सुशोभित थी ॥१२॥

संरुद्धकक्ष्याबहुलं स्वमन्तःपुरमाविशत् ।
तत्र तामसितापाङ्गां शोकमोहपरायणाम् ॥१३॥

---

[1] ससृजु—ऋचु । (गो०)

उसकी शालाएँ राक्षसजनों से भरी हुई थीं। रावण ने अपने अन्तःपुर में ले जाकर सीता को, जो शोक मोह से युक्त और परम सुन्दरी थीं, बैठा दिया ॥१३॥

निदधे रावणः सीतां मयो मायामिव स्त्रियम् ।
अब्रवीच्च दशग्रीवः पिशाचीर्घोरदर्शनाः ॥१४॥

उस समय ऐसा बोध हुआ मानो मयदानव अपनी पुरी में आसुरी माया ले आया है। रावण ने सीता को अपने रनवास में ठहरा, भयङ्कर सूरतवाली पिशाचिनों से कहा ॥१४॥

यथा नेमां पुमान् स्त्री वा सीतां पश्यत्यसम्मतः ।
मुक्तामणिसुवर्णानि वस्त्राण्याभरणानि च ॥१५॥

यद्यदिच्छेत्तदेवास्या देयं मच्छन्दतो यथा ।
या च वक्ष्यति वैदेहीं वचनं किञ्चिदप्रियम् ॥१६॥

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानान्न तस्या जीवितं प्रियम् ।
तथोक्त्वा राक्षसीस्तास्तु राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥१७॥

मेरी आज्ञा हुए बिना सीता को न कोई पुरुष और न कोई स्त्री ही देखने पावे। मोती मणि सुवर्ण वस्त्र, गहने आदि वस्तुओं में से सीता जो माँगे सो तुम मुझसे पूछे बिना उसे दे देना। जान कर अथवा अनजाने जो कोई सीता से कठोर वचन कहेगा, वह जान से मार डाला जायगा। प्रतापी रावण इस प्रकार उन राक्षसियों को आज्ञा दे ॥१५॥१६॥१७॥

निष्क्रम्यान्तःपुरात्तस्मात्किं कृत्यमिति चिन्तयन् ।
ददर्शाष्टौ महावीर्यान् राक्षसान् पिशिताशनान् ॥१८॥

अन्तःपुर से निकल सोचने लगा कि, अब क्या करना चाहिए। इस प्रकार सोचते विचारते उसने देखा कि, आठ मांसभक्षी और बड़े बलवान राक्षस बैठे हैं ॥१८॥

स तान् दृष्ट्वा महावीर्यो वरदानेन मोहितः ।
उवाचैतानिदं वाक्यं प्रशस्य बलवीर्यतः ॥१९॥

उन राक्षसों को देख और ब्रह्मा जी के वरदान से मोहित रावण, उनके बल और पराक्रम की प्रशंसा करता हुआ, उनसे यह बोला ॥१९॥

नानाप्रहरणाः क्षिप्रमितो गच्छत सत्वराः ।
जनस्थानं हतस्थानं भूतपूर्वं खरालयम् ॥२०॥

हे राक्षस लोगो ! अब तुम लोग तरह तरह के अस्त्र लेकर शीघ्र यहाँ से जनस्थान को, जहाँ पहिले खर रहा करता था और जो इस समय नष्ट हो गया है, जाओ ॥२०॥

तत्रोष्यतां जनस्थाने शून्ये निहतराक्षसे ।
पौरुषं बलमाश्रित्य त्रासमुत्सृज्य दूरतः ॥२१॥

और वहाँ जा कर रहो। क्योंकि वहाँ के राक्षसों के मारे जाने से वह स्थान शून्य हुआ पड़ा है। तुम लोग अपने पुरुषार्थ और बल के भरोसे वहाँ जा कर रहना और किसी बात से डरना मत ॥२१॥

बलं हि सुमहद्यन्मे जनस्थाने निवेशितम् ।
सदूषणखरं युद्धे हतं रामेण सायकैः ॥२२॥

मैंने जो जनस्थान में एक बड़ी सेना रखी थी, किन्तु राम ने अपने बाणों से खरदूषण सहित उसको मार डाला ॥२२॥

तुम सब लोग वहाँ बड़ी सावधानी से जाना और राम को मार डालने के लिए सदा प्रयत्नवान् बने रहना ॥२७॥

युष्माकं च बलज्ञोऽहं बहुशो रणमूर्धनि ।
अतश्चास्मिञ्जनस्थाने मया यूयं नियोजिताः ॥२८॥

रणक्षेत्र में मैं तुम लोगों के पराक्रम की अनेक बार परीक्षा कर चुका हूँ । इसीसे मैं तुम लोगों को जनस्थान में रहने के लिए नियुक्त करता हूँ ॥ २८॥

ततः प्रियं वाक्यमुपेत्य राक्षसा
महार्थमष्टावभिवाद्य रावणम् ।
विहाय लङ्कां सहिताः प्रतस्थिरे
यतो जनस्थानमलक्ष्यदर्शनाः ॥२९॥

रावण के इस प्रकार के मधुर और सारगर्भित वचन सुन, वे आठों राक्षस, को प्रणाम कर, और लङ्का छोड़, गुप्त रूप से जनस्थान को चल दिए ॥२९॥

ततस्तु सीतामुपलभ्य रावणः
सुसम्प्रहृष्टः परिगृह्य मैथिलीम् ।
प्रसज्य रामेण च वैरमुत्तमं
बभूव मोहात् मुदितः स राक्षसः ॥३०॥

उधर सीता को पा कर, रावण प्रसन्न हो, लङ्का में रहने लगा और श्रीराम के साथ वैर बाँध कर भी, वह भ्रान्तिवश प्रसन्न हुआ ॥३०॥

अरण्यकाण्ड का चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—ॐ—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—ॐ—

सदिश्य राक्षसान् घोरान् रावणोऽष्टौ महाबलान्।
आत्मानं [1]बुद्धिवैक्लव्यात्कृतकृत्यममन्यत ॥१॥

रावण ने महाबलवान आठ राक्षसों को जनस्थान में रहने के लिए भेज, अपने बुद्धिदौर्बल्य से, अपने को कृतकृत्य माना ॥१॥

स चिन्तयानो वैदेहीं कामबाणसमर्पितः।
प्रविवेश गृहं रम्यं सीतां द्रष्टुमभित्वरन् ॥२॥

और वह कामबाण से पीड़ित हो, सीता का स्मरण करता हुआ, सीता को देखने के लिए अपने रमणीक घर में गया ॥२॥

स प्रविश्य तु तद्वेश्म[2] रावणो राक्षसाधिपः।
अपश्यद्राक्षसीमध्ये सीतां शोकपरायणाम् ॥३॥

---

१ बुद्धिवैक्लव्यात्—बुद्धिदौर्बल्यात्। (गो०) २ समर्पित—पीड़ित। (गो०) वेश्म—अन्त पुर। (गो०)

राक्षसेश्वर रावण ने उस घर में प्रवेश कर दुःख से पीड़ित सीता को राक्षसियों के बीच में बैठे हुए देखा ॥३॥

अश्रुपूर्णमुखी दीनां शोकभाराभिपीडिताम् ।
वायुवेगैरिवाक्रान्तां मज्जन्ती नावमर्णवे ॥४॥

उस समय सीता जी शोक के भार से पीड़ित अत्यन्त उदास और नेत्रों से आँसू बहाती हुई बैठी थीं। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानों नाव, हवा के झोंके से उलट कर, जल में डूब रही हो ॥४॥

मृगयूथपरिभ्रष्टां मृगीं श्वभिरिवावृताम् ।
अधोमुखमुखीं सीतामभ्येत्य च निशाचरः ॥५॥

अथवा झुंड से छूटी हुई और कुत्तों से घिरी हुई हिरनी हो। उस समय नीचे सिर किए बैठी हुई सीता को रावण ने देखा ॥५॥

तां तु शोकपरां दीनामवशां राक्षसाधिपः ।
स बलाद्दर्शयामास गृहं देवगृहोपमम् ॥६॥

शोक से पीड़ित और उदास सीता जी की इच्छा न रहते भी रावण ने बरजोरी उनको अपना देवगृह तुल्य दिव्यभवन दिखलाया ॥६॥

हर्म्यप्रासादसम्बाधं स्त्रीसहस्रनिषेवितम् ।
नानापक्षिगणैर्जुष्टं नानारत्नसमन्वितम् ॥७॥

*दान्तैश्च तापनीयैश्च स्फाटिकै राजतैरपि ।
वज्रवैडूर्यचित्रैश्च स्तम्भैर्दृष्टिमनोहरैः ॥८॥

उस भवन के खम्भे हाथीदाँत, सुवर्ण, स्फटिक, चाँदी और वैडूर्य की नक्काशी के काम से भूषित और देखने मे वड़े मनोहर जान पड़ते थे ॥८॥

दिव्यदुन्दुभिनिर्हादं तप्तकाञ्चनतोरणम् ।
सोपानं काञ्चनं चित्रमारुरोह तया सह ॥९॥

(उस समय) सुरीली नौवत वज रही थी और दरवाजे पर सोने की वदनवारें लटक रही थीं । रावण सीता को लिये हुए सुवर्णनिर्मित विचित्र सीढियों पर चढा ॥९॥

दान्तिका राजताश्चैव गवाक्षाः प्रियदर्शनाः ।
हेमजालावृताश्चासंस्तत्र प्रासादपङ्क्तयः ॥१०॥

उस भवन की अटारियों के सुन्दर झरोखे हाथीदाँत और चाँदी के वने हुए थे । वहाँ पर वहुत सी ऐसी अटारियाँ वनी थीं, जिनमे सोने के जगले लगे हुए थे ॥१०॥

सुधामणिविचित्राणि भूमिभागानि सर्वशः ।
दशग्रीवः स्वभवने प्रादर्शयत मैथिलीम् ॥११॥

उन अटारियों के सव फर्श चूना के पक्के वने हुए थे और रंग विरंगे पत्थर जगह जगह जड़े हुए थे । इस प्रकार के अपने भवन को रावण ने जानकी को दिखलाया ॥११॥

[1]दीर्घिकाः पुष्करिण्यश्च नानावृक्षसमन्विताः ।
रावणो दर्शयामास सीतां शोकपरायणाम् ॥१२॥

---

१ दीर्घिका —वाप्य । (गो०)
* पाठान्तरे—"काञ्चनै", "दान्तकै" वा ।

शोकपरायणा सीता को रावण ने उस भवन में जगह जगह बनी हुई बावड़ी व पुष्करिणी, जिनके चारों ओर वृक्ष शोभायमान थे, दिखलाई ॥१२॥

दर्शयित्वा तु वैदेह्याः कृत्स्नं तद्भवनोत्तमम् ।
उवाच वाक्यं पापात्मा सीतां लोभितुमिच्छया ॥१३॥

अपने उस समस्त उत्तम भवन को रावण ने सीता को दिखलाया और सीता को लोभ में फँसाने के लिए वह पापी रावण बोला ॥१३॥

दश राक्षसकोट्यश्च द्वाविंशतिरथापराः ।
तेषां प्रभुरहं सीते सर्वेषां भीमकर्मणाम् ॥१४॥

हे सीते! मैं दस करोड़ और बाईस करोड़ अर्थात् बत्तीस करोड़ बड़े भयङ्कर काम करने वाले राक्षसों का स्वामी हूँ ॥१४॥

वर्जयित्वा जरावृद्धान् बालांश्च रजनीचरान् ।
सहस्रमेकमेकस्य मम कार्यपुरःसरम् ॥१५॥

बूढ़े और बालक राक्षसों को छोड़ कर, मेरे निज के एक हजार टहलुए हैं ॥१५॥

यदिदं राजतन्त्रं मे त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
जीवितं च विशालाक्षि त्वं मे प्राणैर्गरीयसी ॥१६॥

यह समस्त राजपरिकर तेरे ही अधीन है। हे विशालाक्षि! मेरा जीवन भी तेरे अधीन है। क्योंकि मैं तुझे अपने प्राणों से भी बढ़ कर प्रिय समझता हूँ ॥१६॥

बहूनां स्त्रीसहस्राणां मम योऽसौ परिग्रहः ।
तासां त्वमीश्वरा सीते मम भार्या भव प्रिये ॥१७॥

हे प्रिये सीते! मेरे रनवास में जो मेरी व्याही हुई स्त्रियाँ हैं, उन सब के ऊपर तू स्वामिनी बनो ॥१७॥

साधु किं तेऽन्यथा बुद्ध्या रोचयस्व वचो मम ।
भजस्व माऽभितप्तस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥१८॥

हे सीते! मैंने जो अभी कहा है उसे तू मान ले। क्योंकि मैंने जो कहा है वही ठीक है। तू इसके विपरीत यदि कुछ करेगी तो उसका कुछ फल न होगा। इस समय मैं काम से पीडित हो रहा हूँ सो मुझे अङ्गीकार कर, तू मेरे ऊपर प्रसन्न हो ॥१८॥

परिक्षिप्ता सहस्रेण लङ्केयं शतयोजना ।
नेयं धर्षयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥१९॥

सौ योजन के विस्तार वाली लङ्का चारों ओर एक हजार योजन तक समुद्र से घिरी है। अतः सब देवताओंसहित इन्द्र भी इसे जीत नहीं सकते ॥१९॥

न देवेषु न यक्षेषु न गन्धर्वेषु रक्षःसु* च ।
अहं पश्यामि लोकेषु यो मे वीर्यसमो भवेत् ॥२०॥

*पाठान्तरे—"पक्षिषु"।

क्या देवताओं में, क्या यक्षों में, क्या गन्धर्वों में और क्या नागों में, ऐसा कोई भी मुझे नहीं देख पड़ता, जो पराक्रम में मेरा सामना कर सके ॥२०॥

राज्यभ्रष्टेन दीनेन तापसेन गतायुषा ।
किं करिष्यसि रामेण मानुषेणाल्पतेजसा ॥२१॥

देखो, राज्य से च्युत, दीन, भिक्षुक, घूमने वाले, मनुष्य जाति और गतायु एवं अल्पतेज वाले श्रीराम को ले कर, तू क्या करेगी ? ॥२१॥

भजस्व सीते मामेव भर्ताहं सदृशस्तव ।
यौवनं ह्यध्रुवं भीरु रमस्वेह मया सह ॥२२॥

हे सीते! तू तो मुझे ही अपना, क्योंकि तेरे योग्य पति तो मैं ही हूँ। यह जवानी सदा नहीं रहती, अतः जब तक यह है तब तक तू मेरे साथ विहार कर ॥२२॥

दर्शने मा कृथा बुद्धिं राघवस्य वरानने ।
काऽस्य शक्तिरिहागन्तुमपि सीते मनोरथैः ॥२३॥

हे वरानने! अब तू श्रीराम से पुनः मिलने की आशा मत रख। क्योंकि ऐसी शक्ति किसमें है, जो कल्पना द्वारा भी, यहाँ आ सके ॥२३॥

न शक्यो वायुराकाशे पाशैर्बद्धुं महाजवः ।
दीप्यमानस्य चाप्यग्नेर्ग्रहीतुं विमलां शिखाम्* ॥२४॥

जिस तरह प्रचण्ड पवन को पाशों में बाँधना और अग्नि की शिखा को थामना असम्भव है, उसी तरह श्रीराम का यहाँ आना भी असम्भव है ॥२४॥

त्रयाणामपि लोकाना न त पश्यामि शोभने ।
विक्रमेण नयेद्यस्त्वां मद्बाहुपरिपालिताम् ॥२५॥

हे शोभने ! मैं तो तीनों लोकों मे ऐसा सामर्थ्य किसी मे नहीं देखता जो मेरी भुजा से रक्षित तुझको अपने पराक्रम द्वारा यहाँ से ले जाय ॥२५॥

लङ्कायां सुमहद्राज्यमिद त्वमनुपालय ।
त्वत्प्रेष्या मद्विधाश्चैव देवाश्चापि चराचराः ॥२६॥

अतएव तू अब इस लङ्का के विशाल राज्य का पालन कर, केवल मैं स्वय और देवता लोग ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण चराचर तेरे टहलुए होकर रहेंगे ॥२६॥

अभिषेकोदकक्लिन्ना तुष्टा च रमयस्व माम् ।
दुष्कृतं यत्पुरा कर्म वनवासेन तद्गतम् ॥२७॥

तू अपना अभिषेक करा कर और प्रसन्न हो कर मेरे साथ विहार कर । पूर्वजन्म के तेरे जो कुछ पाप थे, वे सब वनवास करने से नष्ट हो गए ॥२७॥

यश्च ते सुकृतो धर्मस्तस्येह फलमाप्नुहि ।
इह माल्यानि सर्वाणि दिव्यगन्धानि मैथिलि ॥२८॥

और जो पूर्वजन्म के पुण्यफल बाकी है, उनके फल को तू लङ्का में रह कर उपभोग कर । हे मैथिली ! यहाँ पर जो ये दिव्य मालाएं और चन्दनादि सुगन्धित पदार्थ है ॥२८॥

भूषणानि च मुख्यानि तेषामन्द च मया सह ।
पुष्पकं नाम सुश्रोणि भ्रातुर्वैश्रवणस्य मे ॥२९॥

क्या देवताओं में, क्या यक्षों में, क्या गन्धर्वों में और क्या नागों में, ऐसा कोई भी मुझे नहीं देख पड़ता, जो पराक्रम में मेरा सामना कर सके ॥२०॥

राज्यभ्रष्टेन दीनेन तापसेन गतायुषा ।
किं करिष्यसि रामेण मानुषेणाल्पतेजसा ॥२१॥

देखो, राज्य से च्युत, दीन, भिक्षुक, घूमने वाले, मनुष्य जाति और गतायु एवं अल्पतेज वाले श्रीराम को ले कर, तू क्या करेगी ? ॥२१॥

भजस्व सीते मामेव भर्ताहं सदृशस्तव ।
यौवनं ह्यध्रुवं भीरु रमस्वेह मया सह ॥२२॥

हे सीते ! तू तो मुझे ही अपना, क्योंकि तेरे योग्य पति तो मैं ही हूँ। यह जवानी सदा नहीं रहती, अतः जब तक यह है तब तक तू मेरे साथ विहार कर ॥२२॥

दर्शने मा कृथा बुद्धिं राघवस्य वरानने ।
काऽस्य शक्तिरिहागन्तुमपि सीते मनोरथैः ॥२३॥

हे वरानने ! अब तू श्रीराम से पुनः मिलने की आशा मत रख। क्योंकि ऐसी शक्ति किसमें है, जो कल्पना द्वारा भी, यहाँ आ सके ॥२३॥

न शक्यो वायुराकाशे पाशैर्बद्धं महाजवः ।
दीप्यमानस्य चाप्यग्नेर्ग्रहीतुं विमलां शिखाम्* ॥२४॥

जिस तरह प्रचण्ड पवन का पाशों से बाँधना और अग्नि की शिखा का थामना असम्भव है, उसी तरह श्रीराम का यहाँ आना भी असम्भव है ॥२४॥

---

* पाठान्तरे—"विमलाशिखा", "विमला. शिखाः" ।

त्रयाणामपि लोकानां न त पश्यामि शोभने ।
विक्रमेण नयेद्यस्त्वां मद्बाहुपरिपालिताम् ॥२५॥

हे शोभने ! मैं तो तीनों लोकों मे ऐसा सामर्थ्य किसी मे नहीं देखता जो मेरी भुजा से रक्षित तुझको अपने पराक्रम द्वारा यहाँ से ले जाय ॥२५॥

लङ्कायां सुमहद्राज्यमिदं त्वमनुपालय ।
त्वत्प्रेष्या मद्विधाश्चैव देवाश्चापि चराचराः ॥२६॥

अतएव तू अब इस लङ्का के विशाल राज्य का पालन कर, केवल मैं स्वय और देवता लोग ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण चराचर तेरे टहलुए होकर रहेंगे ॥२६॥

अभिषेकोदकक्लिन्ना तुष्टा च रमयस्व माम् ।
दुष्कृतं यत्पुरा कर्म वनवासेन तद्गतम् ॥२७॥

तू अपना अभिषेक करा कर और प्रसन्न हो कर मेरे साथ विहार कर । पूर्वजन्म के तेरे जो कुछ पाप थे, वे सब वनवास करने से नष्ट हो गए ॥२७॥

यश्च ते सुकृतो धर्मस्तस्येह फलमाप्नुहि ।
इह माल्यानि सर्वाणि दिव्यगन्धानि मैथिली ॥२८॥

और जो पूर्वजन्म के पुण्यफल बाकी हैं, उनके फल को तू लङ्का में रह कर उपभोग कर । हे मैथिली ! यहाँ पर जो ये दिव्य मालाए और चन्दनादि सुगन्धित पदार्थ हैं ॥२८॥

भूषणानि च मुख्यानि तेषामन्द च मया सह ।
पुष्पकं नाम सुश्रोणि भ्रातुर्वैश्रवणस्य मे ॥२९॥

और जो बढ़िया, बढ़िया आभूषण हैं, उन सब को, तू मेरे साथ विहार करके भोग। मेरे भाई कुबेर का पुष्पक नामक, ॥२६॥

विमानं सूर्यसङ्काशं तरसा निर्जितं मया।
विशालं रमणीयं च तद्विमानमनुत्तमम् ॥३०॥

तत्र सीते मया सार्धं विहरस्व यथासुखम्।
वदनं पद्मसङ्काशं विमलं चारुदर्शनम् ॥३१॥

शोकार्तं तु वरारोहे न भ्राजति वरानने।
एवं वदति तस्मिन् सा वस्त्रान्तेन वराङ्गना ॥३२॥

सूर्य के समान देदीप्यमान जो विमान है और जिसे मैंने संग्राम में जीत कर पाया है, वह विशालकाय, रमणीय और विमानों में उत्तम है। उसमें बैठ कर तू मेरे साथ सुखपूर्वक, विहार कर। हे वरानने! तेरा यह मुख जो कमल की तरह साफ और सुन्दर है, शोक के कारण मलिन होने से शोभित नहीं होता। जब रावण ने इस प्रकार कहा, तब सीता वस्त्र से ॥३०॥३१॥३२॥

पिधायेन्दुनिभं सीता मुखमश्रूण्यवर्तयत्।
ध्यायन्तीं तामिवास्वस्थां दीनां चिन्ताहतप्रभाम् ॥३३॥

चन्द्र के समान अपना मुख ढाँक कर रोने लगी। मारे चिन्ता के उनका मुख पीला पड़ गया। वह अत्यन्त उदास और अस्वस्थ सी हो, चिन्तामग्न हो गई ॥३३॥

उवाच वचनं पापो रावणो राक्षसेश्वरः।
अलं व्रीडेन वैदेहि धर्मलोपकृतेन च ॥३४॥

ऐसी दशा को प्राप्त सीता से पापी राक्षसेश्वर रावण कहने लगा। हे वैदेही! धर्मलोप हो जाने की शङ्का से तेरा लज्जित होना व्यर्थ है ॥३४॥

आर्षोऽयं दैवनिष्यन्दो यस्त्वामभिगमिष्यति ।
एतौ पादौ मया स्निग्धौ शिरोभिः परिपीडितौ ॥३५॥

क्योंकि राक्षसविवाह भी तो ऋषिप्रोक्त एक विवाह है। (यह अधर्म कार्य नहीं है) इस विवाह के द्वारा परपुरुष का संसर्ग प्रायश्चित्तार्ह नहीं है। देख मैं अपने दसों सिर, तेरे दोनों कोमल चरणों पर रखता हूँ ॥३५॥

प्रसादं कुरु मे क्षिप्रं वश्यो दासोऽहमस्मि ते ।
इमाः शून्या[1] मया वाचः शुष्यमाणेन[2] भाषिताः ।
न चापि रावणः काञ्चिन्मूर्ध्ना स्त्रीं प्रणमेत ह ॥३६॥

अब तू मेरे ऊपर तुरन्त प्रसन्न हो जा। मैं तेरा वशवर्ती दास हूँ। देख, मैंने काम से पीडित होने के कारण ही ऐसी अधीनता की बातें केवल तुझी से कही हैं। नहीं तो रावण ने आज तक कभी किसी स्त्री के पैरों पर अपने सिर नहीं रखे ॥३६॥

एवमुक्त्वा दशग्रीवो मैथिलीं जनकात्मजाम् ।
कृतान्तवशमापन्नो ममेयमिति मन्यते ॥३७॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥

[1] शून्या—[illegible] (गो०) [2] शुष्यमाणेन—[illegible] । ([illegible])

रावण, मृत्यु के वश होकर सीता से इस प्रकार कह कर, अपने मन में समझ बैठा कि, सीता मेरी हो गई ॥३७॥

अरण्यकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

षट्पञ्चाशः सर्गः

—❀—

सा तथोक्ता तु वैदेही निर्भया शोककर्शिता।
तृणमन्तरतः कृत्वा रावणं प्रत्यभाषत ॥१॥

रावण द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर शोक से पीड़ित सीता जी ने, तिनके का आड़ कर, निर्भय हो, रावण से कहा ॥१॥

राजा दशरथो नाम धर्मसेतुरिवाचलः[1]।
सत्यसन्धः परिज्ञातो[2] यस्य पुत्रः स राघवः ॥२॥

महाराज दशरथ जी, जो धर्म की अटल मर्यादा के स्थापन करने वाले थे और अपनी सत्यप्रतिज्ञा के लिए प्रसिद्ध थे, श्रीरामचन्द्र जी उन्हीं के पुत्र हैं ॥२॥

रामो नाम स धर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
दीर्घबाहुर्विशालाक्षो दैवतं हि पतिर्मम ॥३॥

वे श्रीराम भी धर्मात्मा कहा कर तीनों लोकों में विख्यात हैं। वे ही दीर्घबाहु और विशालाक्ष श्रीराम मेरे पति और देवता हैं ॥३॥

---

१ धर्मसेतु—मर्यादास्थापकः। (गो०) २ परिज्ञात—प्रसिद्ध। (गो०)

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा यस्ते प्राणान् हरिष्यति ॥४॥

वे इक्ष्वाकु के वंश मे उत्पन्न हुए हैं, उनके सिंहो जैसे कंधे हैं और वे बडे द्युतिमान् हैं। वे अपने भाई लक्ष्मण के सहित यहाँ आकर अवश्य ही तेरा वध करेंगे ॥४॥

प्रत्यक्षं यद्यहं तस्य त्वया स्यां धर्षिता बलात् ।
शयिता त्वं हतः सङ्ख्ये जनस्थाने यथा खरः ॥५॥

यदि कहीं उनकी उपस्थिति में तूने मुझे बलपूर्वक हरने का साहस भी किया होता तो तू आज युद्ध मे मारा जाकर, जनस्थान मे खर को तरह, भूमि पर पडा (अनन्त निन्द्रा मे) सोता होता ॥५॥

य एते राक्षसाः प्रोक्ता घोररूपा महाबलाः ।
राघवे निर्विषाः[1] सर्वे सुपर्णे पन्नगा यथा ॥६॥

तू जिन भयङ्कर महाबली राक्षसो का बखान कर चुका है, वे सब श्रीराम के सामने जाते ही उसी प्रकार निर्वीर्य (बलहीन) हो जायँगे, जिस प्रकार गरुड के सामने जाने पर बडे बड़े विषधर सर्प विषहीन हो जाते हैं ॥६॥

तस्य ज्याविप्रमुक्तास्ते शराः काञ्चनभूषणाः ।
शरीरं विधमिष्यन्ति गङ्गाकूलमिवोर्मयः ॥७॥

श्रीराम के धनुष से छूटे हुए सुवर्णभूषित बाण, राक्षसो के शरीर को उसी प्रकार वेध डालेंगे, जिस प्रकार गङ्गा की लहरें किनारों को ध्वस्त कर डालती हैं ॥७॥

१ निर्विषाः—निर्वीर्या इति रामवर्मा । (गो०)

असुरैर्वा सुरैर्वा त्वं यद्यवध्योऽसि रावण ।
उत्पाद्य सुमहद्वैरं जीवंस्तस्य न मोक्ष्यसे ॥८॥

हे रावण! यद्यपि तू देवताओं और असुरों से अवध्य है, तथापि श्रीराम से वैर बाँध, तू जीता नहीं बच सकेगा ॥८॥

स ते जीवितशेषस्य राघवोऽन्तकरो बली ।
पशोर्यूपगतस्येव जीवितं तव दुर्लभम् ॥९॥

बलवान् श्रीराम ही तेरे बचे हुए जीवन का समय पूरा कर देंगे। यज्ञस्तम्भ में बँधे हुए पशु की तरह, अब तेरा जीना दुर्लभ है ॥९॥

यदि पश्येत्स रामस्त्वां रोषदीप्तेन चक्षुषा ।
रक्षस्त्वमद्य निर्दग्धो गच्छेः सद्यः पराभवम् ॥१०॥

यदि श्रीरामचन्द्र क्रोध से प्रज्वलित अपने नेत्रों से तुझे देख ही दें, तो हे राक्षस! तू अभी भस्म होकर, पराभव को प्राप्त हो जाय ॥१०॥

यश्चन्द्रं नभसो भूमौ पातयेन्नाशयेत वा ।
सागरं शोषयेद्वापि स सीतां मोचयेदिह ॥११॥

जो श्रीरामचन्द्र आकाश से चन्द्रमा को भूमि पर गिरा या नष्ट कर सकते हैं और समुद्र का जल सुखा सकते हैं, वे ही श्रीरामचन्द्र सीता को यहाँ से छुडावेंगे ॥११॥

गतासुस्त्वं गतश्रीको गतसत्त्वो गतेन्द्रियः ।
लङ्का वैधव्यसंयुक्ता त्वत्कृतेन भविष्यति ॥१२॥

तेरे किए हुए परदाराभिमर्शन रूपी पापी से तेरा आयु बीत चुका। तेरी श्री नष्ट हो चुकी, तेरा बल नष्ट हो चुका और तेरी इन्द्रियाँ भी अपने अपने कामों से जवाब दे चुकीं। तेरी यह लङ्का भी अब शीघ्र ही विधवा होने वाली है ॥१२॥

[टिप्पणी—पराई स्त्री के साथ खोटा कर्म करने से स्मृतियों के अनुसार मनुष्य की आयु उसका बल, यश और उसकी लक्ष्मी तुरन्त नष्ट हो जाती है। यथा

आयुर्बल यशो लक्ष्मी परदाराभिमर्शनात् सद्यएव विनश्यन्ति।]

न ते पापमिदं कर्म सुखोदर्कं भविष्यति।
याहं नीता विनाभावं[१] पतिपार्श्वात्त्वया वने ॥१३॥

तूने जो यह पापकर्म किया है, सो इसका परिणाम कभी सुखदायी नहीं हो सकता। क्योंकि तूने वन में रहते हुए, मेरा वियोग मेरे पति से करवाया है ॥१३॥

स हि दैवतसंयुक्तो मम भर्ता महाद्युतिः।
निर्भयो वीर्यमाश्रित्य शून्ये वसति दण्डके ॥१४॥

मेरे वह महाद्युति स्वामी अपने भाई लक्ष्मण के साथ केवल अपने पराक्रम से, निर्भय हो, निर्जन वन में वास करते हैं ॥१४॥

स ते दर्पं बलं वीर्यमुत्सेकं[२] च तथाविधम्।
अपनेष्यति गात्रेभ्यः शरवर्षेण संयुगे ॥१५॥

वह संग्राम में बाणों की वर्षा करके तेरी देह से, तेरे अभिमान, बल और पराक्रम और मर्यादाहीन कर्म करने की तेरी प्रवृत्ति को दूर कर देंगे ॥१५॥

---

[१] विनाभावं—वियोगं। (गो०) [२] उत्सेकं—उत्सेकः दर्पकारित्वं। (गो०)

यदा विनाशो भूतानां दृश्यते कालचोदितः ।
तदा कार्ये प्रमाद्यन्ति नराः कालवशं गताः ॥१६॥

मृत्यु के वश होने के कारण जब प्राणियों का नाश निकट आ जाता है, तब वे काल के वश हो कार्यों मे प्रमाद करने लगते हैं ॥१६॥

मा प्रधृष्य स ते कालः प्राप्तोऽयं राक्षसाधम ।
आत्मनो राक्षसानां च वधायान्तःपुरस्य च ॥१७॥

हे राक्षसाधम ! मेरी धर्षणा से तेरी मौत निकट आ पहुँची है । अब तेरा, तेरे राक्षसों का और तेरे अन्त पुरवासियो का वध होगा ॥१७॥

न शक्या यज्ञमध्यस्था वेदिः स्रुग्भाण्डमण्डिता ।
द्विजातिमन्त्रपूता च चण्डालेनाभिमर्शितुम् ॥१८॥

जिस प्रकार स्रुवा तथा अन्य यज्ञपात्रो से भूषित और ब्राह्मणों से मन्त्र द्वारा पवित्र की हुई यज्ञवेदी चाण्डाल के छूने योग्य नहीं होती ॥१८॥

[टिप्पणी—यहाँ छुआछूत का प्रमाण स्पष्ट उल्लिखित किया हुआ मिलता है जो प्राचीन संस्कृति के अनुकूल हो]

तथाऽहं धर्मनित्यस्य धर्मपत्नी पतिव्रता ।
त्वया स्प्रष्टुं न शक्याऽस्मि राक्षसाधम पापिना ॥१९॥

उसी प्रकार उन धर्मतत्पर श्रीरामचन्द्र जी की पतिव्रता धर्मपत्नी तुम जैसे राक्षसाधम पापी के छूने योग्य नहीं है ॥१९॥

क्रीडन्ती राजहंसेन पद्मषण्डेषु नित्यदा ।
हंसी सा तृणषण्डस्थं कथं पश्येत मद्गुकम् ॥२०॥

चारुहासिनी (सुन्दर हँसी हँसने वाली)! यदि तू मुझे स्वीकार न करेगी तो मेरे रसोइये, मेरे प्रातःकालीन भोजन (कलेवा) के लिए तेरे शरीर के टुकड़े टुकड़े कर डालेंगे ॥२५॥

इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणः शत्रुरावणः ।
राक्षसीश्च ततः क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥२६॥

शत्रु को रुलाने वाला रावण सीता से ऐसे कठोर वचन कह कर क्रोध में भर, राक्षसियों से यह वचन बोला ॥२६॥

शीघ्रमेव हि राक्षस्यो विकृता घोरदर्शनाः ।
दर्पमस्या विनेष्यन्तु मांसशोणितभोजनाः ॥२७॥

हे विकटरूपा! हे भयङ्कर रूपवाली! हे रक्तमांस खाने वाली राक्षसियों! तुम सब इस सीता का गर्व दूर करो ॥२७॥

वचनादेव तास्तस्य सुघोरा राक्षसीगणाः ।
कृतप्राञ्जलयो भूत्वा मैथिलीं पर्यवारयन् ॥२८॥

भयङ्कर सूरत वाली राक्षसियों ने यह सुन, तत्क्षण (रावण को) हाथ जोड़ और जो आज्ञा कह, सीता जी को घेर लिया ॥२८॥

स तां प्रोवाच राजा तु रावणो घोरदर्शनः ।
प्रचाल्य चरणोत्कर्षैर्दारयन्निव मेदिनीम् ॥२९॥

यह देख, रावण मानों अपनी चाल से पृथिवी को कंपा और विदीर्ण करता हुआ, कुछ पग चल कर उन राक्षसियों से फिर कहने लगा ॥२९॥

अशोकवनिकामध्ये मैथिली नीयतामियम् ।
तत्रेयं रक्ष्यतां गूढ युष्माभिः परिवारिता ॥३०॥

इस सीता को तुम लोग अशोकवाटिका मे ले जाओ और वहाँ इसको घेर कर गूढ भाव से सदा इसकी रखवाली किया करो ॥३०॥

तत्रैनां तर्जनैर्घोरैः पुनः सान्त्वैश्च मैथिलीम् ।
आनयध्वं वशं सर्वा वन्यां गजवधूमिव ॥३१॥

जगली हथिनी जिस प्रकार वश मे की जाती है, उसी प्रकार तुम सब भी खूब डरा धमका कर और फिर धीरज बँधा कर, इसे मेरे वश मे करो ॥३१॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षस्यो रावणेन ताः ।
अशोकवनिकां जग्मुर्मैथिलीं प्रतिगृह्य तु ॥३२॥

जब रावण ने इस प्रकार उनको आज्ञा दी, तब वे राक्षसियाँ सीता जी को अपने साथ ले, अशोक वाटिका मे चली गई ॥३२॥

सर्वकालफलैर्वृक्षैर्नानापुष्पफलैर्वृताम् ।
सर्वकालमदैश्चापि द्विजैः समुपसेविताम् ॥३३॥

वह अशोक वाटिका ऐसे वृक्षों से युक्त थी, जिनमे सदैव फल फला करते और तरह तरह के फूल फूला करते थे और जिन पर सदा मतवाले हो भाँति भाँति के पक्षी रहा करते थे ॥३३॥

सा तु शोकपरीताङ्गी मैथिली जनकात्मजा ।
राक्षसीवशमापन्ना व्याघ्रीणां हरिणी यथा ॥३४॥

उस समय शोक से कर्षित और राक्षसियों के पाले पड़ी हुई सीता की वही दशा थी, जो दशा हिरनी की बाघिन के पाले पड़ने पर होती है ॥३४॥

> शोकेन महता ग्रस्ता मैथिली जनकात्मजा ।
> न शर्म लभते भीरुः पाशबद्धा मृगी यथा ॥३५॥

बड़े भारी शोक में पड़ी हुई जनकदुलारी मैथिली को फन्दे में फँसी हुई हिरनी की तरह, अशोकवाटिका में जरा भी सुख न मिला ॥३५॥

> न विन्दते तत्र तु शर्म मैथिली
> विरूपनेत्राभिरतीव तर्जिता ।
> पतिं स्मरन्ती दयितं च देवरं
> विचेतनाऽभूद्भयशोकपीडिता ॥३६॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

विकट नेत्र वाली राक्षसियों से डराई धमकाई जाने के कारण अत्यन्त भयभीत हो, जानकी जी को कुछ भी आराम न मिला और अपने प्यारे पति और देवर को स्मरण करती हुई सीता जी अचेत सी हो गयीं ॥३६॥

अरण्यकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

[टिप्पणी—सीता को लङ्का की अशोकवाटिका में पहुँचा आदिकवि अब सिंहावलोकन करते पुनः लौटते हैं और मारीच के पीछे गए राम का आगे का वृत्तान्त लिखते हैं ।]

— ० —

सप्तपञ्चाशः सर्गः

—❀—

राक्षसं मृगरूपेण चरन्तं कामरूपिणम् ।
निहत्य रामो मारीच तूर्ण पथि निवर्तते ॥१॥

उस ओर श्रीरामचन्द्र जी मृग-रूप धर कर, विचरण करने वाले कामरूपी राक्षस मारीच को मार, शीघ्र ही आश्रम की ओर लौटे ॥१॥

तस्य सत्वरमाणस्य द्रष्टुकामस्य मैथिलीम् ।
क्रूरस्वनोऽथ गोमायुर्विननादास्य पृष्ठतः ॥२॥

जिस समय श्रीरामचन्द्र जी बड़ी शीघ्रता के साथ सीता जी को देखने के लिए लौट रहे थे उस समय उनकी पीठ के पीछे शृगाल महाकठोर शब्द करके चिल्लाने लगा ॥२॥

स तस्य स्वरमाज्ञाय दारुणं रोमहर्षणम् ।
चिन्तयामास गोमायोः स्वरेण परिशङ्कितः ॥३॥

उस गीदड़ का वह रोमाञ्चकारी और दारुण शब्द सुन, श्रीरामचन्द्र जी के मन में शङ्का उत्पन्न हो गई और वे चिन्तित हुए ॥३॥

अशुभं बत मन्येऽहं गोमायुर्वाश्यते यथा ।
स्वस्ति स्यादपि वैदेह्या राक्षसैर्भक्षणं विना ॥४॥

(मन ही मन) उन्होंने कहा जिस प्रकार का शब्द गीदड़ कर रहा है, इससे तो जान पड़ता है कि, कोई अशुभ होगा। कहीं राक्षसों ने सीता को खा न डाला हो। अब तो सीता को सकुशल देख कर ही मेरे जी में जी आवेगा ॥४॥

मारीचेन तु विज्ञाय स्वरमालम्ब्य मामकम्।
विक्रुष्टं मृगरूपेण लक्ष्मणः शृणुयाद्यदि ॥५॥

मृगरूपधारी मारीच जो मेरी बोली बना लक्ष्मण और सीता का नाम ले पुकारा था, उसे यदि लक्ष्मण ने सुना होगा ॥५॥

स सौमित्रिः स्वरं श्रुत्वा तां च हित्वा च मैथिलीम्।
तयैव प्रहितः क्षिप्रं मत्सकाशमिहैष्यति ॥६॥

तो लक्ष्मण उस पुकार को सुन और सीता जी द्वारा प्रेरित हो तथा सीता को (अकेली) छोड़, शीघ्र ही मेरे पास आवेगा ॥६॥

राक्षसैः सहितैर्नूनं सीताया ईप्सितो वधः।
काञ्चनश्च मृगो भूत्वा व्यपनीयाश्रमात्तु माम् ॥७॥

मारीच सोने का मृग बन, मुझे आश्रम से इतनी दूर बहका लाया। इससे जान पड़ता है कि, राक्षस मिल कर, निश्चय ही सीता का वध करना चाहते हैं ॥७॥

दूरं नीत्वा तु मारीचो राक्षसोऽभूच्छराहतः।
हा लक्ष्मण हतोऽस्मीति यद्वाक्यं व्याजहार च ॥८॥

आश्रम से मुझे इतनी दूर ले जाकर और मेरे बाण से घायल होकर, उसका—"हा लक्ष्मण! मैं मारा गया" कहना—(अवश्य राक्षसों द्वारा रचे गए षड्यन्त्र का सूचक है।) ॥८॥

अपि स्वस्ति भवेत्ताभ्यां रहिताभ्यां महावने ।
जनस्थाननिमित्तं हि कृतवैरोऽस्मि राक्षसैः ॥९॥

इस महावन में मेरे वहाँ से चले आने पर, उन दोनों का मङ्गल हो। जनस्थान निवासी राक्षसों का वध करने के कारण, अब तो राक्षसो से वैर बँध ही गया है ॥९॥

निमित्तानि च घोराणि दृश्यन्तेऽद्य बहूनि च ।
इत्येवं चिन्तयन् रामः श्रुत्वा गोमायुनिःस्वनम् ॥१०॥

तिस पर मुझे बहुत से बड़े बुरे अशकुन दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी मन ही मन सोचते विचारते और गीदड़ों का चीत्कार सुनते आश्रम की ओर लौटे ॥१०॥

आत्मनश्चापनयनात् मृगरूपेण रक्षसा ।
आजगाम जनस्थानं राघवः परिशङ्कितः ॥११॥

वे बार बार अपने मन में यही सोचते विचारते थे कि, देखो मृगरूपी राक्षस आश्रम से मुझे कितनी दूर ले आया ऐसा सोचते और शङ्कित होते श्रीरामचन्द्र जनस्थान में पहुँचे ॥११॥

तं दीनमनसो दीनमासेदुर्मृगपक्षिणः ।
सव्यं कृत्वा महात्मानं घोरांश्च ससृजुः स्वरान् ॥१२॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी को उदास देख, सब मृग और पक्षी स्वयं उदास हो उनके पास गए और बाईं ओर से रास्ता काट कर, घोर [illegible] करने लगे ॥१२॥

तानि दृष्ट्वा निमित्तानि महाघोराणि राघवः ।
न्यवर्तताथ [१]त्वरितो जवेना[२]श्रममात्मनः ॥१३॥

श्रीरामचन्द्र इन महाभयङ्कर अपशकुनों को देख कर ह बड़ा कर, शीघ्रतापूर्वक अपने आश्रम को लौटने लगे ॥१३॥

स तु सीतां वरारोहां लक्ष्मणं च महाबलम् ।
आजगाम जनस्थानं चिन्तयन्नेव राघवः ॥१४॥

वरारोहा सीता और महाबली लक्ष्मण के लिए वे चिन्ता करते हुए जनस्थान में पहुँचे ॥१४॥

ततो लक्ष्मणमायान्तं ददर्श विगतप्रभम् ।
ततोऽविदूरे रामेण समीयाय[३] स लक्ष्मणः ॥१५॥

रास्ते में श्रीरामचन्द्र ने, उदास लक्ष्मण को अपनी ओर आते हुए देखा । जब लक्ष्मण निकट आ गए ॥१५॥

विषण्णः सुविषण्णेन दुःखितो दुःखभागिना ।
सञ्जगर्हेऽथ तं भ्राता ज्येष्ठो लक्ष्मणमागतम् ॥१६॥

विहाय सीतां विजने वने राक्षससेविते ।
गृहीत्वा च करं सव्यं लक्ष्मणं रघुनन्दनः ॥१७॥

तब विषादित और दुःखित हो श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी की, जो विषादयुक्त और दुःखी हो रहे थे, उस निर्जन वन में सीता को अकेली छोड़ आने के लिए निन्दा की । श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण का बायाँ हाथ पकड़ कर ॥१६॥१७॥

---

१ त्वरितः—मानसिकत्वरासहितः । (गो०) २ जवेन—कायिकत्वरया । (गो०) ३ समीयाय—सङ्गतः । (गो०)

उवाच मधुरोदर्कमिदं परुषमार्तिमत् ।
अहो लक्ष्मण गर्ह्यं ते कृतं यस्त्वं विहाय ताम् ॥१८॥

सीतामिहागतः सौम्य कच्चित्स्वस्ति भवेदिह ।
न मेऽस्ति संशयो वीर सर्वथा जनकात्मजा ॥१९॥

आर्त की तरह कुछ कोमलतायुक्त, कठोर वचन कहे—हे लक्ष्मण ! तुमने यह बहुत बुरा काम किया जो तुम उस सीता को अकेली छोड़, यहाँ चले आए। हे सौम्य ! तुम्हारा इस करतूत से क्या सीता की भलाई होगी ? हे वीर ! मुझे तो इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं है कि, सीता को ॥१८॥१९॥

विनष्टा भक्षिता वापि राक्षसैर्वनचारिभिः ।
अशुभान्येव भूयिष्ठं यथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥२०॥

वनचारी राक्षसों ने या तो मार डाला या खा डाला। क्योंकि ये सब अपशकुन इसी बात के सूचक हैं ॥२०॥

अपि लक्ष्मण सीतायाः सामग्र्यं प्राप्नुयावहे ।
जीवन्त्याः* पुरुषव्याघ्र सुताया जनकस्य वै ॥२१॥

हे लक्ष्मण ! हे पुरुषव्याघ्र ! मैं जनकदुलारी सीता को जीता और सकुशल देख सकूंगा कि नहीं ? ॥२१॥

यथा वै मृगसङ्घाश्च गोमायुश्चैव भैरवम् ।
वाश्यन्ते शकुनाश्चापि प्रदीप्तामभितो दिशम् ।
अपि स्वस्ति भवेत्तस्या राजपुत्र्या महाबल ॥२२॥

हे महाबली! ये मृग समूह, गीदड़ और पक्षी सूर्य की ओर मुह उठा ऐसा शब्द कर रहे हैं, जिससे जान पडता है कि, राजपुत्री सीता के कुशल होने मे सन्देह है ॥२२॥

इदं हि रक्षो मृगसन्निकाशं
प्रलोभ्य मां दूरमनुप्रयातम् ।
हतं कथञ्चिन्महता श्रमेण
स राक्षसोऽभून्म्रियमाण एव ॥२३॥

वह राक्षस जो मृग का रूप धर मुझे भुलावा दे आश्रम से बहुत दूर ले गया, वह किसी प्रकार बड़े श्रम से मारा गया, मरते समय उसने निज राक्षस रूप धारण किया था ॥२३॥

मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं
चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम् ।
असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता
हृता मृता वा पथि वर्तते वा ॥२४॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण! इस समय मेरा मन बहुत उदास है और घबड़ा रहा है। बाइँ आँख भी फड़क रही है। हे लक्ष्मण! निस्सन्देह सीता अब आश्रम में नहीं है। या तो कोई उसे हर कर ले गया, या वह मर गई अथवा रास्ते मे कहीं होगी ॥२४॥

अरण्यकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

— ✿ —

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—※:—

स दृष्ट्वा लक्ष्मणं दीनं शून्ये दशरथात्मजः ।
पर्यपृच्छत धर्मात्मा वैदेहीमागतं विना ॥१॥

धर्मात्मा दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ने उस निर्जनवन में लक्ष्मण को सीता के बिना आया हुआ देख, उनसे पूछा ॥१॥

प्रस्थितं दण्डकारण्यं या मामनुजगाम ह ।
क सा लक्ष्मण वैदेही यां हित्वा त्वमिहागतः ॥२॥

हे लक्ष्मण ! दण्डकारण्य में आते समय मेरे साथ आ रही थी और जिसे छोड़ तुम यहाँ आए हो, वह वैदेही कहाँ है ? ॥२॥

राज्यभ्रष्टस्य दीनस्य दण्डकान् परिधावतः ।
क सा दुःखसहाया मे वैदेही तनुमध्यमा ॥३॥

राज्य से भ्रष्ट, दीन और दण्डकवन में घूमते हुए जो मेरे दुःख की साथिन है, वह क्षीण कटि-वाली सीता कहाँ है ॥३॥

या विना नोत्सहे वीर मुहूर्तमपि जीवितुम् ।
क सा प्राणसहाया मे सीता [१]सुरसुतोपमा ॥४॥

---

[१] सुरसुता—सुरस्त्री । (गो०)

हे महाबली! ये मृग समूह, गीदड़ और पक्षी सूर्य की ओर मुंह उठा ऐसा शब्द कर रहे हैं, जिससे जान पड़ता है कि, राज-पुत्री सीता के कुशल होने में सन्देह है ॥२२॥

इदं हि रक्षो मृगसन्निकाशं
प्रलोभ्य मां दूरमनुप्रयातम् ।
हतं कथञ्चिन्महता श्रमेण
स राक्षसोऽभून्म्रियमाण एव ॥२३॥

वह राक्षस जो मृग का रूप धर मुझे भुलावा दे आश्रम से बहुत दूर ले गया, वह किसी प्रकार बड़े श्रम से मारा गया, मरते समय उसने निज राक्षस रूप धारण किया था ॥२३॥

मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं
चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम् ।
असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता
हृता मृता वा पथि वर्तते वा ॥२४॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण! इस समय मेरा मन बहुत उदास है और घबड़ा रहा है। बाईं आँख भी फड़क रही है। हे लक्ष्मण! निस्सन्देह सीता अब आश्रम में नहीं है। या तो कोई उसे हर कर ले गया, या वह मर गई अथवा रास्ते में कहीं होगी ॥२४॥

अरण्यकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

— ✿ —

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—:*:—

स दृष्ट्वा लक्ष्मणं दीनं शून्ये दशरथात्मजः ।
पर्यपृच्छत धर्मात्मा वैदेहीमागतं विना ॥१॥

धर्मात्मा दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ने उस निर्जनवन में लक्ष्मण को सीता के बिना आया हुआ देख, उनसे पूछा ॥१॥

प्रस्थितं दण्डकारण्यं या मामनुजगाम ह ।
क्व सा लक्ष्मण वैदेही यां हित्वा त्वमिहागतः ॥२॥

हे लक्ष्मण ! दण्डकारण्य में आते समय मेरे साथ आ रही थी और जिसे छोड़ तुम यहाँ आए हो, वह वैदेही कहाँ है ? ॥२॥

राज्यभ्रष्टस्य दीनस्य दण्डकान् परिधावतः ।
क्व सा दुःखसहाया मे वैदेही तनुमध्यमा ॥३॥

राज्य से भ्रष्ट, दीन और दण्डकवन में घूमते हुए जो मेरे दुःख की साथिन है, वह क्षीण कटि-वाली सीता कहाँ है ॥३॥

यां विना नोत्सहे वीर मुहूर्तमपि जीवितुम् ।
क्व सा प्राणसहाया मे सीता [1]सुरसुतोपमा ॥४॥

---

१ सुरसुता—देवकन्या । (गो०)

हे वीर! जिसके बिना मैं क्षण भर भी जीता नहीं रह सकता वह मेरे प्राणों की आधार और देवकी के समान सीता कहाँ है? ॥४॥

पतित्वममराणां वा पृथिव्याश्चापि लक्ष्मण।
तां विना [1]तपनीयाभां नेच्छेयं जनकात्मजाम् ॥५॥

हे लक्ष्मण! मैं उस सुवर्ण-वर्णा जनकात्मजा के बिना, स्वर्ग का राज्य या भूमण्डल का राज्य नहीं चाहता ॥५॥

कच्चिज्जीवति वैदेही प्राणैः प्रियतरा मम।
कच्चित्प्रव्राजनं सौम्य न मे मिथ्या भविष्यति ॥६॥

हे सौम्य! मेरी प्राणों से भी अधिक प्यारी वैदेही क्या अभी तक जीवित है? कहीं मेरी चौदह वर्ष वन में रहने की प्रतिज्ञा तो मिथ्या नहीं हो जायगी? ॥६॥

सीतानिमित्तं सौमित्रे मृते मयि गते त्वयि।
कच्चित्सकामा सुखिता कैकेयी सा भविष्यति ॥७॥

हे लक्ष्मण! सीता के पीछे मेरे प्राण त्यागने पर और तुम्हारे अयोध्या लौट कर जाने पर, क्या कैकेयी सफल मनोरथ और सुखी होगी? ॥७॥

सपुत्रराज्यां सिद्धार्थां मृतपुत्रा तपस्विनी[2]।
उपस्थास्यति कौसल्या कच्चित्सौम्य न कैकयीम् ॥८॥

---

१ तपनीयं—स्वर्णं। (गो०) २ तपस्विनी—शोच्या। (गो०)
३ ह्वा—परेता। (गो०)

हे सौम्य ! क्या पुरी कौसल्या मृत-पुत्र हो जाने पर अपने पुत्र के राज्य पाने से हर्षित और सफल मनोरथ कैकेयी की टहल कभी करेगी ॥८॥

यदि जीवति वैदेही गमिष्याम्याश्रमं पुनः ।
सुवृत्ता[1] यदि वृत्ता[2] सा प्राणांस्त्यक्ष्यामि लक्ष्मण ॥९॥

हे लक्ष्मण ! यदि सीता जीती होगी तो मैं आश्रम में जाऊँगा और यदि वह पतिव्रता जीवित न हुई, तो मैं अपनी जान दे दूँगा ॥९॥

यदि मामाश्रमगतं वैदेही नाभिभाषते ।
पुनः प्रहसिता सीता विनशिष्यामि लक्ष्मण ॥१०॥

हे लक्ष्मण ! यदि आश्रम में जाने पर सीता पूर्ववत् हँस कर मुझसे बातचीत न करेगी तो मैं मर जाऊँगा ॥१०॥

ब्रूहि लक्ष्मण वैदेही यदि जीवति वा न वा ।
त्वयि प्रमत्ते रक्षोभिर्भक्षिता वा तपस्विनी ॥११॥

हे लक्ष्मण ! तुम सच सच मुझे बतलाओ कि, सीता जीती है कि नहीं ? अथवा रक्षा करने में तुम्हारी असावधानी होने के कारण राक्षसों ने उसे खा डाला ! ॥११॥

सुकुमारी च बाला च नित्यं चादुःखदर्शिनी ।
मद्वियोगेन वैदेही व्यक्तं शोचति दुर्मनाः ॥१२॥

हे लक्ष्मण ! वह सुकुमारी और बाला सीता, जिसने दुःख कभी नहीं सहे, मेरे वियोग में उदास हो चिन्ताग्रस्त होगी ॥१२॥

---

[1] सुवृत्ता—साध्वी। (गो०) [2] वृत्ता—मृता। (गो०)

सर्वथा रक्षसा तेन जिह्मेन सुदुरात्मना ।
वदता लक्ष्मणेत्युच्चैस्तवापि जनितं भयम् ॥१३॥

अतिशय दुष्ट राक्षस मारीच ने उच्च स्वर से "हा लक्ष्मण मैं मारा गया" पुकार कर, तुमको धोखा दिया और तुम्हारे मन में भय उत्पन्न किया ॥१३॥

श्रुतस्तु शङ्के वैदेह्या स स्वरः सदृशो मम ।
त्रस्तया प्रेषितस्त्वं च द्रष्टुं मां शीघ्रमागतः ॥१४॥

सीता ने भी मेरे समान कण्ठस्वर को सुन कर और डर कर शङ्कित हो तुमको मेरे निकट भेजा और तुम भी मुझे देखने के लिए तुरन्त चले आए ॥१४॥

सर्वथा तु कृत कष्टं सीतामुत्सृजता वने ।
प्रतिकर्तुं नृशमानां रक्षसा दत्तमन्तरम् ॥१५॥

हे लक्ष्मण ! तुमने जानकी को वन में अकेली छोड़ कर अच्छा काम नहीं किया । तुमने यहाँ आकर उन नृशंस राक्षसों को मुझसे बदला लेने का अवसर दिया ॥१५॥

दुःखिताः खरघातेन राक्षसाः पिशिताशनाः ।
तैः सीता निहता घोरैर्भविष्यति न संशयः ॥१६॥

मेरे द्वारा खर के मारे जाने से मांसभोजी राक्षसगण दुःखित हैं । उन घोर राक्षसों ने अवश्य सीता को मार डाला होगा ॥१६॥

जिह्मेन—कपटेन । (गो०)

अहोऽस्मिन् व्यसने मग्नः सर्वथा शत्रुसूदन ।
*किन्विदानीं करिष्यामि शङ्के प्राप्तव्यमीदृशम् ॥१७॥

हे शत्रुसूदन लक्ष्मण ! मैं तो बड़े सङ्कट में पड़ गया । मुझे तो अब इस बात की चिन्ता है कि, ऐसी विपत्ति पड़ने पर मैं क्या करूँगा ? ॥१७॥

इति सीतां वरारोहां चिन्तयन्नेव राघवः ।
आजगाम जनस्थानं त्वरया सहलक्ष्मणः ॥१८॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी सुमुखी सीता के लिए चिन्ता करते हुए लक्ष्मण जी के साथ शीघ्रता के साथ जनस्थान में पहुँचे ॥१८॥

विगर्हमाणोऽनुजमार्तरूपं
क्षुधा श्रमेणैव पिपासया च ।
विनिःश्वसन् शुष्कमुखो विवर्णः
[१]प्रतिश्रयं प्राप्य समीक्ष्य शून्यम् ॥१९॥

भूख, प्यास और थकावट के मारे श्रीरामचन्द्र जी का मुख सूख गया और चेहरे की रंगत फीकी पड़ गई थी । उन्होंने आर्त हो दीर्घ निश्वास त्याग कर, लक्ष्मण जी के कर्म की निन्दा की और अपने आश्रम में पहुँच उसको सूना पड़ा पाया ॥१९॥

स्वमाश्रमं सम्प्रविगाह्य वीरो
विहारदेशाननुसृत्य कांश्चित् ।

१ प्रतिश्रय—स्वाश्रमप्रदेशं । (गो०)
* पाठान्तरे—'किंस्विदाना', किंचेदानीं'

एतद्यदित्येव निवासभूमौ
प्रहृष्टरोमा व्यथितो बभूव ॥२०॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

अपना आश्रम देख चुकने पर और श्रीरामचन्द्र सीता जी के कई एक विहारस्थलों में घूमे और वे सीता के विहारस्थल हैं यह याद आते ही, उनका शरीर रोमाञ्चित हो गया और वे बहुत व्यथित हुए ॥२०॥

अरण्यकाण्ड का अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—※—

अथाश्रमादुपावृत्तमन्तरा¹ रघुनन्दनः ।
परिपप्रच्छ सौमित्रिं रामो दुःखार्दितं पुनः ॥१॥

आश्रम को लौटते समय मार्ग में श्रीरामचन्द्र जी के पूछने पर जब लक्ष्मण चुप रहे और कुछ न बोले तब फिर महादुःखी हो, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण से कहने लगे ॥१॥

तमुवाच किमर्थं त्वमागतोऽपास्य मैथिलीम् ।
यदा सा तव विश्वासाद्वने विरहिता मया ॥२॥

¹ अन्तरा—मध्येमार्गे । (गो०)

भाई ! मैंने तो तुम्हारे विश्वास पर सीता को वन में अकेले छोड़ा था। सो तुम उसे अकेली छोड़ क्यों यहाँ चले आए ॥२॥

दृष्ट्वैवाभ्यागतं त्वां मे मैथिलीं त्यक्त्य लक्ष्मण ।
शङ्कमानं महत्पापं यत्सत्यं व्यथितं मनः ॥३॥

हे लक्ष्मण ! सीता को छोड़, तुमको आते देख, मेरा मन अनिष्ट की शङ्का कर जो व्यथित हुआ था सो मेरी वह शङ्का सत्य ही सिद्ध हुई ॥ ॥

स्फुरते नयनं सव्यं बाहुश्च हृदय च मे ।
दृष्ट्वा लक्ष्मण दूरे त्वां सीताविरहित पथि ॥४॥

तुमको दूर ही से जानकी के बिना आते देख, मेरा बायाँ नेत्र, बायीं भुजा और हृदय का वाम भाग फड़कने लगा था ॥४॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिर्लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
भूयो दुःखसमाविष्टो दुःखितं राममब्रवीत् ॥५॥

शुभ लक्षणों से युक्त लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, पुन अत्यन्त दु खी हुए और दु खी हो श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥५॥

आर्येणेव पराक्रुष्टं हा सीते लक्ष्मणेति च ।
परित्राहीति यद्वाक्यं मैथिल्यास्तच्छ्रुतिं गतम् ॥७॥

आप ही ने तो "हा लक्ष्मण" और "हा सीता मुझे बचाओ" उच्चस्वर से कहा था। आपका यह उच्चस्वर से कहा हुआ वाक्य जानकी जी के कान तक पहुँचा ॥७॥

सा त्वमार्तस्वरं श्रुत्वा तव स्नेहेन मैथिली ।
गच्छ गच्छेति मामाह रुदन्ती भयविह्वला ॥८॥

आपके इस आर्त स्वर को सुन आपकी प्रीति के कारण रोती और भयभीत हुई सीता ने मुझसे 'शीघ्र जाओ, शीघ्र जाओ" कहा ॥८॥

प्रचोद्यमानेन मया गच्छेति बहुशस्तया ।
प्रत्युक्ता मैथिली वाक्यमिदं त्वत्प्रत्ययान्वितम् ॥९॥

जब सीता ने कितनी ही बार मुझसे जाने को कहा, तब मैंने आपके सम्बन्ध में उनको विश्वास कराने के लिए यह कहा ॥९॥

न तत्पश्याम्यहं रक्षो यदस्य भयमावहेत् ।
निर्वृत्ता भव नास्त्येतत्केनाप्येवमुदाहृतम् ॥१०॥

मुझे कोई ऐसा राक्षस नहीं देख पड़ता जो श्रीरामचन्द्र जी को भयभीत कर सके। अतः तुम चिन्ता मत करो। यह श्रीराम चन्द्र जी का नहीं बल्कि किसी दूसरे का बनावटी शब्द है ॥१०॥

विगर्हितं च नीचं च कथमार्योऽभिधास्यति ।
त्राहीति वचनं सीते यस्त्रायेत्त्रिदशानपि ॥११॥

हे सीते! जो श्रीरामचन्द्र जी देवताओं की रक्षा करने में समर्थ हैं, वे ही श्रीरामचन्द्र—"मुझे बचाओ" ऐसा निन्द्य और तुच्छ वचन कैसे कह सकते हैं ॥११॥

किंनिमित्तं तु केनापि भ्रातुरालम्ब्य मे स्वरम्।
राक्षसेनेरितं वाक्यं त्राहि त्राहीति शोभने ॥१२॥

हे शोभने! किसी राक्षस ने किसी दुष्ट अभिप्राय से मेरे भाई के कण्ठस्वर का अनुकरण कर कहा होगा कि, 'मुझे बचाओ मुझे बचाओ' ॥१२॥

[1]विस्वरं व्याहृतं वाक्यं लक्ष्मण त्राहि मामिति।
न भवत्या व्यथा कार्या कुनारीजनसेविता ॥१३॥

"हे लक्ष्मण! मुझे बचाओ।" इस वाक्य को कहने वाले के कण्ठस्वर की विशेष विवेचना करने पर यह श्रीरामचन्द्र का कहा हुआ वाक्य नहीं जान पड़ता। अतः निन्द्य स्त्रियों की तरह आपको इसके लिए दुःखी न होना चाहिए ॥१३॥

अलं वैक्लव्यमालम्ब्य स्वस्था भव निरुत्सुका।
न सोऽस्ति त्रिषु लोकेषु पुमान वै राघवं रणे ॥१४॥

व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं। अतः तुम अब स्वस्थ हो जाओ। क्योंकि तीनों लोकों में ऐसा कोई पुरुष नहीं जो श्रीरामचन्द्र के सामने युद्ध में खड़ा रह सके ॥१४॥

जातो वा जायमानो वा संयुगे यः पराजयेत्।
न जय्यो राघवो युद्धे देवैः शक्रपुरोगमैः ॥१५॥

---

१ विस्वरमिति—स्वर प्रकार विशेष शोधनेऽपि नायं रामस्वर इति। (गो०)

जो युद्ध में, श्रीराम को पराजित करे—ऐसा न तो कोई उत्पन्न हुआ और न आगे ही कोई उत्पन्न होगा। इन्द्रादि देवताओं में भी यह शक्ति नहीं कि, वे श्रीरामचन्द्र को युद्ध मे जीत सकें ॥१५॥

एवमुक्ता तु वैदेही परिमोहितचेतना[१] ।
उवाचाश्रूणि मुञ्चन्ती दारुणं मामिदं वचः ॥१६॥

ऐसा कहने पर भी, कलुषित बुद्धि होने के कारण, आँसू बहाते हुए सीता जी ने मुझसे ये कठोर वचन कहे ॥१६॥

भावो मयि तवात्यर्थं पाप एव निवेशितः ।
विनष्टे भ्रातरि प्राप्तुं न च त्वं मामवाप्स्यसि ॥१७॥

मेरे ऊपर तुम्हारी नियत डिग गई है, पर याद रखो, श्रीरामचन्द्र जी के जाने पर भी तुम मुझे न पा सकोगे ॥१७॥

सङ्केताद्भरतेन त्वं रामं समनुगच्छसि ।
क्रोशन्तं हि यथात्यर्थं नैवमभ्यवपद्यसे ॥१८॥

तुम भरत के इशारे से श्रीरामचन्द्र के साथ आए हो। इसीसे तो श्रीरामचन्द्र जी के बुलाने पर भी तुम, सहायतार्थ उनके पास नहीं जाते ॥१८॥

रिपुः प्रच्छन्नचारी त्वं मदर्थमनुगच्छसि ।
राघवस्यान्तरप्रेप्सुस्तथैनं नाभिपद्यसे ॥१९॥

[१] परिमोहितचेतना—कलुषितबुद्धि। (गो०)

तुम गुप्त शत्रु हो अथवा मित्ररूपी शत्रु हो और मेरे लिए ही श्रीराम के साथ आए हो। तुम सदा अवसर ढूँढ़ते हो कि, कब श्रीरामचन्द्र जी कहीं जायँ और मैं सीता को हथियाऊँ। इसी से तो तुम श्रीराम की सहायता के लिए नहीं जाते ॥१९॥

एवमुक्तो हि वैदेह्या संरब्धो रक्तलोचनः ।
क्रोधात्प्रस्फुरमाणोष्ठ आश्रमादभिनिर्गतः ॥२०॥

जब जानकी जी ने मुझसे इस प्रकार कहा, तब मुझे क्रोध आ गया और मारे क्रोध के मेरे नेत्र लाल हो गए और ओंठ फड़कने लगे। मैं आश्रम के बाहिर चला आया ॥२०॥

एवं ब्रुवाणं सौमित्रिं रामः सन्तापमोहितः ।
अब्रवीद्दुष्कृतं सौम्य तां विना यत्त्वमागतः ॥२१॥

लक्ष्मण के ऐसा कहने पर, सन्तप्त श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे सौम्य! तुम जो जानकी को छोड़, चल खड़े हुए, सो तुमने बहुत ही बुरा काम किया ॥२१॥

[टिप्पणी—छोटों की ठीक बात को भी बड़े कैसे ठुकराते हैं यह बात इस प्रसङ्ग में भलीभाँति सत्य सिद्ध होती है। जानकी जी ने जैसे कठोर और निराधार व्यङ्ग्य वचन लक्ष्मण से कहे थे उनको सुन लक्ष्मण का आश्रम को छोड़कर चला जाना—लक्ष्मण का दुष्कर्म नहीं कहा जा सकता। फिर श्री राम का लक्ष्मण की ही भूल बतला कर उनको धिक्कारना उचित नहीं कहा जा सकता।]

जानन्नपि समर्थं मां रक्षसां विनिवारणे ।
अनेन क्रोधवाक्येन मैथिल्या निःसृतो भवान् ॥२२॥

आप तो यह जानते ही थे कि, राम राक्षसों को मारने में समर्थ हैं, फिर क्यों मैथिली के कठोर वचन सुन आप चल खड़े हुए ॥२२॥

[टिप्पणी—इस वाक्य में लक्ष्मण को अज्ञान कहकर सम्बोधन करना श्रीराम की अप्रसन्नता की चरम सीमा का द्योतक है]

न हि ते परितुष्यामि त्यक्त्वा यद्यासि मैथिलीम् ।
*क्रुद्धायाः परुषं वाक्यं श्रुत्वा यत्त्वमिहागतः ॥२३॥

हे लक्ष्मण ! तुम सीता को छोड़ चल खड़े हुए—इस बात से मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न नहीं हूँ। क्योंकि तुम क्रुद्ध स्त्री का कठोर वचन सुन यहाँ चले आए ॥२३॥

सर्वथा त्वपनीतं ते सीतया यत्प्रचोदितः ।
क्रोधस्य वशमापन्नो नाकरोः शासनं मम ॥२४॥

तुमने यह काम सर्वथा अनुचित किया जो सीता के कहने पर क्रुद्ध हो, मेरी आज्ञा की अवज्ञा की ॥२४॥

असौ हि राक्षसः शेते शरेणाभिहतो मया ।
मृगरूपेण येनाहमाश्रमादपवाहितः ॥२५॥

देखो, यह राक्षस मेरे बाण से घायल हो, मरा पड़ा है। यह वही है जो मृग का रूप धारण कर, मुझे आश्रम से दूर ले आया है ॥२५॥

विकृष्य चापं परिधाय सायकं
सलीलबाणेन च ताडितो मया ।
मार्गीं तनुं त्यज्य स विक्लवस्वरो
बभूव केयूरधरः स राक्षसः ॥२६॥

मैंने धनुष खींच और उस पर एक बाण रख, साधारण रीति से उसे चला जब उसके मारा, तब वह बनावटी हिरन का शरीर छोड़, आर्तस्वर करता हुआ केयूरधारी राक्षस हो गया ॥२६॥

---

* पाठान्तरे—"क्रुद्धाया परुषं श्रुत्वा स्त्रिया यत्त्वमिहागतः ।"

शराहतेनैव तदार्तया गिरा
स्वरं ममालम्ब्य सुदूरसंश्रवम्।
उदाहृतं तद्वचनं सुदारुणं
त्वमागतो येन विहाय मैथिलीम् ॥२७॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः

जब वह तीर से घायल हुआ, तब दूर तक सुनाई पड़े इतने ऊँचे कण्ठ से, आर्तनाद कर, उसने मेरे कण्ठस्वर का अनुकरण कर, वह अत्यन्त दारुण वाक्य कहा, जिसे सुन तुम वैदेही को छोड़ यहाँ चले आए ॥२७॥

अरण्यकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

षष्टितमः सर्गः

—❀—

भृशमाव्रजमानस्य[1] तस्याधोवामलोचनम्।
प्रास्फुरच्चास्खलद्रामो वेपथुश्चाप्यजायत ॥१॥

मारीच का वध कर आश्रम को आते समय श्रीरामचन्द्र जी के बाम नेत्र का नीचे का भाग बार बार फड़का, और चलने में अकस्मात् पैर फिसल गया और शरीर कांपने लगा ॥१॥

“प्रयाणकालेस्खलन करोतीष्टस्य भञ्जन’

अर्थात् यात्रा के समय पैर का फिसलना (अथवा हाथ की छड़ी का गिर कर टूट जाना) अपशकुन माना गया है और इसका फल यह है कि, जिस कार्य के लिए जाय वह कार्य सिद्ध न हो।

---

१ आव्रजमानस्य—आगच्छतः। (गो०) २ वेपथुः—कम्पः। (गो०)

उपालक्ष्य निमित्तानि सोऽशुभानि मुहुर्मुहुः ।
अपि क्षेमं नु सीताया इति वै व्याजहार च ॥२॥

श्रीरामचन्द्र जी इन अशकुनों को देख, कहने लगे कि, जाने सीता सकुशल है कि, नहीं ॥२॥

त्वरमाणो जगामाथ सीतादर्शनलालसः ।
शून्यमावसथं[1] दृष्ट्वा बभूवोद्विग्नमानसः ॥३॥

सीता को देखने की अभिलाषा से शीघ्र शीघ्र चल जब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण आश्रम में पहुँचे तब देखा कि आश्रम सूना पड़ा है। आश्रम को सूना देख, वे बहुत घबड़ाए ॥३॥

उद्भ्रमन्निव वेगेन विक्षिपन् रघुनन्दनः ।
तत्र तत्रोटजस्थानमभिवीक्ष्य समन्ततः ॥४॥

वे उद्भ्रान्त मनुष्य की तरह हाथों को झटकारते पर्णशाला के भीतर गए और वहाँ चारों ओर घूम फिर कर सीता को खोजा ॥४॥

ददर्श पर्णशालां च रहितां सीतया तदा ।
श्रिया विरहितां ध्वस्तां हेमन्ते पद्मिनीमिव ॥५॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने पर्णशाला को सीता जी के वहाँ न होने से, उसी प्रकार शोभाहीन पाया, जिस प्रकार हेमन्त ऋतु में कमलनी ध्वस्त होने के कारण शोभाहीन हो जाती है ॥५॥

रुदन्तमिव वृक्षैश्च म्लानपुष्पमृगद्विजम् ।
श्रिया विहीनं विध्वस्तं सन्त्यक्तवनदैवतम् ॥६॥

---

१ आवसथ—गृह । (गो०)

उस समय उस आश्रम के वृक्ष मानों रो रहे थे, फूल कुम्हलाए हुए थे और मृग तथा पक्षी उदास हो रहे थे। वन देवता उस आश्रम को ध्वस्त और शोभाहीन देख, उसे त्याग कर चल दिए थे ॥६॥

विप्रकीर्णाजिनकुशं विप्रविद्धवृसीकटम् ।
दृष्ट्वा शून्यं निजस्थानं विललाप पुनः पुनः ॥७॥

उस आश्रम में मृगचर्म और कुश इधर उधर पड़े हुए थे। आसन और चटाई इधर उधर फैंकी हुई पड़ी हुई थीं। अपने आश्रम को सूना देख, श्रीरामचन्द्र जी बार बार विलाप कर रहे थे ॥ ७ ॥

हृता मृता वा नष्टा[१] वा भक्षिता वा भविष्यति ।
निलीनाप्यथ वा भीरुरथवा वनमाश्रिता ॥८॥

वे कह रहे थे कि, क्या सीता को कोई हर ले गया या वह मर गई या अपने आप अन्तर्धान हो गई अथवा किसी ने उसे मार कर खा डाला अथवा विनोद के लिए वह यह कर रही है अथवा डरपोक होने के कारण कहीं छिप रही है अथवा वन में कहीं चली गई है ॥ ८॥

यत्नान्मृगयमाणस्तु नाससाद वने प्रियाम् ।
शोकरक्तेक्षणः शोकादुन्मत्त इव लक्ष्यते ॥१०॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने यत्नपूर्वक ढूँढ़ने पर भी उस वन में अपनी प्यारी सीता को कहीं न पाया, तब शोक के मारे उनकी आँखें लाल हो गईं और मारे शोक के वे उन्मत्त की तरह हो गए ॥१०॥

वृक्षाद्वृक्षं प्रधावन् स गिरेश्चाद्रिं नदान्नदीम् ।
बभूव विलपन् रामः शोकपङ्कार्णवाप्लुतः ॥११॥

श्रीरामचन्द्र जी शोक रूपी कीचड़ के समुद्र मे डूब कर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक, एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ तक और एक नदी से दूसरी नदी तक विलाप करते हुए दौड़ते फिरते थे ॥११॥

अपि कच्चित्त्वया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया ।
कदम्ब यदि जानीषे शंस सीतां शुभाननाम् ॥१२॥

(वे विलाप करके कहते थे) हे कदंब वृक्ष ? तुम्हारे फूलों पर विशेष अनुराग रखने वाली मेरी प्रिया शुभानना सीता का पता यदि तुम्हें मालूम हो तो बतलाओ ॥१२॥

स्निग्धपल्लवसङ्काशा पीतकौशेयवासिनी ।
शंसस्व यदि वा दृष्टा बिल्व बिल्वोपमस्तनी ॥१३॥

हे बिल्ववृक्ष ! उस बिल्व-फल-सदृश स्तन वाली, पल्लव समान कान्तियुक्त, पीली रेशमी साड़ी पहिने हुए सीता को, यदि तुमने देखा हो तो मुझे बतलाओ ॥१३॥

अथवाऽर्जुन स त्वं प्रियां तामर्जुनप्रियाम् ।
जनकस्य सुता भीरुर्यदि जीवति वा न वा ॥१४॥

अथवा हे अर्जुन वृक्ष ! मेरी प्यारी सीता तुमको बहुत चाहती थी, सो वह जनकदुलारी और डरपोंक जानकी जीवित है कि नहीं सो बतलाओ ॥१४॥

ककुभः ककुभोरू तां व्यक्तं जानाति मैथिलीम् ।
यथा पल्लवपुष्पाढ्यो भाति ह्येष वनस्पतिः ॥१५॥

यह ककुभ का पेड़, ककुभ के समान जाँघों वाली सीता को निश्चय ही जानता होगा। क्योंकि यह वनस्पति, लता, पत्ते और पुष्पों से कैसा लदा हुआ है ? ॥१५॥

भ्रमरैरुपगीतश्च यथा द्रुमवरो ह्ययम् ।
एष व्यक्तं विजानाति तिलकस्तिलकप्रियाम् ॥१६॥

यह तिलक वृक्ष तो तिलक वृक्ष प्रिय सीता का पता अवश्य जानता होगा; देखो इस वृक्षश्रेष्ठ तिलक वृक्ष के ऊपर भौंरे कैसे गूंज रहे हैं ॥१६॥

अशोक शोकापनुद शोकोपहतचेतसम् ।
त्वन्नामानं कुरु क्षिप्रं प्रियासन्दर्शनेन माम् ॥१७॥

यदि ताल त्वया दृष्टा पक्वतालफलस्तनी।
कथयस्व वरारोहां कारुण्यं यदि ते मयि ॥१८॥

हे ताल वृक्ष! यदि तुमने पके हुए ताल फल के आकार सदृश स्तनवाली सीता को देखा हो और मेरे ऊपर तुम जरा भी दया करते हो, तो मुझे बतलाओ कि, वह वरारोहा सीता कहाँ है? ॥१८॥

यदि दृष्टा त्वया सीता जम्बु जाम्बूनदप्रभा* ।
प्रियां यदि विजानीषे निःशङ्कं कथयस्व मे ॥१९॥

हे जामुन वृक्ष! यदि सुवर्ण समान प्रभावाली मेरी प्रिया को तुमने देखा हो तो निःसङ्कोच हो बतला दो ॥१९॥

अहो त्वं कर्णिकाराद्य सुपुष्पैः शोभसे भृशम्।
कर्णिकारप्रिया साध्वी शंस दृष्टा प्रिया यदि ॥२०॥

हे कर्णिकार! आज तो तुम पुष्पों से पुष्पित हो अत्यन्त शोभित हो रहे हो। यदि तुमने मेरी पतिव्रता सीता को देखा हो तो, मुझे बतला दो ॥२०॥

चूतनीपमहासालान् पनसान् कुरवान् धवान्।
दाडिमानसनान् गत्वा दृष्ट्वा रामो महायशाः ॥२१॥
मल्लिका माधवीश्चैव चम्पकान् केतकीस्तथा।
पृच्छन् रामो वने भ्रान्त उन्मत्त इव लक्ष्यते ॥२२॥

इसी प्रकार महायशस्वी श्रीरामचन्द्र आम, कदम्ब बड़े बड़े साखू, कटहर कुरट, अनार, मौलसिरी, नागकेसर, चंपा और

---

*पाठान्तरे—"जम्बुफलोपमाम्"।

केतकी के वृक्षों के पास जा, उनसे पूँछते हुए उन्मत्त की तरह वन में देखते पड़ते थे ॥२१॥२२॥

अथवा मृगशावाक्षीं मृग जानासि मैथिलीम् ।
मृगविप्रेक्षणी कान्ता मृगीभिः सहिता भवेत् ॥२३॥

(केवल वृक्षों ही से नहीं श्रीरामचन्द्र जी ने सीता का हाल वन के पशुओं से भी पूछा। वे मृगों से बोले,—हे मृगों! क्या तुम उस मृगनयनी सीता का कुछ हाल जानते हो? अवश्य मृगों की तरह देखने वाली मेरी कान्ता हिरनियों के साथ होगी ॥२३॥

गज सा गजनासोरुर्यदि दृष्टा त्वया भवेत् ।
तां मन्ये विदितां तुभ्यमाख्याहि वरवारण ॥२४॥

हे गजेन्द्र! तुम्हारी सूँड़ के समान आकार की जाँघों वाली सीता को क्या तुमने कहीं देखा है? मैं तो समझता हूँ तुम उसका पता अवश्य जानते हो—सो तुम उसका पता मुझे बतलाओ ॥२४॥

शार्दूल यदि सा दृष्टा प्रिया चन्द्रनिभानना ।
मैथिली मम विस्रब्धं कथयस्व न ते भयम् ॥२५॥

हे शार्दूल! यदि चन्द्रानना मेरी प्यारी मैथिली तुम्हारी जान में कहीं हो, तो तू मुझ पर विश्वास कर और निर्भय हो मुझे बतला दे ॥२५॥

हे कमलेक्षणे ! मैंने तुम्हें देख लिआ। अब तुम क्यों दूर भागी जाती हो ! वृक्षों की आड मे क्यो छिपती हो ! मुझसे बातचीत क्यों नहीं करती ? ।।२६।।

तिष्ठतिष्ठ वरारोहे न तेऽस्ति करुणा मयि ।
नात्यर्थं हास्यशीलाऽसि किमर्थं मामुपेक्षसे ।।२७।।

हे वरारोहे ! खड़ी रह, खडी रह । क्या तुझको मेरे ऊपर दया नहीं आती तेरा तो स्वभाव इतना हास्यप्रिय नहीं था, फिर तू क्यों मेरी ऐसी उपेक्षा कर रही है ।।२७।।

पीतकौशेयकेनासि सूचिता वरवर्णिनि ।
धावन्त्यपि मया दृष्टा तिष्ठ यद्यस्ति सौहृदम् ।।२८।।

हे वरवर्णिनी (सुन्दर वर्णधारिणी) ! तेरी पीली साडी से मैंने तुझको पहिचान लिआ और दौडती हुई तुझे देख लिआ। यदि तू मेरी हितैषिणी हो तो अब खड़ी रह ।।२८।।

नैव सा नूनमथवा हिंसिता चारुहासिनी ।
कृच्छ्रं प्राप्तं न मां नूनं यथोपेक्षितुमर्हति ।।२९।।

अथवा हे चारुहासिनी ! मैंने जिसको देखा है, वह तू नहीं है। तुझको तो अवश्य ही किसी ने मार डाला। यदि ऐसा होता तो मुझे इस दारुण दुःख मे पटक, सीता मेरी उपेक्षा करती ।।२९।।

व्यक्तं सा भक्षिता बाला राक्षसैः पिशिताशनैः ।
विभज्याङ्गानि सर्वाणि मया विरहिता प्रिया ।।३०।।

अवश्य ही मांस खाने वाले राक्षसों ने मेरी अनुपस्थिति में मेरी प्रिया के अङ्गों के टुकड़े टुकड़े करके उसे खा डाला ॥३०॥

नूनं तच्छुभदन्तोष्ठं सुनासं चारुकुण्डलम् ।
पूर्णचन्द्रमिव ग्रस्तं मुखं निष्प्रभतां गतम् ॥३१॥

ओहो ! उसका वह पूर्णमासी के चन्द्रमा के तुल्य मुख, जो सुन्दर दाँतों और ओंठों से युक्त तथा सुन्दर नासिका से शोभित एवं कुण्डलों से भूषित था, राक्षसों द्वारा ग्रस्त होने पर निश्चय ही प्रभाहीन अर्थात् फीका पड़ गया होगा ॥३१॥

सा हि चम्पकवर्णाभा ग्रीवा ग्रैवेयशोभिता ।
कोमला विलपन्त्यास्तु कान्ताया भक्षिता शुभा ॥३२॥

हा ! उस विलाप करती हुई चम्पकवर्णी की, हार पचलड़ी आदि आभूषणों से शोभित, कोमल एवं सुन्दरी ग्रीवा, राक्षसों ने काट कर खा डाली होगी ॥३२॥

नूनं विक्षिप्यमाणौ तौ बाहू पल्लवकोमलौ ।
भक्षितौ वेपमानाग्रौ सहस्ताभरणाङ्गदौ ॥३३॥

नवीन पत्तों की तरह कोमल और हाथों में पहनने योग्य आभूषणों से भूषित उसकी छटपटाती हुई दोनों भुजाओं को राक्षसों ने खा डाला होगा ॥३३॥

मया विरहिता बाला रक्षसां भक्षणाय वै ।
[1]सार्थेनेव परित्यक्ता भक्षिता बहुबान्धवा ॥३४॥

---

१ सार्थेन—पथिकसमुदायेन । (गो०)

राक्षसों द्वारा खाए जाने के लिए ही वह मुझसे अलहदा हुई, जैसे पथिकों के समूह से बिछुड़ी हुई स्त्री, अनेक भाई बंधों के रहने पर भी—नष्ट हो जाती है ॥३४॥

हा लक्ष्मण महाबाहो पश्यसि त्वं प्रियां क्वचित् ।
हा प्रिये क्व गता भद्रे हा सीतेति पुनः पुनः ॥३५॥

इत्येवं विलपन् रामः परिधावन् वनाद्वनम् ।
क्वचिदुद्भ्रमते वेगात्क्वचिद्विभ्रमते[१] बलात् ॥३६॥

हा महाबाहो ! हा लक्ष्मण ! क्या तुम्हें मेरी प्यारी कहीं देख पड़ती है ? हा भद्रे ! हा सीते ! तुम कहाँ चली गयी ? इस प्रकार श्रीरामचन्द्र बार बार विलाप करते हुए वन में इधर उधर दौड़ते फिरते थे। कभी दौड़ते दौड़ते वे गिर पड़ते और कभी हवा के बवंडर की तरह चक्कर काटने लगते थे ॥ ३५ ॥३६॥

क्वचिन्मत्त इवाभाति कान्तान्वेषणतत्परः ।
स वनानि नदीः शैलान्गिरिप्रस्रवणानि च ।
काननानि च वेगेन भ्रमत्यपरिसंस्थितः ॥३७॥

कभी श्रीरामचन्द्र जी उन्मत्त की तरह देख पड़ते थे। कभी कभी वे सीता जी को ढूँढते हुए वेगसहित नदी, पहाड़, झरने और वनों में घूम रहे थे ॥३७॥

तथा स गत्वा विपुलं महद्वनं
परीत्य सर्वं त्वथ मैथिलीं प्रति ।

---

[१] विभ्रमते—बात्येव भ्रमणं प्राप्नोति । (शि०)

अनिष्टिताशः स चकार मार्गणे
पुनः प्रियायाः परमं परिश्रमम् ॥३८॥

सीता के मिलने की पूर्ण आशा रख अथवा सीता के मिलने की आशा को परित्याग न कर, श्रीरामचन्द्र उस विशाल वन में बराबर भ्रमण करते हुए बार बार सीता को खोजने का श्रम उठाने लगे। अथवा आशा परित्याग न करके श्रीरामचन्द्र जी बारबार बड़े परिश्रम के साथ उस विशालवन मे घूम कर सीता को खोज रहे थे ॥३८॥

अरण्यकाण्ड का साठवाँ सर्ग पूरा हुआ।



एकषष्टितमः सर्गः



दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं शून्यं रामो दशरथात्मजः।
रहितां पर्णशालां च विध्वस्तान्यासनानि च ॥१॥

इस प्रकार सारा वन मभा श्रीरामचन्द्र जी फिर अपने आश्रम में आए तब भी उन्होंने देखा कि, आश्रम सूना पड़ा है और आसन चटाई आदि भी इधर उधर पड़ी हैं ॥१॥

अदृष्ट्वा तत्र वैदेहीं सन्निरीक्ष्य च सर्वशः।
उवाच रामः प्राक्रुश्य प्रगृह्य रुचिरौ भुजौ ॥२॥

सर्वत्र खोजने पर भी सीता को न देख, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण की दोनों सुन्दर भुजाओं को पकड़, उच्चस्वर से बोले ॥२॥

क्व नु लक्ष्मण वैदेही कं वा देशमितो गता ।
केनाहृता वा सौमित्रे भक्षिता केन वा प्रिया ॥३॥

हे लक्ष्मण! सीता कहाँ है? वह यहाँ से कहाँ गई? अथवा यहाँ से उसे कोई पकड़ कर ले गया? अथवा किसी ने उसे खा डाला? ॥३॥

वृक्षेणाच्छाद्य यदि मां सीते हसितुमिच्छसि ।
अलं ते हसितेनाद्य मां भजस्व सुदुःखितम् ॥४॥

हे सीते! वृक्ष की ओट में छिप यदि तुम मुझसे हँसी करती हो, तो अब और अधिक हँसी कर मुझे दुःखी मत करो ॥४॥

यैः सह क्रीडसे सीते विश्वस्तैर्मृगपोतकैः ।
एते हीनास्त्वया सौम्ये ध्यायन्त्यास्राविलेक्षणाः ॥५॥

हे सीते! तुम जिन पालतू मृगछौनों के साथ खेला करती थीं, वे सब के सब तुम्हारे वियोग में आँसू बहाते, तुम्हें स्मरण कर रहे हैं ॥५॥

सीतया रहितोऽहं वै न हि जीवामि लक्ष्मण ।
*वृतं शोकेन महता सीताहरणजेन माम् ॥६॥

हे लक्ष्मण! सीता के बिना मैं जीता नहीं रह सकता। सीता के हर जाने से उत्पन्न हुए महाशोक ने मुझे घेर लिया है ॥६॥

परलोके महाराजो नूनं द्रक्ष्यति मे पिता ।
कथं प्रतिज्ञां संश्रुत्य मया त्वमभियोजितः ॥७॥

---

*पाठान्तरे—"मृत"

अपूरयित्वा तं कालं मत्सकाशमिहागतः ।
कामवृत्तमनार्यं मां मृषावादिनमेव च ॥८॥

धिक्त्वामिति परे लोके व्यक्तं वक्ष्यति मे पिता
विवशं शोकसन्तप्तं दीनं भग्नमनोरथम् ॥९॥

मामिहोत्सृज्य करुणं कीर्त्तिर्नरमिवानृजुम्[१] ।
क्व गच्छसि वरारोहे मा नोत्सृज सुमध्यमे ॥१०॥

परलोक मे मेरी भेंट पितृदेव महाराज दशरथ से अवश्य होगी और वे कहेंगे कि, प्रतिज्ञात वनवास की अवधि को पूरा किए बिना तुम मेरे पास क्यों चले आए ? मुझको स्वेच्छाचारी, अनार्य और मिथ्यावादी कह कर परलोक मे मेरे पिता मुझे अवश्य ही धिक्कारेंगे हे सीते ! विवश, शोकाकुल, दीन, भग्नमनोरथ और दयापात्र मुझको उसी प्रकार छोड़, तुम कहाँ जाती हो, जिस प्रकार कपटाचारी को कीर्ति त्याग कर चली जाती है। हे वरारोहे ? हे सुमध्यमे ! तुम कहाँ जाती हो ? तुम मुझको मत त्यागो ॥७॥८॥९॥१०॥

त्वया विरहितश्चाहं मोक्ष्ये जीवितमात्मनः ।
इतीव विलपन् रामः सीतादर्शनलालसः ॥११॥

हे प्रिये ! तेरे वियोग मे मैं अपने प्राण गवाँ दूँगा । श्रीरामचन्द्र जी सीता को देखने की आकांक्षा कर, इस प्रकार विलाप करने लगे ॥११॥

न ददर्श सुदुःखार्तो राघवो जनकात्मजाम् ।
अनासादयमानं तं सीतां दशरथात्मजम् ॥१२॥

---

[१] अनृजुम्—कपटाचार । (गो०)

निखिलेन विचिन्वानौ सीतां दशरथात्मजौ ।
तस्य शैलस्य सानूनि[1] गुहाश्च शिखराणि च ॥२१॥

दशरथनन्दन उन दोनों राजकुमारों ने रत्ती रत्ती कर सारे वनों, पहाड़ों, नदियों और सरोवरों को ढूँढा । उन्होंने वहाँ के पर्वत के शिला प्रदेशों, कन्दराओं और शिखरों को भी देखा ॥२१॥

निखिलेन विचिन्वानौ नैव तामभिजग्मतुः ।
विचित्य सर्वतः शैलं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥२२॥

यद्यपि उन्होंने रत्ती रत्ती वन मझाया, किन्तु सीता का पता न लगा । सारा पहाड़ खोज कर श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण से कहा ॥२२॥

नेह पश्यामि सौमित्रे वैदेहीं पर्वते शुभाम् ।
ततो दुःखाभिसन्तप्तो लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ॥२३॥
विचरन् दण्डकारण्यं भ्रातरं दीप्ततेजसम् ।
प्राप्स्यसि त्वं महाप्राज्ञ मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥२४॥
यथा विष्णुर्महाबाहुर्बलिं बद्ध्वा महीमिमाम् ।
एवमुक्तस्तु सौहार्दाल्लक्ष्मणेन स राघवः ॥२५॥

हे लक्ष्मण ! इस पहाड़ पर तो सीता नहीं दिखलाई पड़ती । तब दुःख से सन्तप्त लक्ष्मण, दण्डकवन में विचरते हुए एवं तेजस्वी श्रीरामचन्द्र बोले—हे महाप्राज्ञ ! तुम्हें जानकी जी वैसे ही मिलेंगी जैसे बलि को बाँध, विष्णु को यह पृथिवी मिली थी । इस प्रकार सौहार्द से लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥२३॥२४॥२५॥

---

[1] सानूनि—शिलाप्रदेशान् । (शि०)

उवाच दीनया वाचा दुःखाभिहतचेतनः ।
वनं सर्वं सुविचितं पद्मिन्यः फुल्लपङ्कजाः ॥२६॥

गिरिश्चायं महाप्राज्ञ बहुकंदरनिर्झरः ।
न पश्यामि वैदेहीं प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥२७॥

तब दुःख से विकल हो श्रीरामचन्द्र जी दीनवाणी से लक्ष्मण से कहने लगे। हे महाप्राज्ञ ! मैंने समस्त वन और खिले हुए कमलों से युक्त सरोवरें, यह पहाड़, बहुत सी कंदराएं और अनेक झरने भली भाँति खोजे, किन्तु प्राणों से भी बढ़ कर वैदेही न मिली ॥२६॥२७॥

एवं स विलपन् रामः सीताहरणकर्शितः ।
दीनः शोकसमाविष्टो मुहूर्तं विह्वलो[1]ऽभवत् ॥२८॥

सीता हरण से व्यथित श्रीरामचन्द्र इस प्रकार विलाप करते हुए उदास और शोकाकुल हो दो घड़ी के लिए परवश हो गए ॥२८॥

सन्तप्तो ह्यवसन्नाङ्गो गतबुद्धि[3]र्विचेतनः[4] ।
निषसादातुरो दीनो निःश्वस्यायतमायतम् ॥२९॥

वे सन्तप्त होने के कारण कृशाङ्ग, निरसंज्ञ, निश्चेष्ट, आर्त्त और दीन होकर गरम और लंबी साँसें लेने लगे ॥२९॥

बहुलं स तु निःश्वस्य रामो राजीवलोचनः ।
हा प्रियेति विचुक्रोश बहुलो बाष्पगद्गदः ॥३०॥

---

१ विह्वल—परवश (गो०) अवसन्नाङ्ग—कृशाङ्गः । (गो०)
३ गतबुद्धि—निरसंज्ञ । (गो०) ४ विचेतन—निश्चेष्टः (गो०)

राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र बारबार लम्बी साँसे ले और "हा प्रिये" कह तथा गद्गद हो, उच्च स्वर से रोने लगे ॥३०॥

त ततः सान्त्वयामास लक्ष्मणः प्रियबान्धवः ।
बहुप्रकारं धर्मज्ञः प्रश्रितं प्रश्रिताञ्जलिः ॥३१॥

श्रीरामचन्द्र जी की ऐसी दशा देख, उनके प्यारे भाई धर्मज्ञ लक्ष्मण जी ने, विनयपूर्वक हाथ जोड़कर, उनको अनेक प्रकार से सान्त्वना प्रदान की ॥३१॥

अनादृत्य तु तद्वाक्यं लक्ष्मणोष्ठपुटाच्च्युतम् ।
अपश्यस्तां प्रिया सीतां प्राक्रोशत्स पुनः पुनः ॥३२॥

इति एकषष्टितम सर्ग. ॥

किन्तु श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण की कही बातो का तिरस्कार कर और प्यारी सीता को न देख, बार बार उच्चस्वर से रोने लगे ॥३२॥

अरण्यकाण्ड का इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

द्विषष्टितमः सर्गः

—❀—

सीतामपश्यन् धर्मात्मा कामोपहतचेतनः ।
विललाप महाबाहू रामः कमललोचनः ॥१॥

महाबाहु, धर्मात्मा और कमललोचन श्रीरामचन्द्र, सीता जी न देख, मारे शोक के चेतनाशून्य हो विलाप करने लगे ॥१॥

पश्यन्निव स तां सीतामपश्यन् मदनार्दितः ।
उवाच राघवो वाक्यं विलापाश्रयदुर्वचम् ॥२॥

श्रीरामचन्द्र काम से पीडित हो गद्गद कण्ठ से बोले ॥२॥
सीता को न देख कर भी मानो (सीता को) देखते हुए

त्वमशोकस्य शाखाभिः पुष्पप्रियतया प्रिये ।
आवृणोषि शरीरं ते मम शोकविवर्धनी ॥३॥
कदलीकाण्डसदृशौ कदल्या संवृतावुभौ ।
ऊरू पश्यामि ते देवि नासि शक्ता निगूहितुम् ॥४॥

हे पुष्पों की चाहने वाली और मेरे शोक को बढ़ाने वाली प्रिये! तू अपने शरीर को अशोक की शाखाओं से छिपाती है और केले के वृक्ष के समान अपनी दोनों जाँघों को केले के वृक्ष से छिपा तो रही है, किन्तु छिपा नहीं सकती. मैं उनको देख रहा हूँ ॥३॥४॥

कर्णिकारवनं भद्रे हसन्ती देवि सेवसे ।
अलं ते परिहासेन मम बाधावहेन वै ॥५॥

हे भद्रे! हे देवि! तू हसती हुई कर्णिकार के वन में विचर रही है, किन्तु मुझको पीड़ा देकर, अत अब मेरे साथ ठट्ठा मत कर ॥५॥

परिहासेन किं सीते परिश्रान्तस्य मे प्रिये ।
अयं न परिहासोऽपि साधु देवि न रोचते ॥६॥

हे प्रिये सीते ! मुझ परिश्रान्त के साथ ठट्ठा करने से क्या लाभ ? यह तेरा परिहास करना ठीक न होने के कारण मुझे पसद नहीं है ॥६॥

विशेषेणाश्रमस्थाने हासोऽयं न प्रशस्यते ।
अवगच्छामि ते शील परिहासप्रियं प्रिये ॥७॥

हे प्रिये ! मुझे यह मालूम है कि, तू परिहास-प्रिय है, परन्तु विशेष कर इस आश्रम-स्थान मे परिहास करना अच्छा नहीं ॥७॥

आगच्छ त्वं विशालाक्षि शून्योऽयमुटजस्तव ।
सुव्यक्तं राक्षसैः सीता भक्षिता वा हृताऽपि वा ॥८॥
न हि सा विलपन्त मामुपसम्पैति लक्ष्मण ।
एतानि मृगयूथानि साश्रुनेत्राणि लक्ष्मण ॥९॥

हे विशालाक्षी ! यह तेरी पर्णकुटी सूनी पड़ी है, सो यहाँ आ ! हे लक्ष्मण ! स्पष्ट जान पड़ता है कि, राक्षसो ने सीता को खा डाला या वे उसे हर ले गए। क्योंकि मुझे विलाप करते देख कर भी वह मेरे पास नहीं आती। हे लक्ष्मण ! देखो ये मृगो के झुड आँखो मे आँसू भर ॥८॥९॥

शसन्तीव हि वैदेहीं भक्षितां रजनीचरैः ।
हा ममार्ये क्व यातासि हा साध्वि वरवर्णिनि ॥१०॥

मानो कह रहे है कि, राक्षसो ने सीता को खा डाला है। हे मेरी पूज्ये ! हे पतिव्रते ! वरवर्णिनि ! तू कहाँ गयी ? ॥१०॥

---

१ आर्ये—पूज्ये। (गो०)

हा सकामा त्वया देवी कैकेयी सा भविष्यति ।
सीतया सह निर्यातो विना सीतामुपागतः ॥११॥

हे देवि! मेरे कारण कैकेयी सफल मनोरथ होगी। क्योंकि वह देखेगी कि, सीता सहित मैं घर से निकला था और जाऊँगा सीता रहित ॥११॥

कथं नाम प्रवेक्ष्यामि शून्यमन्तः पुरं पुनः ।
निर्वीर्य इति लोको मां निर्दयश्चेति वक्ष्यति ॥१२॥

मुझसे किस प्रकार सीता बिना सूने अन्तःपुर में फिर जाया जायगा? सब लोग मुझको पराक्रमहीन और निठुर बतलावेंगे ॥१२॥

कातरत्वं प्रकाशं हि सीतापनयनेन मे ।
निवृत्तवनवासश्च जनकं मिथिलाधिपम् ॥१३॥

सीता के हर जाने से मेरा कायरपन तो स्पष्ट ही है। मैं जब वनवास से लौट कर जाऊँगा तब मिथिलेश जनक ॥१३॥

कुशलं परिपृच्छन्तं कथं शक्ष्ये निरीक्षितुम् ।
विदेहराजो नूनं मां दृष्ट्वा विरहितं तया ॥१४॥

मुझसे जानकी की कुशल पूछेंगे। उस समय मैं क्योंकर उनके सामने अपनी आँखें कर सकूँगा। विदेहराज सीता रहित मुझे देख निश्चय ॥१४॥

सुताविनाशसन्तप्तो मोहस्य वशमेष्यति ।
अथवा न गमिष्यामि पुरीं भरतपालिताम् ॥१५॥

अपनी बेटी जानकी के नाश से सन्तप्त हो मूर्च्छित हो जायँगे। अथवा मैं भरत द्वारा पालित अयोध्या मे जाऊँ ही नहीं ॥१५॥

स्वर्गोऽपि सीतया हीनः शून्य एव मतो मम।
मामिहोत्सृज्य हि वने गच्छायोध्यांपुरी शुभाम् ॥१६॥

अयोध्या की तो बात ही क्या है, मेरे मतानुसार तो सीता के विना स्वर्ग भी सूना है। अतएव हे लक्ष्मण! तुम मुझको इस वन मे छोड़ अयोध्या को चले जाओ ॥१६॥

न त्वहं तां विना सीतां जीवेयं हि कथञ्चन।
गाढमाश्लिष्य भरतो वाच्यो मद्वचनात्त्वया ॥१७॥

क्योंकि मैं सीता विना किसी प्रकार भी जीवित नहीं रह सकता। वहाँ जा और भरत को गाढ आलिंगन कर मेरी ओर से कहना ॥१७॥

अनुज्ञातोऽसि रामेण पालयेति वसुन्धराम्।
अम्बा च मम कैकेयी सुमित्रा च त्वया विभो ॥१८॥
कौसल्या च यथान्यायमभिवाद्या ममाज्ञया।
रक्षणीया प्रयत्नेन भवता सूक्तकारिणा ॥१९॥

कि, श्रीरामचन्द्र जी ने यह आज्ञा दी है कि, तुमही पृथिवी का पालन करो। मेरी माता, कैकेयी और अपनी माता सुमित्रा और कौसल्या को यथाक्रम मेरी ओर से प्रणाम करना! हे लक्ष्मण! मेरे आज्ञानुवर्ती आपको उचित है कि, माताओं की यत्नपूर्वक रक्षा करते रहना ॥१८॥१९॥

सीतायाश्च विनाशोऽयं मम चामित्रकर्शन।
विस्तरेण जनन्या मे विनिवेद्यस्त्वया भवेत् ॥२०॥

हे परन्तप ! तुम सीता का तथा मेरे विनाश का वृत्तान्त भी मेरी जननी से विस्तारपूर्वक कह देना ॥२०॥

इति विलपति राघवे सुदीने
वनमुपगम्य तया विना सुकेश्या ।
भयविकलमुखस्तु लक्ष्मणोऽपि
व्यथितमना भृशमातुरो बभूव ॥२१

इति द्विषष्टितमः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी सुकेशी सीता के विरह में अत्यन्त विकल हो, इस प्रकार से विलाप करने लगे। भय और विकलता से लक्ष्मण जी भी व्यथित हो अत्यन्त आतुर हो गए ॥२१॥

अरण्यकाण्ड का बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्रिषष्टितमः सर्गः

—※—

स राजपुत्रः प्रियया विहीनः
कामेन शोकेन च पीड्यमानः ।
विषादयन् भ्रातरमार्तरूपो
भूयो विषादं प्रविवेश तीव्रम् ॥१॥

राजपुत्र श्रीरामचन्द्र अपनी प्यारी सीता के विना काम और शोक से पीडित होने के कारण भाई लक्ष्मण को भी विषादयुक्त कर स्वय भी फिर अत्यन्त विषादयुक्त हुए ॥१॥

स लक्ष्मणं शोकवशाभिपन्नं
शोके निमग्नो विपुले तु रामः ।
उवाच वाक्यं व्यसनानुरूपम्
उष्णं विनिःश्वस्य रुदन् सशोकम् ॥२॥

श्रीरामचन्द्र जी विपुल शोक मे निमग्न हो, गरम साँसे ले, शोक से व्याकुल लक्ष्मण से, शोक के कारण रोकर बोले ॥२॥

न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी
मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुन्धरायाम् ।
शोकेन शोको हि परम्पराया
मामेति भिन्दन् हृदयं मनश्च ॥३॥

हे लक्ष्मण ! मै समझता हूँ कि, मेरे समान दुष्कर्म करने वाला दूसरा पुरुष इस पृथिवी पर नहीं है । देखो न, एक के बाद एक, इस प्रकार लगातार शोक मेरे हृदय और मन को विदीर्ण किए डालते है ॥३॥

पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि
पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि ।
तत्रायमद्यापतितो विपाको
दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥४॥

पहले जन्म मे निश्चय ही मैंने बद बद कर अनेक वार बहुत से पाप किए हैं, उन्हींका कर्मविपाक आज मुझे भोगना पडता है और इसीसे मेरे ऊपर दु ख के ऊपर दु ख पड रहे हैं ॥४॥

राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः
पितुर्विनाशो जननीवियोगः ।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेगम्
आपूरयन्ति प्रविचिन्तितानि ॥५॥

हे लक्ष्मण ! देखो न, राज्य का नाश, स्वजनों का वियोग, पिता का मरण, जननी से विछोह, इन बातो का जब मैं स्मरण करता हूं तब मेरा हृदय शोको से परिपूर्ण हो जाता है ॥५॥

सर्वं तु दुःखं मम लक्ष्मणेदं
शान्तं शरीरे वनमेत्य शून्यम् ।
सीतावियोगात्पुनरप्युदीर्णं
काष्ठैरिवाग्निः सहसा प्रदीप्तः ॥६॥

हे लक्ष्मण ! इस शून्य वन मे आने पर, मैं इन सब दु खों को भूल सा गया था। किन्तु सीता के वियोग से, काठ के सयोग से जलती प्रज्वलित आग की तरह, वे भूले हुए दु ख फिर हरे हो गए हैं ॥६॥

सा नूनमार्या मम राक्षसेन
बलाद्धृता खं समुपेत्य भीरुः ।

अपस्वरं सस्वरविप्रलापा
　　भयेन विक्रन्दितवत्यभीक्ष्णम् ॥७॥

निस्सन्देह कोई राक्षस उसी भीरु स्वभाव वाली पूज्या सीता को, आकाश मार्ग से ले गया है और उस समय वह भयभीत हो, विकृत स्वर से बारबार रोई और चिल्लाई होगी ॥७॥

तौ लोहितस्य[1] प्रियदर्शनस्य
　　सदोचितावुत्तमचन्दनस्य ।
वृत्तौ स्तनौ शोणितपङ्कदिग्धौ
　　नूनं प्रियाया मम नाभिभातः ॥८॥

गोल और लाल चन्दन जैसे लाल रंग वाले और देखने में प्रिय लगने वाले मेरी प्रिया जानकी जी के स्तन, जो सदा उत्तम चन्दन से चर्चित होने योग्य है, वे अवश्य ही गाढे लोहू से सन गए होंगे ॥८॥

तच्छ्लक्ष्णसुव्यक्तमृदुप्रलापं
　　तस्या मुखं कुञ्चितकेशभारम् ।
रक्षोवशं नूनमुपागताया
　　न भ्राजते राहुमुखे यथेन्दुः ॥९॥

मधुर, स्पष्ट और कोमल वचनों का बोलने वाला और सुन्दर घुंघराले बालों के बीच शोभित मेरी प्रिया का मुख, राक्षस के वश में होने से वैसे ही शोभायमान नहीं होता होगा जैसे राहु से ग्रस्त चन्द्रमा शोभायमान नहीं होता ॥९॥

---

[1] लोहितस्य—लोहिताख्यस्य उत्तमचन्दनस्य । (गो०)

तां हारपाशस्य सदोचितायां
ग्रीवां प्रियाया मम सुव्रतायाः ।
रक्षांसि नूनं परिपीतवन्ति
विभिद्य शून्ये रुधिराशनानि ॥१०॥

मेरी पतिव्रता प्रिया की वह सुन्दर गरदन जो सदा हारों से भूषित रहती थी, निश्चय ही एकान्त पा रुधिर पीने वाले राक्षसों ने उसे चीर कर उसका रुधिर पिया होगा ॥१०॥

मया विहीना विजने वने या
रक्षोभिराहृत्य विकृष्यमाणा ।
नूनं विनादं कुररीव दीना
सा मुक्तवत्यायतकान्तनेत्रा ॥११॥

मेरी अनुपस्थिति में जब निर्जन वन में राक्षसों ने चारों ओर से घेर कर सीता को खींचा होगा, तब उस बड़े नेत्र वाली ने अवश्य ही कुररी की तरह बड़ा आर्तनाद किया होगा ॥११॥

अस्मिन् मया सार्धमुदारशीला
शिलातले पूर्वमुपोपविष्टा ।
कान्तस्मिता लक्ष्मण जातहासा
त्वामाह सीता बहुवाक्यजातम् ॥१२॥

हे लक्ष्मण ! उदारस्वभाव वाली सीता, मेरे साथ इस शिला पर बैठ मनोहर हास्यपूर्वक तुमसे कितनी ही बातें कहा करती थी ॥१२॥

अपस्वरं सस्वरविप्रलापा
भयेन विक्रन्दितवत्यभीक्ष्णम् ॥७॥

निस्सन्देह कोई राक्षस उसी भीरु स्वभाव वाली पूज्या सीता को, आकाश मार्ग से ले गया है और उस समय वह भयभीत हो, विकृत स्वर से बारबार रोई और चिल्लाई होगी ॥७॥

तौ लोहितस्य[१] प्रियदर्शनस्य
सदोचितावुत्तमचन्दनस्य ।
वृत्तौ स्तनौ शोणितपङ्कदिग्धौ
नूनं प्रियाया मम नाभिभातः ॥८॥

गोल और लाल चन्दन जैसे लाल रंग वाले और देखने में प्रिय लगने वाले मेरी प्रिया जानकी जी के स्तन, जो सदा उत्तम चन्दन से चर्चित होने योग्य हैं, वे अवश्य ही गाढ़े लोहू से सन गए होंगे ॥८॥

तच्छ्लक्ष्णसुव्यक्तमृदुप्रलापं
तस्या मुखं कुञ्चितकेशभारम् ।
रक्षोवशं नूनमुपागताया
न भ्राजते राहुमुखे यथेन्दुः ॥९॥

मधुर, स्पष्ट और कोमल वचनों का बोलने वाला और सुन्दर घुंघराले बालों के बीच शोभित मेरी प्रिया का मुख, राक्षस के वश में होने से वैसे ही शोभायमान नहीं होता होगा जैसे राहु से ग्रस्त चन्द्रमा शोभायमान नहीं होता ॥९॥

---

१ लोहितस्य—लोहिताख्यस्य उत्तमचन्दनस्य । (गो०)

तां हारपाशस्य सदोचितायाा
ग्रीवां प्रियाया मम सुव्रतायाः ।
रक्षांसि नूनं परिपीनयन्ति
विभिद्य शून्ये रुधिराशनानि ॥१०॥

मेरी पतिव्रता प्रिया की वह सुन्दर गरदन जो सदा हारों से भूषित रहती थी, निश्चय ही एकान्त पा रुधिर पीने वाले राक्षसों ने उसे चीर कर उसका रुधिर पिया होगा ॥१०॥

मया विहीना विजने वने या
रक्षोभिराहृत्य निकृष्यमाणा ।
नूनं विनादं कुररीव दीना
सा मुक्तवत्यायतकान्तनेत्रा ॥११॥

मेरी अनुपस्थिति में जब निर्जन वन में राक्षसों ने चारों ओर से घेर कर सीता को खींचा होगा, तब उस बड़े नेत्र वाली ने अवश्य ही कुररी की तरह बड़ा आर्तनाद किआ होगा ॥११॥

अस्मिन् मया सार्धमुदारशीला
शिलातले पूर्वमुपोपविष्टा ।
कान्तस्मिता लक्ष्मण जातहासा
त्वामाह सीता बहुवाक्यजातम् ॥१२॥

हे लक्ष्मण ! उदारस्वभाव वाली सीता, मेरे साथ इस शिला पर बैठ मनोहर हास्यपूर्वक तुमसे कितनी ही बातें कहा करती थी ॥१२॥

गोदावरीयं सरितां वरिष्ठा
प्रिया प्रियाया मम नित्यकालम् ।
अप्यत्र गच्छेदिति चिन्तयामि
नैकाकिनी याति हि सा कदाचित् ॥१३॥

हे लक्ष्मण ! यह नदियों मे श्रेष्ठ गोदावरी नदी मेरी प्रिया को सर्वदा अत्यन्त प्यारी थी सो मैं सोचता हूँ कि, कदाचित् वह नदी के तट पर गयी हो, किन्तु वह अकेली तो वहाँ कभी नहीं जाती ॥१३॥

पद्मानना पद्मविशालनेत्रा
पद्मानि वानेतुमभिप्रयाता ।
तदप्ययुक्तं न हि सा कदाचिन्
मया विना गच्छति पङ्कजानि ॥१४॥

फिर मैं यह भी सोचता हूँ कि, वह कमलमुखी और कमल के समान विशाल नेत्र वाली कहीं कमल के फूल लाने को न गई हो , किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि मेरे बिना वह कमल लेने भी नहीं जाती ॥१४॥

कामं त्विदं पुष्पितवृक्षषण्डं
नानाविधैः पक्षिगणैरुपेतम् ।
वनं प्रयाता नु तदप्ययुक्तम्
एकाकिनी साऽतिबिभेति भीरुः ॥१५॥

अथवा इस फूले हुए वृक्षों के समूह से शोभित तथा भाँति भाँति के पक्षियों से युक्त इस वन को देखने वह अपनी इच्छा से

गई हो! किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वह डरपोक स्वभाव की होने के कारण, अकेली वन में जाते बहुत डरती है ॥१५॥

आदित्य भो लोककृताकृतज्ञ
लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन् ।
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा
शंसस्व मे शोकवशस्य सत्यम् ॥१६॥

सूर्यदेव! तुम लोगों के किए अनकिए तथा पाप पुण्यमय कर्मों के साक्षी हो। मुझे यह तो सत्य सत्य बतलाओ कि, मेरी प्रिया कहाँ गई? अथवा उसको कोई हर कर ले गया? क्योंकि मैं इस समय शोक से विकल हो रहा हूँ ॥१६॥

लोकेषु सर्वेषु च नास्ति किञ्चि-
द्यत्तेन नित्यं विदितं भवेत्तत् ।
शंसस्व वायो कुलशालिनीं तां
हृता मृता वा पथि वर्तते वा ॥१७॥

हे पवनदेव! समस्त लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो नित्य आपकी जानकारी में न आती हो। अतएव आप ही उस कुल मर्यादा की रखने वाली सीता के विषय में यह बतलाओ कि, वह मर गई या किसी ने उसे हर लिया या वह इसी वन के किसी मार्ग में है ॥१७॥

इतीव शोकविधेयदेहं
रामं विसंज्ञं विलपन्तमेवम् ।

* पाठान्तरे "नित्यम्"।

उवाच सौमित्रिरदीनसत्त्वो
न्याये स्थितः कालयुतं च वाक्यम् ॥१८॥

जब लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी को शोक से विह्वल हो इस प्रकार अव्यवस्थित चित्त वाले मनुष्य की तरह विलाप करते देखा, तब लक्ष्मण ने दीनता त्याग न्यायानुमोदित एवं कालोचित वचन श्रीरामचन्द्र जी से कहे ॥१८॥

शोकं विमुञ्चार्य धृतिं भजस्व
सोत्साहता चास्तु विमार्गणेऽस्याः ।
उत्साहवन्तो हि नरा न लोके
सीदन्ति कर्मस्वतिदुष्करेषु ॥१९॥

हे आर्य ! शोक को त्यागिए और धैर्य को धारण कीजिए। तदनन्तर उत्साह पूर्वक जानकी को ढूँढिए। क्योंकि जो लोग उत्साही होते हैं वे दुष्कर कार्यों के करने में भी दुःख नहीं पाते ॥१९॥

इतीव सौमित्रिमुदग्रपौरुषं[१]
ब्रुवन्तमार्तो रघुवंशवर्धनः ।
न चिन्तयामास धृतिं विमुक्तवान्
पुनश्च दुःखं महदभ्युपागमत् ॥२०॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

---

[१] उदग्रपौरुष—श्रेष्ठपराक्रम । (गो०)

श्रेष्ठ पराक्रमी लक्ष्मण के यह करने पर भी श्रीरामचन्द्र ने आर्त होने के कारण लक्ष्मण जी के कथन को सुना अनसुना कर दिया। बल्कि वे धैर्य छोड़ पुनः अत्यन्त दुःखी हुए ॥२०॥

अरण्यकाण्ड का तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ

—:*:—

चतुःषष्टितमः सर्गः

— * —

स दीनो दीनया वाचा लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ।
शीघ्रं लक्ष्मण जानीहि गत्वा गोदावरीं नदीम् ॥१॥

दीनता को प्राप्त श्रीरामचन्द्र दीन वचन कह लक्ष्मण से बोले—हे लक्ष्मण! तुम शीघ्र गोदावरी के तट पर जाकर देख आओ कि ॥१॥

अपि गोदावरीं सीता पद्मान्यानयितुं गता ।
एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः *पुनरेवहि ॥२॥
नदीं गोदावरीं रम्यां जगाम लघुविक्रमः[१] ।
तां लक्ष्मणस्तीर्थवतीं विचित्वा राममब्रवीत् ॥३॥
नैनां पश्यामि तीर्थेषु क्रोशतो न शृणोति मे ।
कं नु सा देशमापन्ना वैदेही क्लेशनाशिनी ॥४॥

जानकी कहीं कमल के फूल लेने तो वहाँ नहीं गई। श्रीरामचन्द्र जी के पुनः यही बात कहने पर शीघ्रगामी लक्ष्मण तुरन्त

१ लघुविक्रमः—अतिशयप्रसादसंचेपवान् लक्ष्मणः। (गो०)
पाठान्तरे—"परवीरहा।"

गोदावरी के तट पर पहुँचे और उस सुन्दर घाटों वाली गोदावरी के चारों ओर देख भाल कर श्रीरामचन्द्र के पास लौट आए और बोले—मैंने सभी घाटों पर ढूँढ़ा, किन्तु कहीं भी वे मुझे न मिलीं। मैंने उन्हें पुकारा भी किन्तु मुझे कुछ उत्तर न मिला। नहीं मालूम क्लेशनाशिनी सीता, कहाँ चली गयीं ॥२॥३॥४॥

न ह्यहं वेद तं देशं यत्र सा जनकात्मजा ।
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा दीनः सन्तापमोहितः ॥५॥

मैं नहीं कह सकता कि, जानकी जी कहाँ हैं ? लक्ष्मण जी के ये वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी उदास और सन्तप्त हो ॥५॥

रामः समभिचक्राम स्वयं गोदावरीं नदीम् ।
स तामुपस्थितो रामः क्व सीतेत्येवमब्रवीत् ॥६॥

तथा स्वयं गोदावरी नदी के तट पर जा, कहने लगे—हे सीते! तुम कहाँ हो ? ॥६॥

भूतानि राक्षसेन्द्रेण वधार्हेण हृतामपि ।
न तां शशंसू रामाय तथा गोदावरी नदी ॥७॥

सब प्राणियों ने तथा गोदावरी नदी ने श्रीरामचन्द्र जी से यह न कहा कि, वध करने योग्य रावण सीता को हर कर ले गया है ॥७॥

ततः प्रचोदिता भूतैः शंसास्मत्तां प्रियामिति ।
न तु साऽभ्यवदत्सीतां पृष्टा रामेण शोचता ॥८॥

तदनन्तर उस वन के प्राणियों ने गोदावरी से अनुरोध किया कि, श्रीरामचन्द्र को बतला दे कि, रावण सीता को हर कर ले

---

१ भूतानि—वन्यानि सत्त्वानि। (गो०)

गया है। चिन्ताग्रस्त श्रीरामचन्द्र जी ने पूँछा, किन्तु गोदावरी ने न बतलाया ॥८॥

रावणस्य च तद्रूपं कर्माणि च दुरात्मनः।
ध्यात्वा भयात्तु वैदेहीं सा नदी न शशंस ताम् ॥९॥

क्योंकि रावण का शक्ल और उस दुष्ट के कार्यों का स्मरण कर मारे डर के गोदावरी को साहस न हुआ कि, वह सीता का हाल श्रीरामचन्द्र से कहे ॥९॥

निराशस्तु तया नद्या सीताया दर्शने कृतः।
उवाच रामः सौमित्रिं सीताऽदर्शनकर्शितः ॥१०॥

सीता जी के दर्शन से इस प्रकार नदी से निराश हो श्रीरामचन्द्र जी ने जो सीता के विरह से पीड़ित थे, लक्ष्मण जी से कहा ॥१०॥

एषा गोदावरी सौम्य किञ्चिन्न प्रतिभाषते।
किन्नु लक्ष्मण वक्ष्यामि समेत्य जनकं वचः ॥११॥
मातरं चैव वैदेह्या विना तामहमप्रियम्।
या मे राज्यविहीनस्य वने वन्येन जीवतः ॥१२॥
सर्वं व्यपनयेच्छोकं वैदेही क्व नु सा गता।
ज्ञातिपक्षविहीनस्य राजपुत्रीमपश्यतः ॥१३॥

मन्ये दीर्घा भविष्यन्ति रात्रयो मम जाग्रतः ।
मन्दाकिनीं जनस्थानमिमं प्रस्रवणं गिरिम् ॥१४॥
सर्वाण्यनुचरिष्यामि यदि सीता हि दृश्यते ।
एते मृगा महावीरा मामीक्षन्ते मुहुर्मुहुः ॥१५॥

सो अब ऐसा मुझे जान पड़ता है कि, ये रातें भी जागने के कारण मेरे लिए बहुत बड़ी हो जायँगी । मन्दाकिनी नदी, जनस्थान और इस समस्त प्रस्रवण पहाड़ को चल फिर कर ढूँढूगा । कदाचित् सीता से भेंट हो जाय । हे वीर ! देखो ये बड़े बड़े मृग मेरी ओर देखते हैं ॥१४॥१५॥

वक्तुकामा इव हि मे इङ्गितान्युपलक्षये ।
तांस्तु दृष्ट्वा नरव्याघ्रो राघवः प्रत्युवाच ह ॥१६॥

इनके सङ्केतों से ऐसा जान पड़ता है मानो वे मुझसे कुछ कहना चाहते हैं । उनकी (मृगों की) ओर देख पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र ने उनसे कहा ॥१६॥

क्व सीतेति निरीक्षन्वै बाष्पमरुद्धया दृशा ।
एवमुक्ता नरेन्द्रेण ते मृगाः सहसोत्थिताः ॥१७॥
दक्षिणाभिमुखाः सर्वे दर्शयन्तो नभःस्थलम् ।
मैथिली ह्रियमाणा सा दिशं यामन्वपद्यत ॥१८॥

हे मृगो ! सीता कहाँ है ? यह कहते ही श्रीरामचन्द्र जी की आँखों में आँसू भर आए और कण्ठ गद्गद हो गया । श्रीरामचन्द्र के इस प्रकार पूँछने पर वे मृग शीघ्र उठ कर दक्षिणाभिमुख हो आकाश मार्ग को दिखलाते हुए चले और जिस रास्ते से रावण सीता को हर कर ले गया था, उसी मार्ग से वे आगे बढ़े ॥१७॥१८॥

तेन मार्गेण धावन्तो निरीक्षन्ते नराधिपम् ।
येन मार्गं च भूमिं च निरीक्षन्ते स्म ते मृगाः ॥१६॥
पुनश्च मार्गमिच्छन्ति लक्ष्मणेनोपलक्षिताः ।
तेषां वचनसर्वस्वं लक्षयामास चेङ्गितम् ॥२०॥

उसी मार्ग पर मृग दौड़ते चले जाते थे और मुड़ मुड़ कर
पीछे श्रीरामचन्द्र जी को देखते जाते थे। जिस ओर के रास्ते को
और ज़मीन को वे मृग देखते तथा जाते जाते शब्द करते जाते थे,
उस ओर लक्ष्मण ने देखा और उन मृगों की बोली के अभिप्राय
को समझ तथा उनकी चेष्टा पर ध्यान दे ॥१६॥२०॥

उवाच लक्ष्मणो ज्येष्ठं धीमान् भ्रातरमार्तवत् ।
क्व सीतेति त्वया पृष्टा यथेमे सहसोत्थिताः ॥२१॥

लक्ष्मण ने आर्त्त की तरह अपने ज्येष्ठ बुद्धिमान भाई से
कहा—आपने इनसे पूछा कि, सीता कहाँ है? सो ये मृग एक
साथ उठ कर, ॥२१॥

दर्शयन्ति क्षितिं चैव दक्षिणां च दिशं मृगाः ।
साधु गच्छावहे देव दिशमेतां हि नैर्ऋतिम् ॥२२॥

हमें आकाश और दक्षिण दिशा दिखला रहे हैं। अतः जैसा
ये बतला रहे हैं, वैसे ही हमें नैऋत्य दिशा की ओर चलना
चाहिए ॥२२॥

यदि स्यादागमः कश्चिदार्या वा साऽथ लक्ष्यते ।
बाढमित्येव काकुत्स्थः प्रस्थितो दक्षिणां दिशम् ॥२३॥

श्रीरामचन्द्र द्वारा सीता के विषय में इस प्रकार पूछे जाने पर वह पर्वत बतलाने की इच्छा रखता हुआ भी, (रावण के भय से) बतलाने को तैयार न हुआ ॥३२॥

ततो दाशरथी राम उवाच च शिलोच्चयम् ।
मम बाणाग्निनिर्दग्धो भस्मीभूतो भविष्यसि ॥३३॥

तब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने पर्वत से कहा कि, तू मेरे बाणों की आग से जल कर भस्म हो जायगा (अर्थात् मैं तुझे अपने बाणों से भस्म कर डालूँगा) ॥३३॥

असेव्यः सन्ततं चैव निस्तृणद्रुमपल्लवः ।
इमां वा सरितां चाद्य शोषयिष्यामि लक्ष्मण ।
यदि नाख्याति मे सीतामार्यां चन्द्रनिभाननाम् ॥३४॥

फिर तृण वृक्ष, पल्लवादि के भस्म होने से कोई तेरा आश्रय ग्रहण न करेगा। हे लक्ष्मण ! यदि यह पर्वत और नदी गोदावरी मेरी पतिव्रता एवं चन्द्रवदनी सीता का पता नहीं बतलावेगी तो आज मैं इस गोदावरी नदी को भी सुखा डालूँगा और पर्वत को नष्ट कर डालूँगा ॥३४॥

एवं स रुषितो रामो दिधक्षन्निव चक्षुषा ॥३५॥

इस प्रकार से श्रीरामचन्द्र जी कह, अत्यन्त कुपित हुए और क्रुद्ध हो, वे मानों नेत्रों से उस पर्वत को भस्म करना चाहते थे ॥३५॥

ददर्श भूमौ निष्क्रान्तं राक्षसस्य पदं महत् ।
त्रस्ताया रामकाङ्क्षिण्याः प्रधावन्त्या इतस्ततः ॥३६॥

इतने में वहाँ भूमि पर राक्षस का विशाल पद-चिह्न देख पड़ा। साथ ही उन जानकी जी के पदों के चिह्न भी दिखलाई पड़े

ने श्रीरामचन्द्र के दर्शनों की इच्छा किए हुए, राक्षस से त्रस्त हो, इधर उधर दौड़ी थीं ॥३६॥

राक्षसेनानुवृत्ताया मैथिल्याश्च पदान्यथ ।
स समीक्ष्य परिक्रान्तं सीताया राक्षसस्य च ॥३७॥

राक्षस का पीछा करने से जानकी के भी पैरों के चिह्न राक्षस के पैरों के चिह्नों के भीतर बने देख पड़े। श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी वा राक्षस के पदचिह्नों को एक में मिला देखा ॥३७॥

भग्नं धनुश्च तूणी च विकीर्णं बहुधा रथम् ।
सम्भ्रान्तहृदयो रामः शशंस भ्रातरं प्रियम् ॥३८॥

फिर धनुष व तरकस को टूटा हुआ वहाँ पड़ा देख तथा रथ को भी चूर चूर हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी ने उद्विग्न हो, अपने प्यारे भाई लक्ष्मण से कहा ॥ ३८ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः शीर्णाः कनकबिन्दवः
भूषणानां हि सौमित्रे माल्यानि विविधानि च ॥३९॥

हे लक्ष्मण! देखो जानकी जी के गहनों के सोने के दाने और विविध प्रकार की मालाएँ यहाँ बिखरी हुई पड़ी हैं ॥३९॥

तप्तबिन्दुनिकाशैश्च चित्रैः क्षतजबिन्दुभिः ।
आवृतं पश्य सौमित्रे सर्वतो धरणीतलम् ॥४०॥

और देखो ये लोहू की सुवर्णबिन्दु सम विचित्र बूँदें पृथिवी में चारों ओर टपकाई हुई सी देख पड़ती हैं ॥४०॥

मन्ये लक्ष्मण वैदेही राक्षसैः कामरूपिभिः
भित्त्वा भित्त्वा विभक्ता वा भक्षिता वा

हे लक्ष्मण ! इससे जान पड़ता है कि, कामरूपी राक्षसों ने सीता के शरीर को टुकड़े टुकड़े कर और आपस में हिस्सा बाँट कर खा डाला है ॥ ४१ ॥

तस्या निमित्तं वैदेह्या द्वयोर्विवदमानयोः ।
बभूव युद्धं सौमित्रे घोरं राक्षसयोरिह ॥४२॥

ऐसा मालूम देता है कि, सीता के लिए दो राक्षसों का यहाँ परस्पर झगड़ा हुआ है और आपस में घोर लड़ाई हुई है ॥४२॥

मुक्तामणिमयं चेदं तपनीयविभूषितम् ।
धरण्यां पतितं सौम्य कस्य भग्नं महद्धनुः ॥४३॥

हे सौम्य ! मोती और मोतियों से जड़ा हुआ यह विशाल धनुष टूटा हुआ जमीन पर किसका पड़ा हुआ है ? ॥४३॥

[राक्षसानामिदं वत्स सुराणामथवाऽपि वा ।]
तरुणादित्यसङ्काशं वैडूर्यगुलिकाचितम् ॥४४॥

हे वत्स ! या तो यह धनुष किसी राक्षस का है अथवा किसी देवता का। क्योंकि यह मध्याह्नकालीन सूर्य की तरह कैसा चमक रहा है और स्थान स्थान पर पन्नों की गोलियाँ कैसी जड़ी हैं ॥४४॥

विशीर्णं पतितं भग्नं कवचं कस्य काञ्चनम् ।
छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥४५॥

यह सोने का कवच किसका टूटा फूटा पड़ा है और सौ तीलियों का यह छत्र जो दिव्य मालाओं से भूषित है, किसका है ? ॥४५॥

भग्नदण्डमिदं कस्य भूमौ सम्यनिपातितम् ।
काञ्चनोरश्छदाश्चेमे पिशाचवदनाः खराः ॥४६॥
भीमरूपा महाकायाः कस्य वा निहता रणे ।
दीप्तपावकसङ्काशो द्युतिमान् समरध्वजः ॥४७॥
अपविद्धश्च भग्नश्च कस्य सांग्रामिको रथः ।
रथाक्षमात्रा वि[illegible]स्तपनीयवि[illegible]णाः ॥४८॥

और यह टूटा हुआ दण्ड किस[illegible] ज़मीन पर पड़ा हुआ है? [illegible] देह वाले ये सुवर्ण कवच से सजे हुए [illegible] पिशाचमुख, भयङ्कर और बड़े [illegible] युद्ध में किसके मारे गए हैं। यह प्रज्वलित [illegible] की तरह चमकता और [illegible] युक्त संग्राम रथ चूर [illegible] किसका पड़ा है? [illegible] और [illegible] सुवर्ण भूषित ॥४६।४७।४८॥

जो सिर पर पगड़ी और कानों मे जड़ाऊ कुण्डल धारण किए हैं, युद्ध मे मरे हुए किसके पड़े हैं। जान पडता है कि, अवश्य यह किसी राक्षस के आने जाने का मार्ग है ॥५०॥५१॥

वैरं शतगुणं पश्य ममेदं जीवितान्तकम्।
सुघोरहृदयैः सौम्य राक्षसैः कामरूपिभिः ॥५२॥

हे सौम्य! देखो अत्यन्त कठोर हृदय और काम रूपी राक्षसों के साथ अब तो सौ गुना अधिक ऐसा वैर हो गया, जिसका परिणाम उनका प्राणनाश होगा ॥५२॥

हृता मृता वा सीता सा भक्षिता वा तपस्विनी।
न धर्मस्त्रायते सीतां ह्रियमाणां महावने ॥५३॥

या तो राक्षसो ने सीता को हर लिया, अथवा उस तपस्विनी ने सङ्कट मे पड़, स्वय प्राण त्याग दिए अथवा किसी वन्य पशु ने उसे खा डाला। देखो हरे जाने के समय इस महावन मे धर्म ने भी सीता की रक्षा न की ॥५३॥

भक्षितायां हि वैदेह्यां हृतायामपि लक्ष्मण।
के हि लोकेऽप्रियं कर्तुं शक्ताः सौम्य ममेश्वराः ॥५४॥

हे सौम्य! जब जानकी भी मार कर खाई गई अथवा हरी ही गई, तब यदि धर्म ने उसकी रक्षा न की, तब इस ससार मे और कौन ईश्वरीय शक्ति सम्पन्न पुरुष मेरा हित कर सकता है ॥५४॥

कर्तारमपि लोकानां शूरं[1] करुणवेदिनम्[2]।
अज्ञानादवमन्येरन् सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥५५॥

---

१ शूरमपि संहारकरणसमर्थमपि। (गो०) २ करुणा वेदिन—कारुण्य परं पुरुष। (गो०)

इसीसे हे लक्ष्मण! प्राणिमात्र अज्ञान के परवर्ती हो, उन परमेश्वर को, जो लोकों के रचने, पालने और संहार करने की शक्ति रखते हैं, नहीं मानते अर्थात् उनका अनादर करते हैं। लोगों का यह स्वभाव ही है ॥५५॥

मृदुं लोकहिते युक्तं दान्तं[1] करुणवेदिनम् ।
निर्वीर्य इति मन्यन्ते नूनं मां त्रिदशेश्वराः ॥५६॥

हे सौम्य! देवता लोग तो मेरे कोमल-हृदय, लोकहित में तत्पर, जितेन्द्रिय और दयालु होने के कारण मुझको पराक्रमहीन मानते हैं। ५६॥

मां प्राप्य हि गुणो दोषः संवृत्तः पश्य लक्ष्मण ।
अद्यैव सर्वभूतानां रक्षसामभवाय च ॥५७॥

हे लक्ष्मण! इन गुणों का समावेश मुझमें होने के कारण, गुण दूषित हो गए हैं। देखो, अब सब प्राणियों और विशेष कर राक्षसों के अभाव के लिए ॥५७॥

संहृत्यैव शशिज्योत्स्नां महान् सूर्य इवोदितः ।
संहृत्यैव गुणान् सर्वान् मम तेजः प्रकाशते ॥५८॥

चन्द्रमा की चाँदनी को हटा, उदय हुए सूर्य की तरह, इन गुणों को नाश कर मेरा तेज कैसा प्रकट होता है ॥५८॥

नैव यक्षा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
किंनरा वा मनुष्या वा सुखं प्राप्स्यन्ति लक्ष्मण ॥५९॥

---

[1] करुणवेदि न दान्त—विषयचापल्यरहित ना। (गो०)

जो सिर पर पगड़ी और कानों मे जड़ाऊ कुण्डल धारण किए हैं, युद्ध मे मरे हुए किसके पड़े हैं। जान पडता है कि, अवश्य यह किसी राक्षस के आने जाने का मार्ग है ॥५०॥५१॥

वैरं शतगुणं पश्य ममेदं जीवितान्तकम्।
सुघोरहृदयैः सौम्य राक्षसैः कामरूपिभिः ॥५२॥

हे सौम्य! देखो अत्यन्त कठोर हृदय और काम रूपी राक्षसों के साथ अब तो सौ गुना अधिक ऐसा वैर हो गया, जिसका परिणाम उनका प्राणनाश होगा ॥५२॥

हृता मृता वा सीता सा भक्षिता वा तपस्विनी।
न धर्मस्त्रायते सीतां ह्रियमाणां महावने ॥५३॥

या तो राक्षसों ने सीता को हर लिया, अथवा उस तपस्विनी ने सङ्कट मे पड, स्वयं प्राण त्याग दिए अथवा किसी वन्य पशु ने उसे खा डाला। देखो हरे जाने के समय इस महावन मे धर्म ने भी सीता की रक्षा न की ॥५३॥

भक्षितायां हि वैदेह्यां हृतायामपि लक्ष्मण।
के हि लोकेऽप्रियं कर्तुं शक्ताः सौम्य ममेश्वराः ॥५४॥

हे सौम्य! जब जानकी जी मार कर खाई गई अथवा हरी ही गई, तब यदि धर्म ने उसकी रक्षा न की, तब इस संसार मे और कौन ईश्वरीय शक्ति सम्पन्न पुरुष मेरा हित कर सकता है ॥५४॥

कर्तारमपि लोकानां शूरं[1] करुणवेदिनम्[2]।
अज्ञानादवमन्येरन् सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥५५॥

---

१ शूरमपि संहारकरणसमर्थमपि। (गो०) २ करुण वेदिन—कारुण्य परं पुरुष। (गो०)

इसीसे हे लक्ष्मण ! प्राणिमात्र अज्ञान के परवर्ती हो, उन परमेश्वर को, जो लोकों के रचने, पालने और संहार करने की शक्ति रखते हैं, नहीं मानते अर्थात् उनका अनादर करते हैं। लोगों का यह स्वभाव ही है ॥५५॥

मृदु लोकहिते युक्तं दान्तं[1]करुणवेदिनम् ।
निर्वीर्य इति मन्यन्ते नूनं मां त्रिदशेश्वराः ॥५६॥

हे सौम्य ! देवता लोग तो मेरे कोमल-हृदय, लोकहित में तत्पर, जितेन्द्रिय और दयालु होने के कारण मुझको पराक्रमहीन मानते हैं। ५६॥

मां प्राप्य हि गुणो दोषः संवृत्तः पश्य लक्ष्मण ।
अद्यैव सर्वभूतानां रक्षसामभवाय च ॥५७॥

हे लक्ष्मण ! इन गुणों का समावेश मुझमें होने के कारण, गुण दूषित हो गए हैं। देखो, अब सब प्राणियों और विशेष कर राक्षसों के अभाव के लिए ॥५७॥

संहृत्यैव शशिज्योत्स्नां महान् सूर्य इवोदितः ।
संहृत्यैव गुणान् सर्वान् मम तेजः प्रकाशते ॥५८॥

चन्द्रमा की चाँदनी को हटा, उदय हुए सूर्य की तरह, इन गुणों को नाश कर, मेरा तेज कैसा प्रकट होता है ॥५८॥

नैव यक्षा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
किन्नरा वा मनुष्या वा सुखं प्राप्स्यन्ति लक्ष्मण ॥५९॥

---

१ करुणवेदि न दान्त—वि० मा

हे लक्ष्मण! इस तेज के प्रकट होने पर न तो यक्ष, न गन्धर्व, न पिशाच, न राक्षस, न किन्नर और न मनुष्य ही सुखी रहने पावेंगे ॥५९॥

ममास्त्रबाणसम्पूर्णमाकाशं पश्य लक्ष्मण ।
निःसम्पातं करिष्यामि ह्यद्य त्रैलोक्यचारिणाम् ॥६०॥

हे लक्ष्मण! देखो, मैं अपने अस्त्र रूपी बाणों से आकाश को ढके देता हूँ, जिससे तीनों लोकों में आने जाने वाले विमानों का रास्ता ही बंद हो जायगा ॥६०॥

संनिरुद्धग्रहगणमावारितनिशाकरम् ।
विप्रनष्टानलमरुद्भास्करद्युतिसंवृतम् ॥६१॥

ग्रहों की गति रुक जायगी, चन्द्रमा जहाँ का तहाँ स्थिर हो जायगा। वायु, अग्नि और सूर्य की द्युति के ढक जाने से सर्वत्र अन्धकार छा जायगा ॥६१॥

विनिर्मथितशैलाग्रं शुष्यमाणजलाशयम् ।
ध्वस्तद्रुमलतागुल्मं विप्रणाशितसागरम् ॥६२॥

पर्वतों के शृङ्ग काट कर मैं गिरा दूँगा, जलाशयों को सुखा दूँगा और वनों को वृक्ष, लता तथा झाड़ों से शून्य कर दूँगा। समुद्रों को उजाड़ दूँगा ॥६२॥

त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं कालधर्मणा ।
न तां कुशलिनीं सीतां प्रदास्यन्ति यदीश्वराः* ॥६३॥

यदि देवतागण सीता को कुशलपूर्वक मुझे न दे देंगे, तो मैं तीनों लोकों में प्रलयकाल उपस्थित कर दूँगा ॥६३॥

* पाठान्तरे—ममेश्वराः ।

अस्मिन्मुहूर्ते सौमित्रे मम द्रक्ष्यन्ति विक्रमम् ।
नाकाशमुत्पतिष्यन्ति सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥६४॥

हे लक्ष्मण ! मैं उनको (देवताओं को) अभी अपना पराक्रम दिखला दूँगा । आकाश मे जाकर भी कोई न बच सकेगा ॥६४॥

मम चापगुणोन्मुक्तैर्बाणजालैर्निरन्तरम् ।
अर्दितं मम नाराचैर्ध्वस्तभ्रान्तमृगद्विजम् ॥६५॥

हे लक्ष्मण ! आज मेरे धनुष से छूटे हुए तीरों से समस्त प्राणी निरन्तर आहत होंगे । मृग व पक्षी सब के सब तीरों से घायल हो कर तथा घबड़ा कर नष्ट हो जायँगे । ६५॥

समाकुलममर्यादं जगत्पश्याद्य* लक्ष्मण ।
आकर्णपूर्णैरिषुभिर्जीवलोकं दुरावरैः ॥६६॥
करिष्ये मैथिलीहेतोरपिशाचमराक्षसम् ।
मम रोषप्रयुक्तानां सायकानां बलं सुराः ॥६७॥
द्रक्ष्यन्त्यद्य विमुक्तानाममर्षाद्दूरगामिनाम् ।
नैव देवा न दैतेया न पिशाचा न राक्षसाः ॥६८॥

हे लक्ष्मण ! देखना, सारा जगत घबड़ा कर मर्यादा त्याग देगा । सीता के लिए मैं कमान कान तक खींच कर, ऐसे बाण छोड़ूँगा, जिन्हें कोई न सह सकेगा और मैं इस जगत को पिशाचों और राक्षसों से शून्य कर दूँगा । न मेरे उन बाणों की महिमा को, जिन्हें मैं क्रोध मे भर चलाऊँगा और जो बहुत दूर तक चले जायेंगे, देवता लोग देखेंगे । न तो देवता, न दैत्य न पिशाच और न राक्षस ही ॥६६॥६७॥६८॥

* पाठान्तरे—"जगत्पश्यार्य ।" पाठान्तरे "दुरावरैः ।"

भविष्यन्ति मम क्रोधात्त्रैलोक्ये विप्रणाशिते ।
देवदानवयक्षाणां लोका ये रक्षसामपि ॥६९॥

क्रोध में भर इस त्रैलोक्य का नाश करते समय मेरे सामने टिक सकेंगे। देवताओं, दानवों, यक्षों और राक्षसों के भी जो लोक हैं ॥६९॥

बहुधा न भविष्यन्ति बाणौघैः शकलीकृताः ।
निर्मर्यादानिमाँल्लोकान् करिष्याम्यद्य सायकैः ॥७०॥

वे मेरे तीरों की मार से खण्ड खण्ड हो कर नीचे गिर पड़ेंगे। मैं अपने बाणों की मार से आज लोकों की मर्यादा भङ्ग कर दूँगा ॥७०॥

हृतां मृतां वा सौमित्रे न दास्यन्ति ममेश्वराः ।
तथारूपां हि वैदेहीं न दास्यन्ति यदि प्रियाम् ॥७१॥

यदि देवता लोग मेरी सीता को जो भले ही हर ली गई हो या मर ही क्यों न गई हो, सकुशल मुझे न देवेंगे ॥७१॥

नाशयामि जगत्सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो रामो निष्पीड्य कार्मुकम् ॥७२॥

तो मैं चराचर सहित सारे जगत ही को नहीं, प्रत्युत तीनों लोकों को नष्ट कर डालूँगा। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध के मारे नेत्रों को लाल लाल कर, हाथ में धनुष लिया ॥७२॥

शरमादाय सन्दीप्तं घोरमाशीविषोपमम् ।
सन्धाय धनुषि श्रीमान् रामः परपुरञ्जयः ॥७३॥

फिर चमचमाता और सर्प के विष के समान भयङ्कर बाण शत्रुनाशकारी श्रीमान् रामचन्द्र ने धनुष पर रखा ॥७३॥

युगान्ताग्निरिव क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत्।
यथा जरा यथा मृत्युर्यथा कालो यथा विधिः[1] ॥७४॥
नित्यं न प्रतिहन्यन्ते सर्वभूतेषु लक्ष्मण।
तथाऽहं क्रोधसंयुक्तो न निवार्योऽस्मि सर्वथा ॥७५॥

और प्रलयकालीन अग्नि की तरह क्रुद्ध हो यह वचन बोले— हे लक्ष्मण! जिस प्रकार बुढ़ापा, मृत्यु और भाग्य प्राणी मात्र के रोके नहीं जा सकते, उसी प्रकार क्रोध से युक्त मुझको भी कोई किसी प्रकार भी नहीं रोक सकता ॥७४॥७५॥

पुरेव मे चारुदतीमनिन्दितां
दिशन्ति सीतां यदि नाद्य मैथिलीम्।
सदेवगन्धर्वमनुष्यपन्नगं
जगत्सशैलं [2]परिवर्तयाम्यहम् ॥७६॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

सुन्दर दाँत वाली, किसी प्रकार की भी बुराई से रहित मैथिली सीता यदि मुझे न मिली तो मैं देव, गन्धर्व, मनुष्य, पन्नग और पहाड़ों सहित, सारे जगत को नष्ट कर डालूँगा ॥७६॥

अरण्यकाण्ड का चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

१ विधि.—अदृष्ट। (गो०) २ परिवर्तयामि—नाशयामि। (गो०)

पञ्चषष्टितमः सर्गः



तप्यमानं तथा रामं सीताहरणकर्शितम् ।
लोकानामभवे युक्तं संवर्तकमिवानलम् ॥१॥

वीक्षमाणं धनुः सज्यं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।
दग्धुकामं जगत्सर्वं युगान्ते तु यथा हरम् ॥२॥

अदृष्टपूर्वं संक्रुद्धं दृष्ट्वा रामं तु लक्ष्मणः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥३॥

सीता जी के हरण से क्लेशित, सन्तप्त और प्रलयकालीन अग्नि की तरह लोकों का नाश करने में तत्पर, बार बार रोदा युक्त धनुष को देखते हुए, बार बार लम्बी साँसें लेते हुए तथा युग के अन्त में सम्पूर्ण जगत् को रुद्र की तरह भस्म करने को तत्पर, अपूर्व विलक्षण क्रोध से युक्त, श्रीरामचन्द्र जी को देख, लक्ष्मण जी हाथ जोड़ कर उनसे बोले। (उस समय) मारे डर के लक्ष्मण जी का मुख सूख गया था ॥१॥२॥३॥

पुरा भूत्वा मृदुर्दान्तः सर्वभूतहिते रतः ।
न क्रोधवशमापन्नः प्रकृतिं हातुमर्हसि ॥४॥

आप दयालु स्वभाव, जितेन्द्रिय और प्राणिमात्र के हित में रत होकर, इस समय क्रोध के वशवर्ती हो, अपने स्वभाव को न [illegible]गिए ॥४॥

चन्द्रे लक्ष्मीः प्रभा सूर्ये गतिर्वायौ भुवि क्षमा ।
एतच्च नियत सर्वं त्वयि चानुत्तमं यशः ॥५॥

जैसे चन्द्रमा मे श्री, सूर्य मे प्रभा, वायु में गति और पृथ्वी मे क्षमा नियमित रूप से रहती है, वैसे ही आपमे इन चारों गुणों के सहित उत्तम यश स्थित है ॥५॥

एकस्य नापराधेन लोकान् हन्तुं त्वमर्हसि ।
न तु जानामि कस्याय भग्नः सांग्रामिको रथः ॥६॥
केन वा कस्य वा हेतोः सायुधः सपरिच्छदः ।
खुरनेमिक्षतश्चायं सिक्तो रुधिरबिन्दुभिः ॥७॥

आपको यह उचित नहीं कि, एक के अपराध से सम्पूर्ण जगत का नाश करें। अभी तो यह भी नहीं मालूम कि, यह किसका अस्त्रशस्त्रों सहित तथा सपरिकर संग्राम रथ टूट पड़ा है और किसने और क्यों इसको तोड़ा है। यह स्थान घोड़ों के खुरों और रथ के पहियों से खुदा हुआ तथा लोहू की बूँदों से छिड़काया हुआ देख पड़ता है ॥६॥७॥

देशो निर्वृत्तसंग्रामः सुघोरः पार्थिवात्मज ।
एकस्य तु विमर्दोऽयं न द्वयोर्वदतां वर ॥८॥

हे राजकुमार ! अतः अवश्य ही यहाँ घोर संग्राम हुआ है। साथ ही यह भी जान पड़ता है कि, एक रथी के साथ किसी पशु का युद्ध हुआ है, दो जनों का युद्ध नहीं हुआ ॥८॥

न हि वृत्तं हि पश्यामि बलस्य महतः पदम् ।
नैकस्य तु कृते लोकान्विनाशयितुमर्हसि ॥९॥

बड़ी सेना के चरणचिह्न भी यहाँ पर नहीं देख पड़ते। इस लिए आपको एक के पीछे समस्त लोकों का नाश करना ठीक नहीं ॥९॥

युक्तदण्डा हि मृदवः प्रशान्ता वसुधाधिपाः।
सदा त्वं सर्वभूतानां शरण्यः परमा गतिः ॥१०॥

राजा लोग अपराध के अनुसार दण्ड देने वाले होने पर भी दयालु और शान्त स्वभाव हुआ करते हैं और आप तो सदा सब प्राणियों को शरण देने वाले और उनकी परमगति हैं ॥१०॥

को नु दारप्रणाशं ते साधु मन्येत राघव।
सरितः सागराः शैला देवगन्धर्वदानवाः ॥११॥

हे राघव! आपकी स्त्री का नष्ट होना कौन अच्छा मानता है। नदी, समुद्र, पर्वत, देव, गन्धर्व और दानव ॥११॥

नालं ते विप्रियं कर्तुं दीक्षितस्येव साधवः[1]।
येन राजन् हृता सीता तमन्वेषितुमर्हसि ॥१२॥

इनमें से कोई भी आपका बिगाड़ नहीं कर सकता, जैसे ऋत्विज यज्ञ दीक्षा प्राप्त पुरुष का अप्रिय नहीं कर सकते। हे राजन्! जिसने सीता चुराई है, उसको ढूँढना चाहिए ॥१२॥

मद्‌द्वितीयो धनुष्पाणिः सहायैः परमर्षिभिः।
समुद्रं च विचेष्यामः पर्वतांश्च वनानि च ॥१३॥
गुहाश्च विविधा घोरा नदीः पद्मवनानि च।
देवगन्धर्वलोकांश्च विचेष्यामः समाहिताः ॥
यावन्नाधिगमिष्यामस्तव भार्यापहारिणम् ॥१४॥

---

१ साधवः—ऋत्विजः। (गो०)

इस कालमे भी,मैं धनुषको ले आपका सहायक होऊँगा। महर्षि भी आपको इस कार्य में सहायता देंगे। हम लोग जब तक सीता का हरण करने वाले का पता न लगा लेंगे, तब तक समुद्र, पर्वत, वन, भयानक गुफाएँ, कमलों सहित अनेक ताल तलैयाँ, देव और गन्धर्वों के लोकों मे चल, सावधानी से ढूँढ़ते ही रहेंगे ॥१३॥१४॥

न चेत्साम्ना प्रदास्यन्ति पत्नीं ते त्रिदशेश्वराः।
कोसलेन्द्र ततः पश्चात्प्राप्तकालं करिष्यसि ॥१५॥

इस पर भी यदि देवतागण सीधी तरह आपकी पत्नी को ला कर, उपस्थित न करेंगे, तो हे कोसलेन्द्र! उनको दण्ड दीजियेगा ॥१५॥

शीलेन साम्ना विनयेन सीतां
नयेन न प्राप्स्यसि चेन्नरेन्द्र।
ततः समुत्पाटय हेमपुङ्खै-
र्महेन्द्रवज्रप्रतिमैः शरौघैः ॥१६

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः।

हे नरेन्द्र! शील साम, विनय औरनीति से यदि सीता आपको न मिले, तो आप इन्द्र के वज्र के समान सोने के पुंखों वाले तीरो से लोकों को नष्ट कर डालियेगा ॥१६॥

अरण्यकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—✿—

षट्षष्टितमः सर्गः

—❀—

तं तथा शोकसन्तप्तं विलपन्तमनाथवत् ।
मोहेन महताऽऽविष्टं परिद्यूनमचेतनम् ॥१॥

लक्ष्मण के इस प्रकार समझाने पर भी शोकसन्तप्त, अना
की तरह विलाप करते, महामोह से युक्त, मारे चिन्ता के चेतन
रहित ॥१॥

ततः सौमित्रिराश्वास्य मुहूर्तादिव लक्ष्मणः ।
रामं संबोधयामास चरणौ चाभिपीडयन् ॥२॥

श्रीराम को, लक्ष्मण जी उनके चरण पकड़ कर, एक मुहूर्त तक
समझाते हुए, कहने लगे ॥२॥

महता तपसा राम महता चापि कर्मणा ।
राज्ञा दशरथेनासि लब्धोऽमृतमिवामरैः ॥३॥

हे राम ! महाराज दशरथ ने बड़े जप, तप और कर्मानुष्ठान कर
के आपको उसी प्रकार प्राप्त किया था, जिस प्रकार बड़े बड़े प्रयत्न
कर, देवताओं ने अमृत पाया ॥३॥

तव चैव गुणैर्बद्धस्त्वद्वियोगान्महीपतिः ।
राजा देवत्वमापन्नो भरतस्य यथा श्रुतम् ॥४॥

महाराज तुम्हारे गुणों पर मुग्ध हो, तुम्हारे वियोग में,
देवलोक को प्राप्त हुए हैं । यह बात हम लोगों को भरत जी से
अवगत हो चुकी है ॥४॥

यदि दुःखमिदं प्राप्तं काकुत्स्थ न सहिष्यसे ।
प्राकृतश्चाल्पसत्त्वश्च इतरः कः सहिष्यति ॥५॥

हे काकुत्स्थ ! यदि आप ही इस आए हुए दुःख को न सहेंगे, तो अज्ञानी और अल्पबुद्धि वाले दूसरे लोगों मे कौन सह सकेगा ॥५॥

[आश्वासिहि नरश्रेष्ठ प्राणिनः कस्य नापदः ।
संस्पृश त्यग्निवद्राजन् क्षणेन व्यपयान्तिच ॥६॥]

हे नरश्रेष्ठ ! आप अपने चित्त को सँभालिए। क्योंकि कौन ऐसा प्राणी है, जिस पर विपत्ति नहीं पड़ती और अग्नि की तरह स्पर्श कर, क्षण ही भर मे निकल नहीं जाती ॥६॥

लोकस्वभाव एवैष ययातिर्नहुषात्मजः ।
गतः शक्रेण सालोक्यमनयस्तं तमः स्पृशत् ॥७॥

लोक स्वभाव ही यह है। देखिए राजा नहुष के पुत्र ययाति स्वर्ग मे जाकर भी अपनी उद्दण्डता से च्युत हुए ॥७॥

महर्षियों वसिष्ठस्तु यः पितुर्नः पुरोहितः ।
अह्नापुत्रशत जज्ञे तथैवास्य पुनर्हतम् ॥८॥

फिर हमारे पिता के पुरोहित महर्षि वसिष्ठ जी के सौ पुत्रों को एक ही दिन में विश्वामित्र ने मार डाला ॥८॥

या चेयं जगतां माता देवी लोकनमस्कृता ।
अस्याश्च चलनं भूमेर्दृश्यते सत्यसंश्रव ॥९॥

हे सत्यप्रतिज्ञ ! जगन्माता, सर्वपूज्या यह पृथ्वी भी कष्टों से अछूती नहीं है। भूकम्पादि दुःख इस पर भी पड़ा करते है ॥९॥

यौ धर्मौ जगतां नेत्रौ यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
आदित्यचन्द्रौ ग्रहणमभ्युपेतौ महाबलौ ॥१०॥

जो सूर्य चन्द्र जगत् के नेत्र और साक्षात् धर्म स्वरूप हैं और जिनमें समस्त संसार टिका हुआ है, सो उन दोनों महाबलियों को भी राहु केतु ग्रस लेते हैं ॥१०॥

[1]सुमहान्त्यपि भूतानि देवाश्च पुरुषर्षभ ।
न दैवस्य प्रमुञ्चन्ति सर्वभूतादिदेहिनः[2] ॥११॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! राजा मान्धाता, नल आदि जैसे बड़े बड़े लोग और देवता भी तो सर्वान्तर्यामी दैव से छुटकारा नहीं पा सकते ॥११॥

शक्रादिष्वपि देवेषु वर्तमानौ नयानयौ ।
श्रूयेते नरशार्दूल न त्वं शोचितुमर्हसि ॥१२॥

इन्द्रादि देवता भी नीति अनीति से उत्पन्न सुख और दुःख भोगते हुए सुने जाते हैं। अतः आप दुःखी न हों ॥१२॥

नष्टायामपि वैदेह्यां हृतायामपि चानघ ।
शोचितुं नार्हसे वीर यथाऽन्यः प्राकृतस्तथा ॥१३॥

हे अनघ ! हे वीर ! चाहे जानकी मार डाली गई हो अथवा हर ही क्यों न ली गई हो। तो भी आपको साधारण लोगों की तरह शोक करना उचित नहीं ॥१३॥

त्वद्विधा न हि शोचन्ति सततं सत्यदर्शिनः ।
सुमहत्स्वपि कृच्छ्रेषु रामानिर्विण्णदर्शनाः ॥१४॥

---

१ सुमहान्त्यपि भूतानि—मान्धातृनलप्रभृतीन महाजना अपि। (गो०)
२ सर्वभूतादिदेहिन—सर्वभूतान्तर्यामिण इत्यर्थ। (गो०)

क्योंकि आप जैसे निरन्तर यथार्थदर्शी महात्मा शोक से विकल नहीं होते। प्रत्युत बड़े बड़े क्लेशकारी स्थानों अथवा अवसरों में भी ऐसे लोग विगतशोक देख पड़ते हैं ॥१४॥

तत्त्वतो हि नरश्रेष्ठ बुद्ध्या समनुचिन्तय ।
बुद्ध्या युक्ता महाप्राज्ञा विजानन्ति शुभाशुभे ॥१५॥

हे नरश्रेष्ठ! आप अपनी बुद्धि से इसका ठीक ठीक विचार कीजिए। क्योंकि जो बुद्धिमान् होते हैं, वे अपनी बुद्धि ही से शुभ और अशुभ जान लेते हैं ॥१५॥

अदृष्टगुणदोषाणामध्रुवाणां तु कर्मणाम् ।
नान्तरेण क्रियां तेषां फलमिष्टं प्रवर्तते ॥१६॥

जिन कर्मों के गुण दोष प्रत्यक्ष देखने में नहीं आते, ऐसे अस्थिर कर्मों के अनुष्ठान से इष्टफल की प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है ॥१६॥

त्वमेव हि पुरा राम मामेवं बहुशोऽन्वशाः[1] ।
अनुशिष्याद्धि को नु त्वामपि साक्षाद्बृहस्पतिः ॥१७॥

हे वीर! आप ही ने मुझे पहले कितना न्याय और अन्याय सम्बन्धी उपदेश दिया था, सो भला आपको उपदेश देने में तो साक्षात् बृहस्पति भी समर्थ नहीं है ॥१७॥

बुद्धिश्च ते महाप्राज्ञ देवैरपि दुरन्वया[2] ।
शोकेनाभिप्रसुप्तं ते ज्ञानं सम्बोधयाम्यहम् ॥१८॥

---

१ अन्वशाः—अनुशासितवानसि। (गो०) २ दुरन्वया—दुर्लभा। (गो०)

हे महाप्राज्ञ! आपकी बुद्धि को देवता लोग भी नहीं पा सकते। किन्तु इस समय शोक के कारण आपका ज्ञान जो सो रहा है, उसे मैं जगाता हूँ ॥१८॥

दिव्यं च मानुषं च त्वमात्मनश्च पराक्रमम् ।
इक्ष्वाकुवृषभावेक्ष्य यतस्व द्विषतां वधे ॥१९॥

हे इक्ष्वाकुश्रेष्ठ! आप अपने दिव्य और मानवी पराक्रम की ओर देख कर, शत्रुवध का प्रयत्न कीजिए ॥१९॥

किं ते सर्वविनाशेन कृतेन पुरुषर्षभ ।
तमेव त्वं रिपुं पापं विज्ञायोद्धर्तुमर्हसि ॥२०॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! सब का नाश कर आप क्या कीजिएगा। आप उसी अपने शत्रु को खोजिए, जिसने सीता हरी है और उसी का आप नाश भी कीजिए ॥२०॥

अरण्यकाण्ड का छयासठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

सप्तषष्टितमः सर्गः

—ॐ—

पूर्वजोऽप्युक्तमात्रस्तु लक्ष्मणेन सुभाषितम् ।
सारग्राही महासारं प्रतिजग्राह राघवः ॥१॥

जब लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र को इस प्रकार समझाया, तब सारग्राही श्रीरामचन्द्र शान्त हुए ॥१॥

संनिगृह्य महाबाहुः प्रवृत्तं कोपमात्मनः ।
अवष्टभ्य धनुश्चित्रं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥२॥

और महाबाहु श्रीरामचन्द्र ने क्रोध को त्याग और अपने विचित्र धनुष की प्रत्यञ्चा उतार लक्ष्मण से कहा ॥२॥

किं करिष्यावहे वत्स क्व वा गच्छाव लक्ष्मण ।
केनोपायेन पश्येय सीतामिति विचिन्तय ॥३॥

हे वत्स लक्ष्मण ! अब क्या करूँ और कहाँ जाऊँ ? अब यह सोचो कि, सीता के पाने के लिए क्या उपाय किया जाय ? ॥३॥

तं तथा परितापार्तं लक्ष्मणो राममब्रवीत् ।
इदमेव जनस्थानं त्वमन्वेषितुमर्हसि ॥४॥

तब अत्यन्त सन्तप्त श्रीरामचन्द्र जी से लक्ष्मण ने कहा—आप इसी जनस्थान में सीता को खोजिए ॥४॥

राक्षसैर्बहुभिः कीर्णं नानाद्रुमलतायुतम् ।
सन्तीह गिरिदुर्गाणि [1]निर्दराः कन्दराणि च ॥५॥

क्योंकि यहाँ बहुत से राक्षस रहा करते हैं और यहाँ अनेक वृक्ष लता, दुर्गम पर्वत घाटियाँ और कन्दराएँ हैं ॥५॥

गुहाश्च विविधा घोरा नानामृगगणाकुलाः ।
आवासाः किन्नराणां च गन्धर्वभवनानि च ॥६॥

वे कन्दराएँ विविध प्रकार के भयङ्कर जीव जन्तुओं से भरी हुई हैं। यहाँ अनेक किन्नरों के निवासस्थान और गन्धर्वों के भवन भी हैं ॥६॥

---

[1] निर्दरा—विदीर्णपाषाण । (रा०)

तानि युक्तो मया सार्धं त्वमन्वेषितुमर्हसि ।
त्वद्विधा बुद्धिसम्पन्ना महात्मानो नरर्षभ ॥७॥

उन सब को आप मेरे साथ चल कर भली भाँति ढूढिए। आप जैसे महात्मा, बुद्धिमान् और नृपतिश्रेष्ठ ॥७॥

आपत्सु न प्रकम्पन्ते वायुवेगैरिवाचलाः ।
इत्युक्तस्तद्वनं सर्वं विचचार सलक्ष्मणः ॥८॥

सङ्कट के समय वैसे ही कभी विचलित नहीं होते, जैसे वायु के झोकों से पर्वत। लक्ष्मण जी के कहने को मान, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मणसहित उस समस्त वन में विचरने लगे ॥८॥

क्रुद्धो रामः शरं घोरं सन्धाय धनुषि क्षुरम् ।
ततः पर्वतकूटाभं महाभाग द्विजोत्तमम् ॥९॥

क्रुद्ध होकर श्रीरामचन्द्र जी ने अपने धनुष पर बड़ा पैना और महाभयङ्कर क्षुर बाण चढ़ा लिया ॥९॥

ददर्श पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम् ।
तं दृष्ट्वा गिरिशृङ्गाभं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥१०॥

कुछ दूर आगे जाने पर श्रीरामचन्द्र ने पर्वत के शिखर की तरह विशालकाय और रुधिर से सराबोर उस महाभाग पक्षिराज जटायु को भूमि पर पड़ा देखा। उसे देख श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥१०॥

अनेन सीता वैदेही भक्षिता नात्र संशयः ।
गृध्ररूपमिदं रक्षो व्यक्तं भवति कानने ॥११॥

देखो, निस्सन्देह इसीने सीता को खाया है। अवश्य ही यह गृद्ध का रूप धारण किए कोई राक्षस है और इसी वन मे घूमता फिरता है ॥११॥

भक्षयित्वा विशालाक्षीमास्ते सीतां यथासुखम् ।
एनं वधिष्ये दीप्तास्यैः घोरैर्बाणैरजिह्मगैः ॥१२॥

देखो यह राक्षस विशालनेत्रों वाली सीता को खा, कैसे सुख से बैठा हुआ है। अतः मैं सीधे जाने वाले और अग्नि की तरह चमचमाते भयङ्कर बाणों से इसका वध करूँगा ॥१२॥

इत्युक्त्वाऽभ्यपतद्गृध्रं सन्धाय धनुषि क्षुरम् ।
क्रुद्धो रामः समुद्रान्तां कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥१३॥

यह कह कर और क्रोध कर, आसमुद्र पृथ्वी को कँपाते हुए, श्रीरामचन्द्र जी ने धनुष पर क्षुर नामक बाण रखा और तदनन्तर वे उसे देखने के लिए उसके समीप गए ॥१३॥

तं दीनं दीनया वाचा सफेनं रुधिरं वमन् ।
अभ्यभाषत पक्षी तु रामं दशरथात्मजम् ॥१४॥

इनको आते देख, बेचारे जटायु ने, फेनयुक्त रुधिर को वमन कर और अत्यन्त दुःखी हो दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र से कहा ॥१४॥

यामोषधिमिवायुष्मन्नन्वेषसि महावने ।
सा देवी मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम् ॥१५॥

हे आयुष्मन्। ओषधि की तरह तुम जिसे इस महावन में ढूँढ़ते फिरते हो, उस देवी सीता को और मेरे प्राणों को रावण ने निर्भय हो हर लिया है ॥१५॥

त्वया विरहिता देवी लक्ष्मणेन च राघव ।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रावणेन बलीयसा ॥१६॥

हे राघव ! महाबली रावण को, आपकी और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में सूने आश्रम से सीता को हर कर ले जाते हुए मैंने देखा है ॥१६॥

सीतामभ्यवपन्नोऽहं रावणश्च रणे मया ।
विध्वंसितरथश्चात्र पातितो धरणीतले ॥१७॥

सीता को ले जाते देख, मैंने रावण का सामना किया और उससे युद्ध कर उसके रथ को तोड कर, यहाँ गिरा दिया ॥१७॥

एतदस्य धनुर्भग्नमेतदस्य शरावरम् ।
अयमस्य रथो राम भग्नः साङ्ग्रामिको मया ॥१८॥

हे श्रीराम ! देखिए, वह तो उसका टूटा हुआ धनुष पड़ा है और यह उसका बढिया बाण टूटा पडा है। मेरा तोडा हुआ उसका यह सग्राम-रथ पड़ा है ॥१८॥

अयं तु सारथिस्तस्य मत्पक्षो निहतो युधि ।
परिश्रान्तस्य मे पक्षौ च्छित्त्वा खड्गेन रावणः ॥१९॥

यह सारथी भी उसी का है, जिसे युद्ध में मैंने अपने पखों के प्रहार से मार कर पृथिवी पर पटक दिया था। मुझे थका हुआ देख, रावण ने तलवार से मेरे पख काट डाले ॥१९॥

सीतामादाय वैदेहीमुत्पपात विहायसम् ।
रक्षसा निहतं पूर्वं न मां हन्तुं त्वमर्हसि ॥२०॥

और सीता को ले वह आकाशमार्ग से चला गया। राक्षस ने तो पहिले ही मुझे मार डालने में कुछ उठा नहीं रखा, अतः आपको मेरा वध करना उचित नहीं ॥२०॥

रामस्तस्य तु विज्ञाय बाष्पपूर्णमुखस्तदा ।
द्विगुणीकृततापार्तः सीतासक्तां प्रियां कथाम् ॥२१॥

गृध्रराजं परिष्वज्य परित्यज्य महद्धनुः ।
निपपातावशो भूमौ रुरोद सहलक्ष्मणः ॥२२॥

श्रीरामचन्द्र इस प्रकार उनकी दशा देख और उसके मुख से प्यारी सीता का वृत्तान्त सुन, दूने दुःखी हुए। तदनन्तर जटायु को छाती से लगा और धनुष फेंक पृथिवी पर गिर, लक्ष्मण सहित रोने लगे ॥२१॥२२॥

[1]एकमेकायने दुर्गे निःश्वसन्तं कथञ्चन ।
समीक्ष्य दुःखिततरो रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥२३॥

अकेले मनुष्य के जाने योग्य मार्ग वाले विकट स्थान में पड़े और कभी कभी सांस लेते हुए जटायु को देख, शोक से विकल हो, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥२३॥

राज्याद्भ्रंशो वने वासः सीता नष्टा द्विजो हतः ।
ईदृशीयं ममालक्ष्मीर्निर्दहेदपि पावकम् ॥२४॥

राज्य से भ्रष्ट, वन में वास, सीता हरण और इस पक्षी का मरण, ये सब मेरे खोटे भाग्य के ही परिणाम हैं। इस प्रकार का मेरा खोटा भाग्य यदि चाहे तो अग्नि को भी भस्म कर सकता है ॥२४॥

---

१ एकमेकायने—एकमात्रजनगम्येऽयनएव कृच्छ्रे देशेपतितमितिशेषः । (गो०)

सम्पूर्णमपि चेदद्य प्रतरेय[1] महोदधिम् ।
सोऽपि नूनं ममालक्ष्म्या विशुष्येत्सरितां पतिः ॥२५॥

मैं अपने भाग्य का क्या बखान करूँ। यदि मैं अपने सन्ताप की शान्ति के लिए समुद्र मे कूदूँ, तो वह भी मेरे खोटे भाग्य से सूख जाय ॥२५॥

नास्त्यभाग्यतरो लोके मत्तोऽस्मिन् सचराचरे ।
येनेयं महती प्राप्ता मया व्यसनवागुरा ॥२६॥

हे भाई। इस चराचर जगत मे, मेरे तुल्य अभागा कोई न होगा। क्योंकि इसी के कारण, मुझे महादुःख रूपी जाल मे फँसना पड़ा है ॥२६॥

अयं पितुर्वयस्यो[2] मे गृध्रराजो जरान्वितः ।
शेते विनिहतो भूमौ मम भाग्यविपर्ययात् ॥२७॥

देखो यह वृद्ध गृद्धराज जटायु मेरे पिता का मित्र है। मेरा भाग्य लौट जाने से यह भी मृत हो पृथिवी पर पड़ा है ॥२७॥

इत्येवमुक्त्वा बहुशो राघवः सहलक्ष्मणः ।
जटायुषं च पस्पर्श पितृस्नेहं विदर्शयन् ॥२८॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से अनेक बातें कहीं। तदनन्तर लक्ष्मण जी सहित श्रीरामचन्द्र ने पिता समान श्रद्धा दिखलाते हुए जटायु को स्पर्श किया ॥२८॥

निकृत्तपक्षं रुधिरावसिक्तं
स गृध्रराजं परिरभ्य रामः ।

---

१ प्रतरेय—तापशान्तयेऽप्लवेय चेत्। (गो०) २ पितुर्वयस्य.—सखा। (गो०)

क्व मैथिली प्राणसमा ममेति
विमुच्य वाच निपपात भूमौ ॥२६॥

इति सप्तषष्टितमः सर्गः ॥

पंख कटे हुए और रुधिर मे सने गीधो के राजा जटायु के शरीर पर हाथ फेर, श्रीराम चन्द्र ने उससे यह बात पूछी कि, मेरी वह प्राण समान सीता कहाँ ?" यह कह श्री रामचन्द्र जी पृथिवी पर गिर पड़े ॥२६॥

अरण्यकाण्ड का सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—ॐ—

अष्टषष्टितमः सर्गः

—ॐ—

रामः संप्रेक्ष्य तं गृध्रं भुवि रौद्रेण पातितम् ।
सौमित्रिं मित्रसम्पन्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥१॥

जटायु को उस भयङ्कर राक्षस के प्रहार से पृथिवी पर पड़ा हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण से यह बोले ॥१॥

ममायं नूनमर्थेषु यतमानो विहङ्गमः ।
राक्षसेन हतः संख्ये प्राणांस्त्यक्ष्यति दुस्त्यजान् ॥२॥

हे लक्ष्मण ! निश्चय ही यह पक्षी मेरा काम करता हुआ, मेरे लिए ही राक्षस द्वारा लड़ाई मे मारा जा कर, अब दुस्त्यज प्राणों को त्याग रहा है ॥२॥

अयमस्य[१] शरीरेऽस्मिन् प्राणो लक्ष्मण विद्यते ।
तथाहि स्वरहीनोऽय विक्लवः समुदीक्षते ॥३॥

हे लक्ष्मण । अभी इसके शरीर मे थोडी जान बाकी है किन्तु इसका स्वर धीमा पड़ गया है और विकल हो, यह हम लोगोको देख रहा है ॥३॥

जटायो यदि शक्नोषि वाक्य व्याहरितु पुनः ।
सीतामाख्याहि भद्रं ते वधमाख्याहि चात्मनः ॥४॥

हे जटायु । यदि तुममे बोलने की शक्ति हो, तो तुम सीता का वृत्तान्त और अपने वध का हाल मुझसे पुन कहो । तुम्हारा कल्याण हो ॥४॥

किन्निमित्तोऽहरत्सीता रावणस्तस्य किं मया ।
अपराधं तु य दृष्ट्वा रावणेन हृता प्रिया ॥५॥

किस लिए रावण ने सीता को हरा ? मैंने उसका क्या बिगाड़ा था जिससे वह मेरी प्यारी को हर ले गया ॥५॥

कथं तच्चन्द्रसङ्काशं मुखमासीन् मनोहरम् ।
सीतया कानि चोक्तानि तस्मिन् काले द्विजोत्तम ॥६॥

हे पक्षिश्रेष्ठ । उस समय सीता का वह चन्द्रसम सुन्दर मुख-मण्डल कैसा देख पड़ता था और उस समय सीता ने क्या क्या कहा था ॥६॥

कथवीर्यः कथरूपः किंकर्मा स च राक्षसः ।
क्व चास्य भवनं तात ब्रूहि मे परिपृच्छतः ॥७॥

---

१ अयमस्य —सूक्ष्मप्राण । (गो)

उस राक्षस का पराक्रम और रूप कैसा है? वह राक्षस काम क्या करता है और वह रहने वाला कहाँ का है। मैं जो पूछता हूँ सो सब आप बतला दें ॥७॥

तमुद्वीक्ष्याथ दीनात्मा विलपन्तमनन्तरम् ।
वाचाऽतिसन्नया[१] रामं जटायुरिदमब्रवीत् ॥८॥

तब जटायु ने श्रीरामचन्द्र का विलाप सुन, विकल हो बड़ी कठिनता से अर्थात् लड़खड़ाती वाणी से उनसे यह कहा ॥८॥

हृता सा राक्षसेन्द्रेण रावणेन विहायसा ।
मायामास्थाय विपुलां वातदुर्दिनसङ्कुलाम् ॥९॥

हे श्रीरामचन्द्र। वह दुरात्मा राक्षसेन्द्र रावण, वायु और मेघों की घटा से युक्त बड़ी माया रच कर, सीता को हर कर ले गया है ॥९॥

परिश्रान्तस्य मे तात पक्षौ छित्त्वा स राक्षसः ।
सीतामादाय वैदेहीं प्रयातो दक्षिणां दिशम् ॥१०॥

मुझ थके हुए के दोनों पंख काट, वह राक्षस सीता को ले दक्षिण दिशा को चला गया है ॥१०॥

उपरुध्यन्ति मे प्राणा दृष्टिर्भ्रमति राघव ।
पश्यामि वृक्षान् सौवर्णानुशीरकृतमूर्धजान् ॥११॥

हे राघव। मरण की पीड़ा से मेरे प्राण छटपटा रहे हैं। मेरी आँखों के सामने चक्कर आ रहे हैं। मुझे अपने सामने सोने के वृक्ष जिनकी चोटियों पर खस जमा है, देख पड़ते हैं ॥११॥

---

१ अतिसन्नया—अतिकार्श्यं प्राप्तया। (गो०)

येन यातो मुहूर्तेन सीतामादाय रावणः ।
विप्रनष्टं धन क्षिप्र तत्स्वामी प्रतिपद्यते ॥१२॥

हे राम । जिस घडी रावण ने सीता को हरा, वह घडी ऐसी है कि, उस घडी मे खोया हुआ धन उसके मालिक को पुन प्राप्त होता है । अथवा नष्ट हुआ धन उसीके स्वामी को मिलता है ॥१२॥

विन्दो नाम मुहूर्तोऽयं स च काकुत्स्थ नाबुधत् ।
त्वत्प्रियां जानकी हृत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ॥१३॥

हे काकुत्स्थ । उसके हरण काल के मुहूर्त्त का नाम विन्द था । किन्तु रावण को यह बात मालूम न थी । आपकी प्रिया सीता को हर कर राक्षसेश्वर रावण ॥१३॥

झषवद्बडिशं गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति ।
न च त्वया व्यथा कार्या जनकस्य सुतां प्रति ॥१४॥

बसी के कॉटे को निगलने वाली मछली की तरह शीघ्र ही नाश को प्राप्त होगा । तुमको जानकी के लिए दुखी न होना चाहिए ॥१४॥

वैदेह्या रंस्यसे क्षिप्र हत्वा ते राक्षसं रणे ।
असमूढस्य[1] गृध्रस्य रामं प्रत्यनुभाषतः ॥१५॥

क्योंकि तुम शीघ्र युद्ध मे उस राक्षस को मार फिर सीता के साथ विहार करोगे । अत मृत प्रायदशा मे भी सावधानता पूर्वक वार्तालाप करते करते ॥१५॥

आस्यात्सुस्राव रुधिरं म्रियमाणस्य सामिषम् ।
पुत्रो विश्रवसः साक्षाद्भ्राता वैश्रवणस्य च ॥१६॥

---

१ असमूढस्य-मृत . . . अपि भ्रान्तिरहितस्य । (रा०)

मास और रुधिर की उसे वमन हुई। तिस पर भी उसने इतना और बतलाया कि, वह राक्षस विश्रवा का पुत्र और कुबेर का भाई है ॥१६॥

इत्युक्त्वा दुर्लभान् प्राणान् मुमोच पतगेश्वरः ।
ब्रूहि ब्रूहीति रामस्य ब्रुवाणस्य कृताञ्जलेः ॥१७॥

यह कह पक्षिराज जटायु ने अपने दुर्लभ प्राणों को त्याग दिया। उधर श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़े कह रहे थे कि, आगे कहो; आगे कहो ॥१७॥

त्यक्त्वा शरीरं गृध्रस्य जग्मुः प्राणा विहायसम् ।
स निक्षिप्य शिरो भूमौ प्रसार्य चरणौ तदा ॥१८॥

गीध के शरीर को छोड़ जटायु का आत्मा आकाश मे पहुँचा। तब उस पक्षी का सिर पृथिवी पर लटक पड़ा और उसके दोनों पैर फैल गए ॥१८॥

विक्षिप्य च शरीरं स्वं पपात धरणीतले ।
तं गृध्रं प्रेक्ष्य ताम्राक्षं गतासुमचलोपमम् ॥१९॥

शरीर को फैला कर वह पृथिवी पर गिर पड़ा। श्रीरामचन्द्र जी ने पर्वत के समान बड़े भारी डीलडौल के, ताम्रवत् लाल नेत्र वाले गीध को मारा हुआ देख ॥१९॥

रामः सुबहुभिर्दुःखैर्दीनः सौमित्रिमब्रवीत् ।
बहूनि रक्षसां वासे[1] वर्षाणि वसता सुखम् ॥२०॥

श्रीरामचन्द्र जी ने बहुत दुःखी और उदास हो लक्ष्मण से कहा—बहुत काल तक दण्डकारण्य में सुखपूर्वक रह कर ॥२०॥

---

१ रक्षसावासे—दण्डकारण्ये (गो०)

(फिर जटायु के आत्मा को सबोधन कर श्रीरामचन्द्र जी बोले) जो गति अश्वमेधादि यज्ञ करनेवालों को, जो गति अग्निहोत्रादि कर्म करने वालों को मरने के बाद प्राप्त होती है, वही तुम्हे प्राप्त हो ॥२६॥

अपरावर्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम् ।
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान् ॥३०॥

जो गति (या लोक) मुमुक्षुओं को, जो गति (या लोक) भूमिदान करने वालों को प्राप्त होती है उन उत्तम गतियो (लोकों) को तुम मेरी आज्ञा से प्राप्त हो ॥३०॥

[टिप्पणी—इस प्रसङ्ग से यह बात निष्पन्न होती है कि, कर्मज्ञानादि से भी कहीं बढ कर, भगवत्कैङ्कर्य की महिमा है ।]

गृध्रराज महासत्त्व संस्कृतश्च मया व्रज ।
एवमुक्त्वा चितां दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम् ॥३१॥

हे महाबली गृद्धराज ! मैंने तुम्हारा अन्तिम सस्कार किया है । अब तुम जाओ । यह कह कर और गीध के मृत शरीर को चिता पर रख उसमे श्रीरामचन्द्र जी ने आग लगा दी ॥३१॥

ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुःखितः ।
रामोऽथ सहसौमित्रिर्वनं गत्वा स वीर्यवान् ॥३२॥

[टिप्पणी—मृत शरीर का दाह करना इसलिए आवश्यक था कि जिससे उसका शरीर सड़े नहीं और जीव जन्तु उसकी दुर्दशा न करें ।]

धर्मात्मा अर्थात् कृतज्ञ श्रीरामचन्द्र अपने भाई बन्द की तरह जटायु का दाहकर्म कर, दुःखी हुए । तदनन्तर पराक्रमी श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण जी के साथ वन मे जा, ॥३२॥

स्थूलान् हत्वा महारोहीननु तस्तार तं द्विजम् ।
रोहिमांसानि चोत्कृत्य पेशीकृत्य महायशाः ॥३३॥

शकुनाय ददौ रामो रम्ये हरितशाद्वले ।
यत्तत्प्रेतस्य मर्त्यस्य कथयन्ति द्विजातयः ॥३४॥
तत्स्वर्गगमनं तस्य पित्र्यं[1] रामो जजाप ह ।
ततो गोदावरीं गत्वा नदीं नरवरात्मजौ ॥
उदकं चक्रतुस्तस्मै गृध्रराजाय तावुभौ ॥३५॥

मोटी रोहू मछलियों को मार कर, उस पत्ती के लिए महायशस्वी श्रीराम ने भूमि पर कुश बिछाए। फिर मछलियों के मांस के टुकड़े कर और मॉस को साफ कर तथा उसे पीस कर, उसके पिरड बना सुन्दर हरे कुशों के ऊपर पत्ती को पिण्डदान किया। ब्राह्मणगण मृतकर्म में मृतपुरुष की सद्गति के लिए जिन मन्त्रों का प्रयोग करते हैं, उन मन्त्रों का प्रयोग, श्रीरामचन्द्र जी ने गृद्धराज की स्वर्गगमन कामना के लिये. उसको अपना पितर मान, किया। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण सहित गोदावरी नदी के तट पर पहुँच कर, गृद्धराज को जलाञ्जलि दी ॥३३॥३४॥३५॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना जले गृध्राय राघवौ ।
स्नात्वा तौ गृध्रराजाय उदकं चक्रतुस्तदा ॥३६॥

श्रीरामचन्द्र जी ने शास्त्र की निर्दिष्ट की हुई विधि से नदी जल में स्नान कर गृद्धराज को जलाञ्जलि दी ॥३६॥

स गृध्रराजः कृतवान् यशस्करं
सुदुष्करं कर्म रणे निपातितः ।
महर्षिकल्पेन च संस्कृतस्तदा
जगाम पुण्यां गतिमात्मनः शुभाम् ॥३७॥

---

[1] पित्र्य—पितृदेवताक। (गो०)

इस प्रकार वह जटायु, जिसनेअत्यन्त दुष्कर और यश देने वाला कर्म कर युद्ध मे प्राण गॅवाए थे, महर्षियों की तरह, श्रीरामचन्द्र जी के हाथ से अन्तिम सस्कार पाकर, परमपवित्र पुण्यगति अर्थात् परमपद (त्रिपाद विभति-वैकुण्ठ) को प्राप्त हुआ ॥३७॥

कृतोदकौ तावपि पक्षिसत्तमे
स्थिरां च बुद्धिं प्रणिधाय जग्मतुः ।
प्रवेश्य सीताधिगमे ततो मनो
वनं सुरेन्द्राविव विष्णुवासवौ ॥३८॥

इति अष्टषष्टितम. सर्ग. ॥

पक्षियों में उत्तम जटायु का श्राद्धादि कर्म कर और पक्षिराज के इस कथन मे कि, तुमको सीता मिलेगी, विश्वास कर, दोनों भाईसी ता को खोजने के लिए इन्द्र और उपेन्द्र की तरह, वन मे आगे बढ़े ॥३८॥

[टिप्पणी—इस प्रसङ्ग से यह बात निष्पन्न होती है कि, श्राद्धादि मृतक कर्म करने की पद्धति इस देश मे अनादि काल से चली आ रही है। दूसरी बात ध्यान देने योग्य है कि श्रीरामचन्द्र जी ने वैदिक मन्त्रों मे गीध को पिण्ड दानादि क्यों किआ ? इस शङ्का का समाधान करते हुए भूषणटीकाकार ने कहा है कि, गीध भगवद्भक्त था, अत उसके लिए वर्ण का बधन नहीं रहा। क्योंकि महाभारत, का यह वचन है कि—

"नशूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवता स्मृताः ।
सर्ववर्णेरु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने ॥]"

अरण्यकाण्ड का अड़सठवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

—.०.—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

कृत्वैवमुदकं तस्मै प्रस्थितौ रामलक्ष्मणौ ।
अवेक्षन्तौ वने सीतां पश्चिमां जग्मतुर्दिशम् ॥१॥

पक्षिराज की जलक्रियादि पूरी कर, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण वहाँ से रवाने हो, वन में सीता को ढूँढते हुए, पश्चिम दिशा की ओर चले ॥१॥

तौ दिशं दक्षिणां गत्वा शरचापासिधारिणौ ।
अविप्रहतमैक्ष्वाकौ पन्थानं प्रतिजग्मतुः* ॥२॥

फिर धनुष बाण खड्ग हाथों में ले दोनों भाई उस मार्ग से जिस पर पहले कोई नहीं चला था, चल कर, पश्चिम दक्षिण के कोण की ओर चले ॥२॥

गुल्मैर्वृक्षैश्च बहुभिर्लताभिश्च प्रवेष्टितम् ।
आवृतं सर्वतो दुर्गं गहनं घोरदर्शनम् ॥३॥

अनेक प्रकार के घने झाड़, वृक्षवल्ली, लता आदि होने के कारण वह रास्ता केवल दुर्गम ही नहीं था, बल्कि भयङ्कर भी था ॥३॥

व्यतिक्रम्य तु वेगेन व्यालसिंहनिषेवितम् ।
सुभीमं तन्महारण्यं व्यतियातौ महाबलौ ॥४॥

इस मार्ग को तै कर, वे अत्यन्त बलवान दोनों राजकुमार ऐसे स्थान में पहुँचे, जहाँ पर अजगर सर्प और सिंह रहते थे। इस महाभयङ्कर महारण्य को भी उन दोनों ने पार किया ॥४॥

ततः परं जनस्थानात्त्रिक्रोशं गम्य राघवौ ।
क्रौञ्चारण्यं विविशतुर्गहनं तौ महौजसौ ॥५॥

* पाठान्तरे—"पन्थानं प्रति[illegible]" ।
अथवा " पन्थानमां " ।

तदनन्तर चलते चलते वे दोनों बड़े पराक्रमी राजकुमार जन स्थान से तीन कोस दूर, क्रौञ्च नामक एक घने जङ्गल में पहुँचे ॥५॥

नानामेघघनप्रख्यं प्रहृष्टमिव सर्वतः ।
नानापक्षिगणैर्जुष्टं नानाव्यालमृगैर्युतम् ॥६॥

यह वन मेघों की घटा की तरह गभीर था। उसमें जिधर देखो उधर फूल खिले हुए होने के कारण तथा भाँति भाँति के पक्षियों से भरा पूरा और तरह-तरह के अजगरों और अन्य वन जन्तुओं से परिपूर्ण होने के कारण वह हँसता हुआ जान पड़ता था ॥६॥

दिदृक्षमाणौ वैदेहीं तद्वनं तौ विचिक्यतुः ।
तत्र तत्रावतिष्ठन्तौ सीताहरणकर्शितौ ॥७॥

दोनों राजकुमार सीता जी के हरण से दुःखित हो, उस वन में इधर उधर सीता जी को खोजने लगे। बीच बीच में वे ठहर भी जाते थे ॥७॥

ततः पूर्वेण तौ गत्वा त्रिक्रोशं भ्रातरौ तदा ।
क्रौञ्चारण्यमतिक्रम्य मतङ्गाश्रममन्तरे ॥८॥

तदनन्तर वे दोनों राजकुमार तीन कोस पूर्व की ओर जा, क्रौञ्चारण्य को पार कर, मतङ्गाश्रम में पहुँचे ॥८॥

दृष्ट्वा तु तद्वनं घोरं बहुभीममृगद्विजम् ।
नानासत्त्वसमाकीर्णं सर्वं गहनपादपम् ॥९॥

वह वन बहुत से भयङ्कर बनैले जीव जन्तुओं से भरा हुआ होने के कारण, बड़ा भयङ्कर था। उसमें तरह तरह के जीव जन्तु रहते थे और वह सघन वृक्षों से भरा हुआ था ॥९॥

ददृशाते तु तौ तत्र दरीं दशरथात्मजौ ।
पातालसमगम्भीरां तमसा नित्यसंवृताम् ॥१०॥

दोनो दशरथनन्दनों ने वहाँ पर एक पर्वत-कन्दरा देखी। वह पाताल की तरह गहरी थी और उसमे सदा अन्धकार बना रहता था ॥१०॥

आसाद्य तौ नरव्याघ्रौ दर्यास्तस्या विदूरतः।
ददृशाते महारूपां राक्षसीं विकृताननाम् ॥११॥

उन दोनों पुरुषसिंहो ने, उस गुफा के समीप जा कर एक भयङ्कर रूप वाली विकरालमुखी राक्षसी को देखा ॥११॥

भवदामल्पसत्त्वानां बीभत्सां रौद्रदर्शनाम्।
लम्बोदरीं तीक्ष्णदंष्ट्रां करालां परुषत्वचम् ॥१२॥

वह छोटे जीव जन्तुओं के लिए बड़ी डरावनी थी। उसका रूप बड़ा घिनोना था। वह देखने मे बड़ी भयङ्कर थी। क्योंकि उसकी डाढे बडी पैनी थीं और पेट बड़ा लंबा था। उसकी खाल बड़ी कड़ी थी ॥१२॥

भक्षयन्तीं मृगान् भीमान् विकटां मुक्तमूर्धजाम्।
प्रैक्षेतां तौ ततस्तत्र भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥१३॥

वह राक्षसी इन दोनों भाइयों को देख और आगे चलते हुए लक्ष्मण को देख, बोली—"आओ हम दोनों विहार करें", तदनन्तर उसने लक्ष्मण का हाथ पकड़ लिया ॥१४॥

उवाच चैनं वचनं सौमित्रिमुपगूह्य[1] सा ।
अहं त्वयोमुखी नाम लाभस्ते त्वमसि प्रियः ॥१५॥

वह लक्ष्मण जी को चिपटा कर कहने लगी—मेरा अयोमुखी नाम है। तुम मुझे बड़े प्रिय हो। (बड़े भाग्य से) तुम मुझे मिले हो ॥१५॥

नाथ पर्वतकूटेषु नदीनां पुलिनेषु च ।
आयुःशेषमिमं वीर त्वं मया सह रंस्यसे ॥१६॥

हे नाथ! दुर्गम पर्वतों में और नदियों के तटों पर जीवन के शेष दिनों तक मेरे साथ तुम विहार करना ॥१६॥

एवमुक्तस्तु कुपितः खड्गमुद्धृत्य लक्ष्मणः ।
कर्णनासौ स्तनौ चास्या निचकर्तारिसूदनः ॥१७॥

उसके ऐसे वचन सुन, लक्ष्मण जी ने कुपित हो और म्यान से तलवार निकाल उसके नाक, कान और स्तनों को काट डाला ॥१७॥

कर्णनासे निकृत्ते तु विस्वरं सा विनद्य च ।
यथागतं प्रदुद्राव राक्षसी भीमदर्शना ॥१८॥

जब उसके कान और नाक काट डाले गए, तब वह भयङ्कर राक्षसी भयङ्कर नाद करती जिधर से आई थी उधर ही को भाग खड़ी हुई ॥१८॥

---

१ उपगुह्य—आलिङ्ग्य। (गो०)

परन्तु विजय हमारी अवश्य होगी। क्योंकि यह अत्यन्त भयानक वञ्चलक पक्षी मानों हमारी विजयसूचना का बखान करता हुआ बोल रहा है ॥२३॥

तयोरन्वेषतोरेव सर्वं तद्वनमोजसा ।
संजज्ञे विपुलः शब्दः प्रभञ्जन्निव तद्वनम् ॥२४॥

जिस समय तेजस्वी श्रीराम और लक्ष्मण उस वन को ढूँढ रहे थे, उस समय एक ऐसा भयानक शब्द सुन पड़ा, जिससे ऐसा जान पड़ा कि, मानों वन टुकड़े टुकड़े हुआ जाता हो ॥२४॥

संवेष्टितमिवात्यर्थं गगनं मातरिश्वना[1]
वनस्य तस्य शब्दोऽभूद्दिवमापूरयन्निव ॥२५॥

इतने में बड़ी जोर से आँधी चली। पवन चलने के शब्द से समस्त वन शब्दायमान हो गया और वह शब्द आकाश में छा सा गया ॥२५॥

तं शब्दं काङ्क्षमाणस्तु रामः कक्षे[2] सहानुजः ।
ददर्श सुमहाकायं राक्षसं विपुलोरसम् ॥२६॥

वे दोनों भाई उस शब्द होने का कारण जानना ही चाहते थे कि, बड़े डीलडौल का और चौड़ी छाती वाला एक राक्षस समीप ही देख पड़ा ॥२६॥

आसेदतुस्ततस्तत्र तावुभौ प्रमुखे स्थितम् ।
विवृद्धमशिरोग्रीवं कबन्धमुदरेमुखम् ॥२७॥

वह राक्षस आकर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के सामने खड़ा हो गया। वह बहुत लंबा चौड़ा, बिना सिर और गरदन का कबन्ध था और उसका मुख पेट में था ॥२७॥

---

१ मातरिश्वना—वायुना। (गो०) २ कक्षे—गुल्मे। (गो०)

रोमभिर्निचितैस्तीक्ष्णैर्महागिरिमिवोच्छ्रितम् ।
नीलमेघनिभं रौद्रं मेघस्तनितनिःस्वनम् ॥२८॥

उसके शरीर के रोंगटे काँटों की तरह नुकीले थे और वह पहाड़ की तरह ऊँचा था। बड़ा भयङ्कर और मेघ की गरज की तरह उसका स्वर था ॥२८॥

अग्निज्वालानिकाशेन ललाटस्थेन दीप्यता ।
महापक्ष्मेण पिङ्गेन विपुलेनायतेन च ॥२९॥

अग्नि की शिखा की तरह प्रदीप्त उसका एक नेत्र ललाट में था, जिस पर धुमैले पलक थे। वह नेत्र बड़ा भी बहुत था ॥२९॥

एकेनोरसि घोरेण नयनेनाशुदर्शिना ।
महादंष्ट्रोपपन्नं तं लेलिहानं महामुखम् ॥३०॥

एक नेत्र उनका उसकी छाती पर था। यह नेत्र अत्यन्त भयङ्कर देख पड़ता था। उसका मुख भी बहुत बड़ा था, जिसमें बड़े बड़े दाँत थे और वह अपने ओठों को चाटता था ॥३०॥

भक्षयन्तं महाघोरानृक्षसिंहमृगद्विपान् ।
घोरौ भुजौ विकुर्वाणमुभौ योजनमायतौ ॥३१॥
कराभ्यां विविधान् गृह्य ऋक्षान् पक्षिगणान् मृगान् ।
आकर्षन्तं विकर्षन्तमनेकान् मृगयूथपान् ॥३२॥

बड़े बड़े भयङ्कर भालुओं, सिंहों, मृगों और पक्षियों को वह खाया करता था और बड़ी बड़ी तथा भयङ्कर एवं एक योजन भर लंबी दोनों भुजाओं को फैला, हाथों से अनेक रीछों, पक्षियों और मृगों को पकड़ कर, अपने मुख में डाल लिया करता था ॥३१॥३२॥

स्थितमावृत्य पन्थानं तयोर्भ्रात्रोः प्रपन्नयोः[१] ।
अथ तौ समभिक्रम्य क्रोशमात्रे ददर्शतुः ॥३३॥
महान्तं दारुणं भीमं कबन्धं भुजसंवृतम् ।
कबन्धमिव संस्थानादतिघोरप्रदर्शनम् ॥३४॥
स महाबाहुरत्यर्थं प्रसार्य विपुलौ भुजौ ।
जग्राह सहितावेव राघवौ पीडयन्बलात् ॥३५॥

वह रास्ता रोके हुए था। एक कोस की दूरी से ही राक्षस दोनों भाइयों को देख पड़ा और जब वे उसके पास पहुँचे, तब उस अत्यन्त भयङ्कर एव निष्ठुर कबन्ध ने अपनी लंबी भुजाएँ फैला कर, उन दोनों को किचकिचा कर पकड़ लिआ ॥३३॥३४॥३५॥

खड्गिनौ दृढधन्वानौ तिग्मतेजोवपुर्धरौ ।
भ्रातरौ विवशं प्राप्तौ कृष्यमाणौ महाबलौ ॥३६॥

तलवार और मजबूत धनुष लिये हुए, अत्यन्त तेजस्वी शरीर धारी और महबलवान् होने पर भी, वे दोनों भाई कबन्ध द्वारा खींच लिए गए ॥३६॥

तत्र धैर्येण शूरस्तु राघवो नैव विव्यथे ।
बाल्यादनाश्रयत्वाच्च लक्ष्मणस्त्वतिविव्यथे ॥३७॥

श्रीरामचन्द्र तो अपनी धीरता और वीरता से दु खी न हुए, परन्तु लक्ष्मण बालक होने के कारण, पकड़े जाने पर घबड़ा गये ॥३७॥

उवाच च विषण्णः सन् राघवं राघवानुजः ।
पश्य मां वीर विवशं राक्षसस्य वशं गतम् ॥३८॥

---

१ प्रपन्नयो.—समीपं प्राप्तयो. । (गो०)

और दुःखी हो श्रीरामचन्द्र जी से बोले, हे वीर ! देखो मैं तो इस राक्षस के फंदे में फँस गया ॥३८॥

मयैकेन विनिर्युक्तः परिमुञ्चस्व राघव ।
मां हि भूतबलिं दत्त्वा पलायस्व यथासुखम् ॥३९॥

अत एव आप मेरी इस राक्षस को बलि दे और अपने को छुड़ा, आप सुखपूर्वक चले जाइए ॥३९॥

अधिगन्ताऽसि वैदेहीमचिरेणेति मे मतिः ।
प्रतिलभ्य च काकुत्स्थ पितृपैतामहीं महीम् ॥४०॥

हे काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र ! मुझे विश्वास है कि, आपको सीता मिलेगी। आप पुरखों का राज्य पाकर ॥४०॥

तत्र मां राम राज्यस्थः स्मर्तुमर्हसि सर्वदा ।
लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥४१॥

और राजसिंहासन पर बैठ, मुझे सदा स्मरण करते रहिएगा अथवा मुझे भूल मत जाइएगा। जब लक्ष्मण ने इस प्रकार कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी उनसे बोले ॥४१॥

मा स्म त्रासं कृथा वीर न हि त्वादृग्विषीदति ।
एतस्मिन्नन्तरे क्रूरो भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥४२॥

हे वीर ! भयभीत मत हो। क्योंकि तुम्हारे जैसे पराक्रमी पुरुषों को इस प्रकार घबड़ाना उचित नहीं। इतने में उस निर्दयी राक्षस ने दोनों भाई श्रीराम लक्ष्मण से कहा ॥४२॥

पप्रच्छ घननिर्घोषः कबन्धो दानवोत्तमः
कौ युवां वृषभस्कन्धौ महाखड्गधनुर्धरौ ॥४३॥

दानवोत्तम कवन्ध ने मेघ की तरह गरज कर पूछा कि, तुम दोनों युवक को वृषभ जैसे ऊँचे कधों वाले और बड़े बड़े खड्गों को धारण किए हुए, कौन हो ? ॥४३॥

घोरं देशमिमं प्राप्तौ मम भक्षावुपस्थितौ ।
वदत कार्यमिह वा किमर्थं चागतौ युवाम् ॥४४॥

इस भयङ्कर वन मे आकर तुम मेरे भक्ष्य बने हो। अब तुम अपना प्रयोजन बतलाओ कि, तुम दोनों यहाँ क्यों आए हो ? ॥४४॥

इमं देशमनुप्राप्तौ क्षुधार्तस्येह तिष्ठतः ।
सबाणचापखड्गौ च तीक्ष्णशृङ्गाविवर्षभौ ॥४५॥

मैं इस समय भूख से दुःखी हो रहा हूँ। सो तुम्हारा यहाँ धनुष बाण और खड्ग धारण कर, पैने सींगो के बैल की तरह आना ॥४५॥

ममास्यमनुसम्प्राप्तौ दुर्लभं जीवितं पुनः ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कबन्धस्य दुरात्मनः ॥४६॥

मानों मेरे मुख मे पड़ना है। अतः तुम्हारा अब जीवित बचना दुर्लभ है। उस दुष्ट कबन्ध के ये वचन सुन ॥४६॥

उवाच लक्ष्मणं रामो मुखेन परिशुष्यता ।
कृच्छ्रात्कृच्छ्रतरं प्राप्त दारुण सत्यविक्रम ॥४७॥

सूखे मुख से श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण से बोले। हे सत्यपराक्रमी ! देखो, ऐसे ऐसे दारुण कष्ट सह कर, ॥४७॥

व्यसनं जीवितान्ताय प्राप्तमप्राप्य तां प्रियाम् ।
कालस्य सुमहद्वीर्यं सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥४८॥

और प्राणों को जोखों मे डाल कर भी प्यारी सीता को हम न पा सके। हे लक्ष्मण ? मुझे तो काल ही सब से बढ कर बली जान पड़ता है ॥४८॥

त्वां च मां च नरव्याघ्र व्यसनैः पश्य मोहितौ।
नातिभारोऽस्ति दैवस्य सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥४९॥

हे लक्ष्मण ' देखो, तुम और मैं दोनों ही काल के प्रभाव से इस विपत्ति मे आ फसे हैं। प्राणिमात्र को दु ख देने मे काल को तनिक भी श्रम नहीं होता ॥४९॥

शूराश्च बलवन्तश्च कृतास्त्राश्च रणाजिरे।
कालाभिपन्नाः सीदन्ति यथा वालुकसेतवः ॥५०॥

देखो, शूर, बलवान एव अस्त्रविद्या मे पटु लोग भी युद्ध में काल के वश होकर बालू के बाँध की तरह खसक पडते हैं ॥५०॥

इति ब्रुवाणो दृढसत्यविक्रमो
महायशा दाशरथिः प्रतापवान्।
अवेक्ष्य सौमित्रिमुदग्रपौरुषं
स्थिरां तदा स्वां मतिमात्मनाऽकरोत् ॥५१॥

इति एकोनसप्ततितमः सर्गः

दृढ, सत्यपराक्रमी, प्रतापी और महायशस्वी दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ने बड़े पुरुषार्थी लक्ष्मण को देख कर और मन में सोच समझ कर, धैर्य धारण किया ॥५१॥

अरण्यकाण्ड का उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ

सप्ततितमः सर्गः



तौ तु तत्र स्थितौ दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
बाहुपाशपरिक्षिप्तौ कबन्धो वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को अपनी बाहों में जकड़े हुए ख देख, कबन्ध ने उनसे कहा ॥१॥

तिष्ठतः किं नु मां दृष्ट्वा क्षुधार्तं क्षत्रियर्षभौ ।
आहारार्थं तु सन्दिष्टौ दैवेन गतचेतसौ ॥२॥

अरे क्षत्रियश्रेष्ठ! मुझे देख तुम दोनों जन डरे हुए से क खड़े हो! मुझ भूखे के आहार के लिए विधाता ने तुमको मे पास भेज दिया है ॥२॥

तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणो वाक्यं प्राप्तकालं हितं तदा ।
उवाचार्तिं समापन्नो विक्रमे कृतनिश्चयः* ॥३॥

कबन्ध के ये वचन सुन, लक्ष्मण जी दुःखित हो और अपना बल अजमाने का निश्चय कर, समयानुकूल श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥३॥

त्वां च मां च पुरा तूर्णमादत्ते राक्षसाधमः ।
तस्मादसिभ्यामस्याशु बाहू छिन्दावहै गुरू ॥४॥

देखो, यह राक्षसाधम हम दोनों को पकड़े हुए है। अत. हम दोनों इसकी ये दोनों बड़ी भारी भुजाएं काट डालें ॥४॥

---

* पाठान्तरे—"कृतलक्षणः ।"

भीषणोऽयं महाकायो राक्षसो भुजविक्रमः ।
लोकं ह्यतिजितं कृत्वा ह्यावां हन्तुमिहेच्छति ॥५॥

यह बड़े डीलडौल का भयङ्कर राक्षस केवल अपनी भुजाओं के बलबूते पर ही सब लोकों को जीत कर, अब हम दोनों को मार डालना चाहता है ॥५॥

निश्चेष्टानां वधो राजन् कुत्सितो जगतीपतेः ।
क्रतुमध्योपनीतानां पशूनामिव राघव ॥६॥

हे राघव ! यज्ञ में बलि देने के लिए लाए गए बकरों की तरह चेष्टा रहित मरना क्षत्रियों के लिए बड़ी निन्दा की बात है ॥६॥

एतत्सञ्जल्पितं श्रुत्वा तयोः क्रुद्धस्तु राक्षसः ।
विदार्यास्यं तदा रौद्रस्तौ भक्षयितुमारभत् ॥७॥

उन दोनों की इस प्रकार की बातचीत सुन, राक्षस क्रुद्ध हो अपना भयङ्कर मुँह फैला, उन दोनों को खाने के लिए तैयार हुआ ॥७॥

ततस्तौ देशकालज्ञौ खड्गाभ्यामेव राघवौ ।
अच्छिन्दतां सुसंहृष्टौ[1] बाहू तस्यांसदेशतः ॥८॥

तब देश और काल के जानने वाले श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने अपनी अपनी तलवारों से उसकी बाहें सहज में कन्धे से काट डालीं ॥८॥

दक्षिणो[2] दक्षिणं बाहुमसक्त[3]मसिना ततः ।
चिच्छेद रामो वेगेन सव्यं वीरस्तु लक्ष्मणः ॥९॥

---

1 सुसंहृष्टौ—सदर्पोत्कारवद् वस्तुसच्छेदनादिति । (गो०) 2 दक्षिणः—...। (गो०) 3 असक्तं—अप्रतिबद्धं यथाभवति तथा । (गो०)

तलवार चलाने मे समर्थ अथवा दक्ष श्रीरामचन्द्र ने उसकी दहिनी भुजा और शूरवीर लक्ष्मण ने उसकी बाँई भुजा बडी फुरती से काटी ॥६॥

स पपात महाबाहुश्छिन्नबाहुर्महास्वनः ।
खं च गां च दिशश्चैव नादयञ्जलदो यथा ॥१०॥

भुजाओं के काटते ही महाबाहु कबन्ध, मेघ की तरह भयङ्कर शब्द कर और अपने उस भयङ्कर शब्द से आकाश, पृथवी तथा समस्त दिशाओं को पूरित करता हुआ, भूमि पर गिर पड़ा ॥१०॥

स निकृत्तौ भुजौ दृष्ट्वा शोणितौघपरिप्लुतः ।
दीनः पप्रच्छ तौ वीरौ को युवामिति दानवः ॥११॥

दोनों भुजाओं के कटने से अपने शरीर को रुधिर से लस्त पस्त देख और दीन हो, दानव कबध ने पूछा, तुम दोनो युवक कौन हो ? ॥११॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
शशंस राघवं तस्य कवन्धस्य महात्मनः ॥१२॥

इस प्रश्न के उत्तर में शुभ लक्षणो से युक्त लक्ष्मण, कवन्ध को, श्रीरामचन्द्र का परिचय देते हुए, कहने लगे ॥१२॥

अयमिक्ष्वाकुदायादो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
अस्यैवावरजं विद्धि भ्रातरं मां च लक्ष्मणम् ॥१३॥

यह इक्ष्वाकुकुलोत्पन्न हैं और श्रीराम के नाम से ससार मे प्रसिद्ध हैं। मैं इनका छोटा भाई हूँ और मेरा नाम लक्ष्मण है ॥१३॥

[मात्रा प्रतिहृते राज्ये रामः प्रव्राजितो वनम् ।
मया सह चरत्येष भार्यया च महद्वनम्] ॥१४॥

इनकी सौतेली माता ने इनकी राज्य की प्राप्ति में वाधा डाली और उसके कहने से ये वन में चले आए। सो मेरे तथा अपनी भार्या के सहित ये महावन में विचरण करते थे ॥१४॥

अस्य देवप्रभावस्य वसतो विजने वने।
रक्षसाऽपहृता पत्नी यामिच्छन्ताविहागतौ ॥१५॥

इन देवतुल्य प्रभावशाली श्रीरामचन्द्र की पत्नी को, इस निर्जन वन में रहने के समय, एक राक्षस हर कर ले गया है। उसको खोजते हम लोग यहाँ आए हैं ॥१५॥

त्वं तु को वा किमर्थं वा कबन्धसदृशो वने।
आस्येनोरसि दीप्तेन भग्नजङ्घो [1]विवेष्टसे ॥१६॥

यह तो बतलाओ कि, तुम कौन हो और किस लिए कवन्ध की तरह और अपनी छाती में चमचमाता मुख लगाए, जघारहित हो इस निर्जन वन में लोट रहे हो ॥१६॥

एवमुक्तः कबन्धस्तु लक्ष्मणेनोत्तरं वचः।
उवाच परमप्रीतस्तदिन्द्रवचनं स्मरन् ॥१७॥

लक्ष्मण जी का वचन सुन, वह राक्षस हर्षित हो और इन्द्र की कही बात को स्मरण कर, कहने लगा ॥१७॥

स्वागतं वां नरव्याघ्रौ दिष्ट्या पश्यामि चाप्यहम्।
दिष्ट्या चेमौ निकृत्तौ मे युवाभ्यां बाहुबन्धनौ ॥१८॥

हे नरश्रेष्ठ! मैं तुम दोनो का स्वागत करता हूँ। आज भाग्य से मैंने तुम दोनों के दर्शन पाए हैं। यह भी मेरे लिए सौभाग्य

[1] विवेष्टसे—लुठसीत्यर्थः। (गो०)

की बात है कि, मेरे इन दोनो बाहुरूपी बन्धनों को तुमने का
डाला ॥१८॥

विरूपं यच्च मे रूपं प्राप्त ह्यविनयाद्यथा ।
तन्मे शृणु नरव्याघ्र तत्त्वतः शंसतस्तव ॥१९॥

इति सप्ततितम. सर्ग ॥

मैंने अपनी अनम्रता से जिस प्रकार यह बेढगा रूप पाया है
उसका यथार्थ वर्णन में करता हूँ। हे नरव्यघ्र! उसे तु
सुनो ॥१९॥

अरण्यकाण्ड का सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

एकसप्ततितमः सर्गः

—❀—

पुरा राम महाबाहो महाबलपराक्रम ।
रूपमासीन्ममाचिन्त्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥१॥

हे महाबाहु श्रीरामचन्द्र! प्राचीन काल मे मैं महाबलवा
और बडा पराक्रमी था, मैं अपने अचिन्त्य रूप की सुन्दरता
लिए तीनों लोकों मे वैसे ही प्रसिद्ध था ॥१॥

यथा सोमस्य शक्रस्य सूर्यस्य च यथा वपुः ।
सोऽहं रूपमिदं कृत्वा लोकवित्रासनं महत् ॥२॥

जैसे सूर्य, इन्द्र और चन्द्रमा प्रसिद्ध है। मैं लोगों को डरा
के लिए बडा भयानक रूप बना कर ॥२॥

ऋषीन् वनगतान् राम त्रासयामि ततस्ततः ।
ततः स्थूलशिरा नाम महर्षिः कोपितो मया ॥३॥

हे राम! वन में बसने वाले ऋषियों को त्रस्त करने लगा। कुछ काल बीतने पर स्थूलशिरा नाम के एक महर्षि को मैंने कुपित किया ॥३॥

सचिन्वन् विविधं वन्यं रूपेणानेन धर्षितः।
तेनाहमुक्तः प्रेक्ष्यैवं घोरशापाभिधायिना ॥४॥

एक दिन स्थूलशिरा वन में विविध भाँति के फूलफलादि इकट्ठे कर रहे थे। मैंने इस रूप से उनको बहुत दुःख दिया। तब उन्होंने मेरी ओर देख कर, मुझे घोर शाप दिया ॥४॥

एतदेवन्नृशंस ते रूपमस्तु विगर्हितम्।
स मया याचितः क्रुद्धः शापस्यान्तो भवेदिति ॥५॥

वे बोले—तेरा इसी प्रकार का क्रूर और गर्हित रूप सदा के लिए हो जाय। क्रुद्ध हो उनको शाप देते देख, मैंने शाप के अन्त के लिए उनसे प्रार्थना की ॥५॥

अभिशापकृतस्येति तेनेदं भाषितं वचः।
यदा छित्त्वा भुजौ रामस्त्वां दहेद्विजने वने ॥६॥

तब शाप का अन्त होने के लिए उन्होंने कहा कि, जब श्रीरामचन्द्र तेरी दोनों भुजाएँ काट विजन वन में तुझे फूँक देंगे। ६॥

तदा त्वं प्राप्स्यसे रूपं स्वमेव विपुलं शुभम्।
श्रिया विराजितं पुत्रं दनोस्त्वं विद्धि लक्ष्मण ॥७॥
इन्द्रकोपादिदं रूपं प्राप्तमेवं रणाजिरे।
अहं हि तपसोग्रेण पितामहमतोषयम् ॥८॥

---

१ रणाजिरे...रणाङ्गणे। (गो०)

तब तू पूर्ववत् अपना अत्यन्त सुन्दर और शुभ रूप पावेगा हे लक्ष्मण! तुम मुझे दनु का पुत्र जानो। तब तक मेरा रूप सुन्दर था। किन्तु मेरा यह विकराल रूप तो रणाङ्गण में इन्द्र के कुपित होने से हुआ है। वह वृत्तान्त इस प्रकार है—मैंने उग्रतप द्वारा ब्रह्मा जी को सन्तुष्ट किया ॥७॥८॥

दीर्घमायुः स मे प्रादात्ततो मां [1]विभ्रमोऽस्पृशत्।
दीर्घमायुर्मया प्राप्तं किं मे शक्रः करिष्यति ॥९॥

सन्तुष्ट हो जब मुझे ब्रह्मा जी ने दीर्घायु होने का वरदान दिया, तब मुझे बड़ा गर्व हो गया। मैंने सोचा कि, जब मुझे दीर्घायु होने का वरदान मिल चुका है, तब इन्द्र मेरा कर क्या ही सकता है ॥९॥

इत्येवं बुद्धिमास्थाय रणे शक्रमधर्षयम्।
तस्य बाहुप्रमुक्तेन वज्रेण शतपर्वणा ॥१०॥

यह सोच मैंने युद्धक्षेत्र में इन्द्र को ललकारा। तब इन्द्र ने अपना सौ धार का वज्र मेरे ऊपर छोड़ा ॥१०॥

सक्थिनी चैव मूर्धा च शरीरे सम्प्रवेशितम्।
स मया याच्यमानः सन्नानयद्यमसादनम् ॥११॥

जिसके लगने से मेरी दोनों जंघाएँ और मस्तक शरीर में घुस गए, किन्तु मेरे प्रार्थना करने पर मुझे मार नहीं डाला अथवा मैंने अपनी मौत चाही भी परन्तु उन्होंने मुझे यमपुर को नहीं भेजा ॥११॥

पितामहवचः सत्यं तदस्त्विति ममाब्रवीत्।
अनाहारः कथं शक्तो भग्नसक्थिशिरोमुखः ॥१२॥

---

[1] विभ्रमोगरः (रा०)।

प्रत्युत इन्द्र ने इतना ही कहा कि, जाओ पितामह ब्रह्मा जी का वचन सत्य हो। इस पर मैंने इन्द्र से कहा कि—जघा, सिर और मुख तो आपने वज्र के आघात से मेरे शरीर में घुसा दिए। अब मैं भोजन विना बहुत दिनों तक कैसे जी सकूँगा? ॥१२॥

वज्रेणाभिहतः कालं सुदीर्घमपि जीवितुम्।
एवमुक्तस्तु मे शक्रो बाहु योजनमायतौ ॥१३॥

इस बात को सुन इन्द्र ने कहा कि, अच्छा, अब तेरी बाँहें, एक योजन लंबी हो जाँयगी और तू बहुत दिनों तक जीवित भी रहेगा ॥१३॥

प्रादादास्यं च मे कुक्षौ तीक्ष्णदंष्ट्रमकल्पयत्।
सोऽहं भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां संकृष्यास्मिन् वनेचरान् ॥१४॥
सिंहद्विपमृगव्याघ्रान् भक्षयामि समन्ततः।
स तु मामब्रवीदिन्द्रो यदा रामः सलक्ष्मणः ॥१५॥
छेत्स्यते समरे बाहू तदा स्वर्गं गमिष्यसि।
अनेन वपुषा राम वनेऽस्मिन् राजसत्तम ॥१६॥

इन्द्र ने मेरे मुख में पैने पैने दाँत लगा मुख मेरे पेट में लगा दिआ। तब से मैं अपने दोनो लंबे हाथ फैला कर, वन में विचरने वाले सिंह, चीते, हिरन तेंदुए को पकड़ पकड़ कर मुख में डाल लिआ करता हूँ। इन्द्र ने मुझसे यह भी कहा कि, लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जब तुम्हारी भुजाओं को काटेंगे, तब तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी। तब से हे राजसत्तम! मैं इसी शरीर से इस वन में ॥१४॥१५॥१६॥

यद्यत्पश्यामि सर्वस्य ग्रहणं साधु रोचये।
अवश्यं ग्रहणं रामो मन्येऽहं समुपैष्यति ॥१७॥

मै जिस जीवजन्तु को पाता, उसे पकड़ना अच्छा समझता था। साथ ही यह भी विचारता था कि, किसी दिन श्रीरामचन्द्र भी मेरी भुजाओं से अवश्य पकड़े जायँगे ॥१७॥

इमां बुद्धिं पुरस्कृत्य देहन्यासकृतश्रमः ।
स त्वं रामोऽसि भद्रं ते नाहमन्येन राघव ॥१८॥

इस प्रकार मैं इस शरीर को त्यागने के लिए प्रयत्न कर रहा था। सो आप वही राम हैं। क्योंकि और किसी का सामर्थ्य नहीं, जो मुझे मार सके ॥१८॥

शक्यो हन्तुं यथातत्त्वमेवमुक्तं महर्षिणा ।
अहं हि [१]मतिसाचिव्यं करिष्यामि नरर्षभ ॥१९॥

क्योंकि महर्षि जी ही ने ऐसा कहा था सो सत्य ही हुआ। अत, हे पुरुषश्रेष्ठ! और तो मुझसे कुछ नहीं हो सकता, परन्तु मैं अपने बुद्धिबल से आप की सहायता करूँगा ॥१९॥

मित्रं चैवोपदेक्ष्यामि युवाभ्यां संस्कृतोऽग्निना ।
एवमुक्तस्तु धर्मात्मा दनुना तेन राघवः ॥२०॥

आप द्वारा मेरा अग्निसंस्कार होने पर, मैं आपको एक मित्र बताऊँगा। जब इस प्रकार से उसे दनु के पुत्र ने धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥२०॥

इदं जगाद वचनं लक्ष्मणस्योपशृण्वतः ।
रावणेन हृता भार्या मम सीता यशस्विनी ॥२१॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण को सुनाते हुए उससे कहा—रावण ने मेरी यशस्विनी भार्या सीता हर ली है ॥२१॥

---

१ मतिसाचिव्यं बुद्धिसाहाय्यं। (गो०)

निष्क्रान्तस्य जनस्थानात्सह भ्रात्रा यथासुखम् ।
नाममात्रं तु जानामि न रूपं तस्य रक्षसः ॥२२॥

रावण ने जब सीता हरा, तब मैं लक्ष्मण सहित जनस्थान से बाहिर गया हुआ था। मैं उस राक्षस का नाम मात्र जानता हूँ, उसे पहचानता नहीं ॥२२॥

निवासं वा प्रभावं वा वयं तस्य न विद्महे ।
शोकार्तानामनाथानामेवं विपरिधावताम् ॥२३॥

हमें यह भी नहीं मालूम कि, वह कहाँ का रहने वाला है और उसका प्रभाव कैसा है। देखो, हम शोकाकुल और सहाय हीन हो इधर उधर मारे मारे फिर रहे हैं ॥२३॥

कारुण्यं सदृशं कर्तुमुपकारे च वर्तताम् ।
काष्ठान्यादाय शुष्काणि काले भग्नानि कुञ्जरैः ॥२४॥

इसलिए तुम हम पर दया कर, हमारी उपयुक्त सहायता करो हम हाथियों के, समय पर अर्थात् खाने के लिए तोड़े हुए लक्कड़ इकट्ठे कर, ॥२४॥

धक्ष्यामस्त्वां वयं वीर श्वभ्रे महति कल्पिते ।
स त्वं सीतां समाचक्ष्व येन वा यत्र वा हृता ॥२५॥

और बड़ा गड़ा खोद, हे वीर! हम तुम्हें अभी भस्म किए देते हैं। किन्तु तुम यह तो बतलाओ कि सीता को कौन हर कर ले गया है और कहाँ ले गया है। ॥२५॥

कुरु कल्याणमत्यर्थं यदि जानासि तत्त्वतः ।
एवमुक्तस्तु रामेण वाक्यं दनुरनुत्तमम् ॥२६॥

प्रोवाच कुशलो वक्तुं वक्तारमपि राघवम् ।
दिव्यमस्ति न मे ज्ञानं नाभिजानामि मैथिलीम् ॥२७॥

यदि तुम्हें ठीक ठीक हाल मालूम हो और यदि उसे तुम हमें बतला दोगे, तो इससे हमारा बड़ा काम निकलेगा। जब श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा कहा, तब वह दानवश्रेष्ठ, श्रीरामचन्द्र जी से बड़ी कुशलता के साथ कहने लगा। वह बोला—हे राम! न तो मुझे दिव्य ज्ञान है और न मैं सीता को पहिचानता ही हूँ ॥२६॥२७॥

यस्तां ज्ञास्यति तं वक्ष्ये दग्धः स्वं रूपमास्थितः ।
अदग्धस्य तु विज्ञातुं शक्तिरस्ति न मे प्रभो ॥२८॥

परन्तु मैं जल कर जब अपना असली रूप पाऊँगा, तब मैं उस बतलाने वाले का नाम ठिकाना बतलाऊँगा, जो उस राक्षस को जानता है। हे प्रभो! बिना दग्ध हुए बतलाने की मुझमें शक्ति नहीं है ॥२८॥

राक्षसं ते महावीर्यं सीता येन हृता तव ।
विज्ञानं हि मम भ्रष्ट शापदोषेण राघव ॥२९॥

जिस राक्षस ने तुम्हारी सीता हरी है वह बड़ा पराक्रमी है। हे राघव! शाप-दोष से मेरा ज्ञान नष्ट हो गया है ॥२९॥

स्वकृतेन मया प्राप्तं रूपं लोकविगर्हितम् ।
किन्तु यावन्न यात्यस्तं सविता श्रान्तवाहनः ॥३०॥

अपने पाप के बल से मुझे यह लोकनिन्दित रूप प्राप्त हुआ है। हे श्रीरामचन्द्र! सूर्यास्त होने के पूर्व ही ॥३०॥

[टिप्पणी—इससे जान पड़ता है कि, मुर्दे को सूर्यास्त के बाद दग्ध न करना चाहिये।]

तावन्मामवटे क्षिप्त्वा दह राम यथाविधि ।
दग्धस्त्वयाऽहमवटे न्यायेन रघुनन्दन ॥३१॥
वक्ष्यामि तमहं वीर यस्तं ज्ञास्यति राक्षसम् ।
तेन सख्यं च कर्तव्य न्यायवृत्तेन राघव ।
कल्पयिष्यति ते प्रीतः साहाय्यं लघुविक्रमः ॥३२॥

मुझे गढ़े में रख, यथाविधि भस्म कर दो। हे राम! जब तुम मुझे विधिपूर्वक गढ़े मे डाल भस्म कर दोगे, तब मैं उसका नाम तुमको बतलाऊँगा, जो उस राक्षस को जानता है। तुम उससे न्यायपूर्वक (नीति के अनुसार) मित्रता करना। वह प्रसन्न हो कर बहुत शीघ्र तुम्हारा काम कर देगा ॥३१॥३२॥

न हि तस्यास्त्यविज्ञातं त्रिषु लोकेषु राघव ।
सर्वान् परिसृतो लोकान् पुराऽसौ कारणान्तरे ॥३३॥

इति एकसप्ततितमः सर्ग ॥

क्योंकि तीनों लोकों मे ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे वह न जानता हो। क्योंकि वह कारणान्तर (भाई के डर) से, सब लोकों मे पहिले घूम चुका है ॥३३॥

अरण्यकाण्ड का एकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

द्विसप्ततितमः सर्गः

—❀—

एवमुक्तौ तु तौ वीरौ कबन्धेन नरेश्वरौ ।
गिरिप्रदरमासाद्य पावकं विससर्जतुः ॥१॥

उन राजकुमारों से कबन्ध ने जब इस प्रकार कहा, तब उन दोनों भाइयों ने एक पहाड़ी गढ़े मे उसके शरीर को डाल, आग लगा दी ॥१॥

लक्ष्मणस्तु महोल्काभिर्ज्वलिताभिः समन्ततः ।
चितामादीपयामास सा प्रजज्वाल सर्वतः ॥२॥

फिर लक्ष्मण ने बड़े बड़े लक्कड़ जला चारों ओर से चिता प्रदीप्त कर दी। चिता चारों ओर से जलने लगी ॥२॥

तच्छरीरं कबन्धस्य घृतपिण्डोपमं महत् ।
मेदसा पच्यमानस्य मन्दं दहति पावकः ॥३॥

तब कबन्ध का घी के पिंड के समान चरबी से पूर्ण बड़ा शरीर, अग्नि मे धीरे धीरे जलने लगा ॥३॥

स विधूय चितामाशु विधूमोऽग्निरिवोत्थितः ।
अरजे वाससी बिभ्रन् मालां दिव्यां महाबलः ॥४॥

तदनन्तर महाबली कबंध शीघ्र चिता को छोड़, दो स्वच्छ वस्त्र और दिव्य माला धारण कर, धूमरहित अग्नि की तरह उसमें से निकला ॥४॥

[टिप्पणी—कबन्ध का सूक्ष्म शरीर दिव्य रूप धारण करता देख पड़ा था]

ततश्चिताया वेगेन भास्वरो विमलाम्बरः ।
उत्पपाताशु संहृष्टः सर्वप्रत्यङ्गभूषणः ॥५॥

वह कान्तियुक्त शरीर धारण कर, प्रसन्न होता हुआ, बड़े वेग से आकाश में गया। उसके शरीर के समस्त अंग प्रत्यंग गहनों से भूषित थे ॥५॥

विमाने भास्वरे तिष्ठन् हंसयुक्ते यशस्करे ।
प्रभया च महातेजा दिशो दश विराजयन् ॥६॥

तदनन्तर वह चमचमाते हंसयुक्त यश देने-वाले विमान में बैठकर अपने शरीर की प्रभा से दसों दिशाओं को प्रकाशित करने लगा ॥६॥

सो ऽन्तरिक्षगतो रामं कबन्धो वाक्यमब्रवीत् ।
शृणु राघव तत्त्वेन यथा सीतामवाप्स्यसि ॥७॥

आकाश में पहुँच कबन्ध ने श्रीराम को सम्बोधन कर कहा—हे श्रीराम! सुनो, अब मैं बतलाता हूँ जिस प्रकार तुमको सीता मिलेगी ॥७॥

राम षड्युक्तयो लोके याभिः सर्वं विमृश्यते ।
परिमृष्टो दशान्तेन दशाभागेन सेव्यते ॥ ८ ॥

काम करने की संसार में छः युक्तियाँ हैं (यथा १ सन्धि, २ विग्रह, ३ यान, आसन, ५ द्वैधीभाव और ६ समाश्रय) श्रेष्ठजन इन्हीं की सहायता से सब बातों का विचार करते हैं। इनको काम में लाए बिना कोई काम सिद्ध नहीं होता। जो मनुष्य दुर्दशाग्रस्त होता है अथवा जिसे दुर्दशा घेर लेती है उसकी दुर्दशा ही होती चली जाती है ॥८॥

दशाभागगतो हीनस्त्वं हि राम सलक्ष्मणः ।
यत्कृते व्यसनं प्राप्तं त्वया दारप्रधर्षणम् ॥९॥

तुम दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण दुर्दशाग्रस्त हो रहे हो। इसीसे स्त्रीहरण का यह दुःख तुम पर पड़ा है ॥९॥

तदवश्यं त्वया कार्यः स सुहृत्सुहृदां वर ।
अकृत्वा हि न ते सिद्धिमहं पश्यामि चिन्तयन् ॥१०॥

अत. हे सुहृदों मे श्रेष्ठ ! तुम अवश्य उससे मैत्री करो। क्योंकि मैंने वहुत सोचा, मुझे तो तुम्हारे कार्य की सिद्धि, विना उससे मैत्री किए अन्य किसी उपाय से नहीं दिखलाई पड़ती ॥१०॥

श्रूयतां राम वक्ष्यामि सुग्रीवो नाम वानरः ।
भ्रात्रा निरस्तः क्रुद्धेन वालिना शक्रसूनुना ॥११॥

हे श्रीराम ! सुनो, मैं कहता हूँ ! सुग्रीव नाम का एक वानर है। इन्द्रपुत्र वालि ने उस अपने भाई को क्रुद्ध हो, निकाल दिया है ॥११॥

ऋश्यमूके गिरिवरे पम्पापर्यन्तशोभिते ।
निवसत्यात्मवान् वीरश्चतुर्भिः सह वानरैः ॥१२॥

वह ज्ञानवान सुग्रीव अपने चार साथी वानरों के सहित ऋष्यमूक पर्वत पर जो पम्पा सरोवर तक फैला हुआ शोभायमान है, सदा वास करता है ॥१२॥

वानरेन्द्रो महावीर्यस्तेजोवानमितप्रभः ।
सत्यसन्धो विनीतश्च धृतिमान् मतिमान् महान् ॥१३॥

वह वानरों का राजा सुग्रीव वड़ा वलवान, तेजस्वी, अमित प्रभा वाला, सत्यप्रतिज्ञ, विनीत, धैर्यवान और वड़ा बुद्धिमान् है ॥१३॥

दक्षः प्रगल्भो द्युतिमान् महाबलपराक्रमः ।
भ्रात्रा विवासितो राम राज्यहेतोर्महाबलः ॥१४॥

वह सुग्रीव चतुर, साहसी, कान्तिमान् महाबली और महा पराक्रमी है। हे श्रीराम ! उस महाबली को उसके ज्येष्ठ भाई वाली ने राज्य के पीछे निकाल दिया है ॥१४॥

स ते सहायो मित्रं च सीतायाः परिमार्गणे ।
भविष्यति हि ते राम मा च शोके मनः कृथाः ॥१५॥

निश्चय ही वह तुमसे मैत्री करेगा और सीता के ढूंढने में तुम्हें सहायता भी देगा। हे राम! तुम दुःखी मत हो ॥१५॥

भवितव्यं हि यच्चापि न तच्छक्यमिहान्यथा ।
कर्तुमिक्ष्वाकुशार्दूल कालो हि दुरतिक्रमः ॥१६॥

हे इक्ष्वाकुकुलशार्दूल! होनहार को मेटने की शक्ति किसी में नहीं है। क्योंकि काल की गति को कोई रोक नहीं सकता ॥१६॥

गच्छ शीघ्रमितो राम सुग्रीवं तं महाबलम् ।
वयस्यं तं कुरु क्षिप्रमितो गत्वाद्य राघव ॥१७॥

अब हे राम! अब तुम शीघ्र यहाँ से महाबली सुग्रीव के पास जाओ। हे राघव! यहाँ से शीघ्र जाकर तुम उनसे मैत्री कर लो ॥१७॥

अद्रोहाय समागम्य दीप्यमाने विभावसौ ।
न च ते नावमन्तव्यः सुग्रीवो वानराधिपः ॥१८॥

जिससे पीछे आपस में मनमुटाव न हो, इसलिये प्रज्वलित अग्नि को साक्षी कर मैत्री करना। साथ ही यह भी याद रखना कि, वानरराज सुग्रीव का आपके द्वारा कभी अपमान न होने पावे ॥१८॥

कृतज्ञः कामरूपी च सहायार्थी च वीर्यवान् ।
शक्तौ ह्यद्य युवां कर्तुं कार्यं तस्य चिकीर्षितम् ॥१९॥

क्योंकि वह वानरराज कृतज्ञ है, इच्छानुसार रूप धारण करने वाला है, बड़ा बलवान है और इस समय उसे भी सहायता

की आवश्यकता है (तुम दोनों उसके कार्य को करने में समर्थ भी हो) ॥१६॥

कृतार्थो वाऽकृतार्थो वा कृत्यं तव करिष्यति।
स ऋक्षरजसः पुत्रः पम्पामटति शङ्कितः ॥२०॥

चाहे उसका काम पूरा हो जाय या अधूरा ही रहे, किन्तु वह तुम्हारा काम कर देगा। वह ऋक्षराज नामक वानर का पुत्र, भाई के डर के मारे पम्पा सरोवर के किनारे घूमा करता है ॥२०॥

भास्करस्यौरसः पुत्रो वालिना कृतकिल्बिषः[1] ।
सन्निधायायुधं क्षिप्रमृष्यमूकालयं कपिम् ॥२१॥

वह सूर्य का औरस पुत्र, वालि से शत्रुता होने के कारण बहुत दुःखी रहता है। तुम सब आयुधों को रख कर, उस ऋष्यमूक पर्वतवासी वानर से ॥२१॥

कुरु राघव सत्येन[2] वयस्यं वनचारिणम्।
स हि स्थानानि सर्वाणि कार्त्स्न्येन कपिकुञ्जरः ॥२२॥
नरमांसाशिनां लोके नैपुण्यादधिगच्छति।
न तस्याविदितं लोके किञ्चिदस्ति हि राघव ॥२३॥

शपथपूर्वक मैत्री करना। क्योंकि वह कपिकुञ्जर सुग्रीव मनुष्याहारी राक्षसों के समस्त स्थानों को भली भाँति जानता है। हे राघव! लोक में कोई भी जगह ऐसी नहीं, जिसे वह न जानता हो ॥२२॥२३॥

---

१ कृतकिल्बिषः—कृतवैरः। (गो०) २ सत्येन—शपथेन। (गो०)

यावत्सूर्यः प्रतपति सहस्रांशुररिन्दम ।
स नदीर्विपुलाञ्छैलान् गिरिदुर्गाणि कन्दरान् ॥२४॥

हे अरिन्दम ! जहाँ तक सूर्य की किरण जा सकती है उतने बीच की समस्त नदियों, पर्वतों, दुर्गम स्थानों और कन्दराओं का ॥२४॥

अन्वीक्ष्य वानरैः सार्धं पत्नीं तेऽधिगमिष्यति ।
वानरांश्च महाकायान् प्रेषयिष्यति राघव ॥२५॥

वानरों के साथ ढूँढ कर, वह तुम्हारी पत्नी तुमको प्राप्त करवा देगा। अथवा (स्वयं न जाकर) अपने अधीनस्थ बड़े डीलडौल के बन्दरों को सीता को ढूँढने के लिए भेज सकेगा ॥२५॥

दिशो विचेतुं तां सीतां त्वद्वियोगेन शोचतीम् ।
स यास्यति वरारोहां निर्मलां रावणालये ॥२६

तुम्हारे वियोग में चिन्तित निष्कलङ्क सुन्दरी सीता का पता लगा—यदि वह रावण के घर में हुई तो भी—वहाँ से लाकर उन्हें तुमसे मिला देगा ॥२६॥

न मेरुशृङ्गाग्रगतामनिन्दितां
प्रविश्य पातालतलेऽपि वाश्रिताम् ।
प्लवङ्गमानां प्रवरस्तव प्रियां
निहत्य रक्षांसि पुनः प्रदास्यति ॥२७॥

इति द्विसप्ततितमः सर्गः ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! वह वानरश्रेष्ठ ऐसा प्रतापी है कि, चाहे सीता मेरुपर्वत के शिखर पर हो अथवा पाताल में हो, वह वहाँ जा और राक्षसों को मार कर, तुम्हें लाकर दे देगा ॥२७॥

अरण्यकाण्ड का बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

त्रिसप्ततितमः सर्गः

—❀—

निदर्शयित्वा रामाय सीतायाः प्रतिपादने ।
वाक्यमन्वर्थमर्थज्ञः कबन्धः पुनरब्रवीत् ॥१॥

कबन्ध सीता जी के मिलने का इस प्रकार उपाय बतला, फिर भी श्रीरामचन्द्र जी से अर्थयुक्त वचन कहने लगा ॥१॥

एष राम शिवः पन्था यत्रैते पुष्पिता द्रुमाः ।
प्रतीचीं दिशमाश्रित्य प्रकाशन्ते मनोरमाः ॥२॥

हे श्रीराम ! वहाँ जाने के लिए आपको यह रास्ता सुखदायी होगा, क्योंकि ये जहाँ फूले हुए मनोहर वृक्ष लग रहे हैं, वे वृक्ष पश्चिम की ओर देखने से देख पड़ेंगे ॥२॥

जम्बूप्रियालपनसप्लक्षन्यग्रोधतिन्दुकाः ।
अश्वत्थाः कर्णिकाराश्च चूताश्चान्ये च पादपाः ॥३॥

देखो, जामुन, चिरोंजी, कटहर, बड़, पाकर, तेंदू, पीपल, कठ, चम्पा और आम के अनेक वृक्ष हैं ॥३॥

धन्वना नागवृक्षाश्च तिलका नक्तमालकाः ।
नीलाशोकाः कदम्बाश्च करवीराश्च पुष्पिताः ॥४॥

धव, नागकेसर, तिलक, करञ्ज, नील, अशोक, कदम्ब और पुष्पित कनैर ॥४॥

अग्निमुख्या अशोकाश्च सुरक्ताः पारिभद्रकाः ।
तानारुह्याथवा भूमौ पातयित्वा च तान् बलाद् ॥५॥

अरूस, अशोक, रक्तचन्दन और मन्दिर-नामक वृक्ष लगे हैं। या तो इन पर चढ कर अथवा बलपूर्वक उनकी डालें झुका कर ॥५॥

फलान्यमृतकल्पानि भक्षयन्तौ गमिष्यथः ।
तदातिक्रम्य काकुत्स्थ वनं पुष्पितपादपम् ॥६॥

अमृत की तरह मीठे फलों को तोड़ और उनको खाते हुए तुम दोनों जन चले जाना। हे काकुत्स्थ ! इस पुष्पित वृक्षों से युक्त वन को नांघने पर ॥६॥

नन्दनप्रतिमं चान्यत्कुरवो ह्युत्तरा इव ।
सर्वकामफला वृक्षाः पादपास्तु मधुस्रवाः ॥७॥

तुमको नन्दन और उत्तर कुरु की तरह रत्तवन मिलेगा। इस वन के वृक्षों में सदा फल लगा करते हैं और वे बडे मीठे और रसदार होते हैं ॥७॥

सर्वे च ऋतवस्तत्र वने चैत्ररथे यथा ।
फलभारानतास्तत्र महाविटपधारिणः ॥८॥

उस वन मे, चैत्ररथ वन की तरह वृक्षो मे सब ऋतुओ के फल लगा करते हैं। फलो के बोझ से वहाँ के वृक्ष झुके रहते हैं ॥८॥

शोभन्ते सर्वतस्तत्र मेघपर्वतसन्निभाः ।

तानारुह्याथ वा भूमौ पातयित्वा यथासुखम् ॥९॥

बड़ी बडी शाखाओं के कारण वहाँ के वृक्ष पर्वताकार मेघो की तरह सुशोभित देख पड़ते हैं। हे राम ! वृक्षो पर चढ़ कर अथवा जमीन पर गिरा कर—जैसे सुविधा हो वैसे ॥९॥

फलान्यमृतकल्पानि लक्ष्मणस्ते प्रदास्यति ॥

चङ्क्रमन्तौ वरान् देशाञ्शैलाच्छैलं वनाद्वनम् ॥१०॥

लक्ष्मण जी उन अमृत की तरह स्वादिष्ट फलो को लाकर तुमको दे दिआ करेगे ! इस प्रकार कितने ही सुन्दर देशो, पर्वतों और वनों मे घूमते फिरते ॥१०॥

ततः पुष्करिणीं वीरौ पम्पां नाम गमिष्यथः ।

अशर्करामविभ्रंशां समतीर्थामशैवलाम् ॥११॥

तुम दोनो पम्पा नामक सरोवर पर पहुँचोगे। इस सरोवर के भीतर न तो सिवार (एक प्रकार की पानी मे जमने वाली घास) है और न ककडियाँ हैं। इसके तट की भूमि पर चिकलाहट भी नहीं है। इसके सब घाट भी एक से बने हैं ॥११॥

राम सञ्जातवालूकां कमलोत्पलशालिनीम् ।

तत्र हंसाः प्लवाः क्रौञ्चाः कुरराश्चैव राघव ॥१२॥

हे राम ! उसमे अच्छी रेती है। उसमे कमल फूला करते हैं हे राघव ! वहाँ हस, राजहस, क्रौंच और कुरर रहते हैं ॥१२॥

१वल्गुस्वना निकूजन्ति पम्पासलिलगोचराः२ ।

नोद्विजन्ते नरान् दृष्ट्वा ३वधस्याकोविदाः शुभाः ॥१३॥

सरोवर में तैरते हुए बड़ी प्यारी बोलियाँ बोला करते हैं। वे मनुष्यों को देख डरते नहीं, क्योंकि वध क्या होता है सो वे जानते ही नहीं (अर्थात् वहाँ कोई पक्षी नहीं मारने पाता) ॥१३॥

घृतपिण्डोपमान् स्थूलांस्तान् द्विजान् भक्षयिष्यथः ।

रोहितान् वक्रतुण्डांश्च नडमीनांश्च राघव ॥१४॥

हे राघव ! उन घृतपिण्ड की तरह मोटे मोटे पक्षियों को और रोहू, चक्रतुण्ड, नड नामक मछलियों को मार कर तुम खाना ॥१४॥

पम्पायामिषुभिर्मत्स्यांस्तत्र राम वरान् हतान् ।

निस्त्वक्पक्षानयस्तप्तान४कृशानेककण्टकान् ॥१५॥

हे रामचन्द्र ! जिनके पंख नहीं होते और जो बड़ी मोटी होती हैं एवं त्वचा और बहुत काँटों वाली बढ़िया मछलियों को काँटे से छेद कर और आग पर भून कर (कवाब बना कर) ॥१५॥

तव भक्त्या समायुक्तो लक्ष्मणः सम्प्रदास्यति ।

भृशं ते खादतो मत्स्यान् पम्पायाः पुष्पसञ्चये ॥१६॥

बड़े चाव से लक्ष्मण तुमको देंगे। कमल पुष्पों में विचरती हुई बहुत सी मछलियों को तुम खाना ॥१६॥

पद्मगन्धि शिवं५वारि सुखशीतमनामयम् ।

उद्धृत्य सतताक्लिष्टं रौप्यस्फाटिकसन्निभम् ॥१७॥

असौ पुष्करपर्णेन लक्ष्मणः पाययिष्यति ।
स्थूलान् गिरिगुहाशय्यान् वराहान् वनचारिणः ॥१८॥
अपां लोभादुपावृत्तान् वृषभानिव नर्दतः ।
[1]रूपान्वितांश्च पम्पायां द्रक्ष्यसि त्वं नरोत्तम ॥१९॥

पम्पा सरोवर का कमल पुष्प की सुगन्धि से युक्त, रोगहर, पापनाशक, आनन्ददायक, सुशीतल चाँदी और स्फटिक पत्थर की तरह स्वच्छ जल लक्ष्मण कमल के पत्तों मे लाकर तुमको पिलावेंगे। पर्वत कदरों मे सोने वाले तथा वन मे विचरने वाले बडे मोटे मोटे सुन्दर सुअर जो पम्पा सरोवर के तट पर बैल की तरह बोलते हुए जल पीने आया करते हैं, हे नरोत्तम! तुमको देख पडेंगे ॥१७॥१८॥१९॥

सायाह्ने विचरन् राम विटपीन्माल्यधारिणः ।
शीतोदकं च पम्पाया दृष्ट्वा शोकं विहास्यसि ॥२०॥

हे श्रीराम! सन्ध्या के समय जब तुम वहाँ घूमा करोगे, तब बड़ी बड़ी शाखाओं वाले और फूले हुए वृक्षों तथा पम्पा सरोवर के शीतल जल को देख कर, तुम्हारा शोक दूर हो जायगा ॥२०॥

सुमनोभिश्चितांस्तत्र तिलकान्नक्तमालकान् ।
उत्पलानि च फुल्लानि पङ्कजानि च राघव ॥२१॥

हे राघव! वहाँ पर तिलक और करज के वृक्ष फूलों से लदे हैं। कुईं और कमल के फूल वहाँ फूले हुए हैं ॥२१॥

न तानि कश्चिन् माल्यानि तत्रारोपयिता[2] नरः ।
न च वै म्लानतां यान्ति न च शीर्यन्ति राघव ॥२२॥

---

१ रूपान्वितान्—सौन्दर्यवत. । (गो०) २ आरोपयिता—गृहीत्वाग्रथिता । (गो०)

हे राघव! किन्तु उन फूलों की माला बनाने वाला कोई आदमी वहाँ नहीं रहता। वहाँ के पुष्प न कभी मुरझाते हैं, न अपने आप गिरते हैं ॥२२॥

मतङ्गशिष्यास्तत्रासन्नृषयः सुसमाहिताः ।
तेषां भाराभितप्तानां वन्यमाहरतां गुरोः ॥२३॥

वहाँ पर मतङ्ग ऋषि के शिष्य ऋषि लोग एकाग्रचित्त होकर रहते थे। जब वे गुरु के लिए वन के फल फूल कंद लेने जाते और बोझ से पीडित होते ॥२३॥

ये प्रपेतुर्महीं तूर्णं शरीरात्स्वेदबिन्दवः ।
तानि जातानि माल्यानि मुनीनां तपसा तदा ॥२४॥

तब उनकी देह से पसीने की जो बूंदे टपकतीं थीं, वे उनकी तपस्या के प्रभाव से फूल हो जातीं थीं ॥२४॥

स्वेदबिन्दुसमुत्थानि न विनश्यन्ति राघव ।
तेषामद्यापि तत्रैव दृश्यते परिचारिणी ॥२५॥

हे राघव! पसीने की बूंदों से उत्पन्न होने के कारण वे फूल अभी नष्ट नहीं होते। (वे ऋषि लोग तो उस स्थान को त्याग कर चले गए हैं परन्तु) उनकी परिचारिका अब तक वहाँ देख पडती है ॥२५॥

'श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी ।
त्वां तु धर्मे स्थिता नित्यं सर्वभूतनमस्कृतम् ॥२६॥

दृष्ट्वा देवोपमं राम स्वर्गलोकं गमिष्यति ।
ततस्तद्राम पम्पायास्तीरमाश्रित्य पश्चिमम् ॥२७॥

हे काकुत्स्थ ! उसका नाम शबरी है। वह सन्यासिनी है और वह बहुत बूढ़ी है। परन्तु वह गुरुपरिचर्या में सदा निरत रहने वाली शबरी देवोपम और सब लोगों से नमस्कार किए जाने योग्य, आपके दर्शन कर, स्वर्ग को चल देगी। पम्पा के पश्चिम तीर पर ॥२६॥२७॥

आश्रमस्थानमतुलं[1] गुह्यं[2] काकुत्स्थ पश्यसि ।
न तत्राक्रमितुं नागाः शक्नुवन्ति तमाश्रमम् ॥२८॥

तुमको एक ऐसा अनुपम आश्रम देख पड़ेगा, जिसे दुर्गम होने के कारण, अन्य लोग नहीं देख सकते। हाथी उस आश्रम को नहीं नष्ट कर सकते ॥२८॥

विविधास्तत्र वै नागा वने तस्मिंश्च पर्वते ।
ऋषेस्तत्र मतङ्गस्य विधानात्तच्च काननम् ॥२९॥

यद्यपि वहाँ के वन और वहाँ के पर्वत पर बहुत से हाथी रहा करते हैं, तथापि मतङ्ग ऋषि के प्रभाव से उस आश्रम के वन को नष्ट भ्रष्ट नहीं कर सकते ॥२९॥

[मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन ।]
तस्मिन्नन्दनसङ्काशे देवारण्योपमे वने ॥३०॥

हे रघुनन्दन ! वह वन मतङ्गवन के नाम से प्रसिद्ध है। हे श्रीराम ! वह देवताओं के नन्दन वन की तरह रमणीक है ॥३०॥

---

१ अतुल—अनुपम्। (गो०) २ गुह्य —इतरैरदर्शनीय। (गो०)

नानाविहगसङ्कीर्णो रंस्यसे राम निर्वृतः ।
ऋश्यमूकश्च पम्पायाः पुरस्तात्पुष्पितद्रुमः ॥३१॥

उसमें भाँति भाँति के दुःख त्याग कर पक्षी रहते हैं। हे श्रीराम! उस वन में तुम विहार करना। पम्पा सरोवर के सामने ही पुष्पित वृक्षों से शोभित ऋष्यमूक नामक पर्वत है ॥३१॥

सुदुःखारोहणो नाम शिशुनागाभिरक्षितः ।
उदारो ब्रह्मणा चैव पूर्वकाले विनिर्मितः ॥३२॥
शयानः पुरुषो राम तस्य शैलस्य मूर्धनि ।
यत्स्वप्ने लभते वित्तं तत्प्रबुद्धोऽधिगच्छति ॥३३॥

उस दुरारोह पर्वत की रखवाली छोटे छोटे हाथी के बच्चे किया करते हैं। इस पर्वत को उदारमना ब्रह्मा जी ने पूर्वकाल में स्वयं बनाया था। उस पर्वत के शिखर पर यदि कोई पुरुष सोवे और स्वप्न में उसे धन का मिलना देख पड़े तो, जागने पर भी धन मिलता है ॥३२॥३३॥

न त्वेन विषमाचारः पापकर्माधिरोहति ।
यस्तु तं विषमाचारः पापकर्माधिरोहति ॥३४॥
तत्रैव प्रहरन्त्येनं सुप्तमादाय राक्षसाः ।
तत्रापि शिशुनागानामाक्रन्दः श्रूयते महान् ॥३५॥

जब वह सोता है, तब राक्षस लोग उसे मार डालते हैं। वहाँ पर छोटे हाथियों का चिंघारना बहुत सुन पडता है ॥३४॥३५॥

क्रीडतां राम पम्पायां मतङ्गारण्यवासिनाम् ।
सिक्ता रुधिरधाराभिः संहृत्य परमद्विपाः ॥३६॥
प्रचरन्ति पृथक्कीर्णा मेघवर्णास्तरस्विनः ।
ते तत्र पीत्वा पानीयं विमलं शीतमव्ययम् ॥३७॥

हे श्रीराम ! ये महागज मतङ्ग ऋषि के वन में क्रीड़ा करते और वहीं रहते हैं। वे मद लाल मद की धारों से तर, कभी तो गिरोह बाँध कर घूमते हैं, कभी अलग अलग चरते हैं। उनके शरीर का रंग काले मेघ जैसा है और वे बडे बलवान हैं। वे वहाँ पर पम्पा सरोवर का कभी न निबटने वाला, निर्मल और शीतल जल पीकर ॥३६॥३७॥

निर्वृताः संविगाहन्ते[1] वनानि वनगोचराः ।
ऋक्षांश्च द्वीपिनश्चैव नीलका[2]मलकप्रभान् ॥३८॥
रुरूनपेतापजयान् दृष्ट्वा शोकं जहिष्यसि ।
राम तस्य तु शैलस्य महती शोभते गुहा ॥३९॥
शिलापिधाना काकुत्स्थ दुःखं चास्याः प्रवेशनम् ।
तस्या गुहायाः प्राग्द्वारे महाञ्शीतोदको ह्रदः ॥४०॥

और अपनी प्यास मिटा, वन में प्रवेश कर, वन में विचरा करते हैं। हे राम ! रीछ, बाघ और नीलम मणि की तरह प्रभा

---

१ संविगाहन्ते—प्रविशन्ति । (गो०) २ नीलकोमलकप्रभान्—नीलरत्नवन्मनोज्ञप्रभान् । (गो०)

वाले रुरु मृगों को देखने से तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा। वहाँ पर एक पहाड़ी बड़ी गुफा है। उसका द्वार एक शिला से बंद रहता है। उसके भीतर जाना बड़े खटके का काम है। उस गुफा के मुहारे के सामने ही शीतल जल का एक बड़ा सरोवर है ॥३८॥ ॥३९॥४०॥

फलमूलान्वितो रम्यो नानामृगसमावृतः ।
तस्यां वसति सुग्रीवश्चतुर्भिः सह वानरैः ॥४१॥

वहाँ अनेक फल और मूल हैं। भाँति-भाँति के बनैले जीव जन्तु उसके इर्दगिर्द घूमा फिरा करते हैं। उसी में अपने साथी चार वानरों के सहित सुग्रीव रहा करता है ॥४१॥

कदाचिच्छिखरे तस्य पर्वतस्यावतिष्टते ।
कबन्धस्त्वनुशास्यैव तावुभौ रामलक्ष्मणौ ॥४२॥

कभी कभी वह पर्वतशिखर पर भी जा बैठा करता है। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी को सब बातें बतला कर वह कबन्ध राक्षस ॥४२॥

स्रग्वी भास्करवर्णाभः खे व्यरोचत वीर्यवान् ।
तं तु खस्थं महाभागं कबन्धं रामलक्ष्मणौ ॥
प्रस्थितौ त्वं व्रजस्वेति वाक्यमूचतुरन्तिके ॥४३॥

माला धारण किए सूर्य की तरह चमचमाता हुआ वीर्यवान् वह स्वच्छ आकाश में आ शोभायमान हुआ। इस बड़े भाग्यवान को देख, श्रीराम और लक्ष्मण ने उससे कहा कि अच्छा अब हम लोग सुग्रीव के पास जाते हैं, तुम भी स्वर्ग को जाओ ॥४३॥

गम्यतां कार्यसिद्ध्यर्थमिति तावब्रवीत्स च ।
सुप्रीतौ तावनुज्ञाप्य कबन्धः प्रस्थितस्तदा ॥४४॥

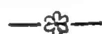
इस पर कबंध ने कहा कि, आप भी अपना काम सिद्ध करने के लिए जाइए। तब कबंध हर्षित हो और श्रीराम लक्ष्मण से विदा माँग, वहाँ से प्रस्थानित हुआ ॥४४॥

स तत्कबन्धः प्रतिपद्य रूपं
वृतः श्रिया भास्करतुल्यदेहः ।
निदर्शयन् राममवेक्ष्य खस्थः
सख्यं कुरुष्वेति तदाऽभ्युवाच ॥४५॥

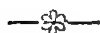
इति त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

इस प्रकार कबन्ध अपना पूर्वरूप प्राप्त कर, शोभायुक्त, देदीप्यमान अपनी देह को दिखला और आकाश में स्थित हो तथा श्रीराम को देख कर, उनसे बोला कि, आप जाकर सुग्रीव से मैत्री कीजिए ॥४५॥

अरण्यकाण्ड का तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।



चतुःसप्ततितमः सर्गः



तौ कबन्धेन तं मार्गं पम्पाया दर्शितं वने ।
प्रतस्थतुर्दिशं गृह्य प्रतीचीं नृवरात्मजौ ॥१॥

वे दोनों राजकुमार कबन्ध के बतलाए मार्ग को धर पश्चिम की ओर उस वन में होकर चले ॥१॥

तौ शैलेष्वाचितानेकान् क्षौद्रकल्पफलान् द्रुमान् ।
वीक्षन्तौ जग्मतुर्द्रष्टुं सुग्रीवं रामलक्ष्मणौ ॥२॥

श्रीराम और लक्ष्मण पहाड़ों पर तरह तरह के शहद की तरह मीठे फलों से लदे हुए वृक्षों को देखते हुए, सुग्रीव से मिलने के लिए चले जाते थे ॥२॥

कृत्वा च शैलपृष्ठे तु तौ वासं रामलक्ष्मणौ ।
पम्पायाः पश्चिमं तीरं राघवावुपतस्थतुः ॥३॥

श्रीराम लक्ष्मण रास्ते में एक पर्वत के ऊपर टिक कर पम्पा सरोवर के ओर पश्चिम तट पर जा पहुँचे ॥३॥

तौ पुष्करिण्याः पम्पायास्तीरमासाद्य पश्चिमम् ।
अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम् ॥४॥

पम्पा सरोवर के पश्चिमी तट पर पहुँच, वहाँ इन्होंने शबरी का रमणीक आश्रम देखा ॥४॥

तौ तमाश्रममासाद्य द्रुमैर्बहुभिरावृतम् ।
सुरम्यमभिवीक्षन्तौ शबरीमभ्युपेयतुः ॥५॥

बहुत से वृक्षों से घिरे हुए शबरी के आश्रम में जा और वहाँ की रमणीयता देखते हुए, वे शबरी के निकट जा पहुँचे ॥५॥

तौ च दृष्ट्वा तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः ।
रामस्य पादौ जग्राह लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥६॥

वह सिद्धा शबरी इन दोनों भाइयों को देखते ही हाथ जोड़ कर खड़ी हो गई। फिर उसने दोनों बुद्धिमान भाइयों के चरणों को स्पर्श किया ॥६॥

पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादाद्यथाविधि ।
तामुवाच ततो रामः श्रमणीं शंसितव्रताम् ॥७॥

फिर उसने अर्घ्य, पाद्य, आचमन आदि यथाविधि अर्पण कर उनका आतिथ्य किया। तब श्रीरामचन्द्र जी ने धर्मनिरता शबरी से पूछा ॥७॥

कच्चित्ते निर्जिता विघ्नाः[1] कच्चित्ते वर्धते तपः ।
कच्चित्ते नियतः[2] क्रोध आहारश्च तपोधने ॥८॥

कामादि छः रिपुओं को जो तपस्या में विघ्न डाला करते हैं, तूने जीत तो लिआ है? तेरी तपस्या उत्तरोत्तर बढ़ती तो जाती है? तूने क्रोध को तो अपने वश में कर रखा है? हे तपोधने! तू आहार में तो सभल कर रहती हो न? ॥८॥

कच्चित्ते नियमाः[3] प्राप्ताः कच्चित्ते मनसः सुखम्[4] ।
कच्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणि ॥९॥

हे चारुभाषिणी! तेरे सब व्रत तो ठीक ठीक चले जाते हैं? तेरा मन सन्तुष्ट तो रहता है? क्या तेरी गुरु-शुश्रूषा सफल हुई?

रामेण तापसी पृष्टा सा सिद्धा सिद्धसम्मता ।
शशंस शबरी वृद्धा रामाय प्रत्युपस्थिता ॥१०॥

---

१ विघ्ना—तपोविघ्नाः कामादयः। (गो) २ नियतः—निगृहीतः। (गो०) ३ नियमाः—व्रतानि। (गो०) ४ मनसः सुखं—मनः सन्तोषः। (गो०)

जब श्रीरामचन्द्र जी ने शबरी से ये प्रश्न किए, तब सिद्ध पुरुषों की मान्य वह सिद्धा तपस्विनी श्रीराम से कहने लगी ॥१०॥

अद्य प्राप्ता तपःसिद्धिस्तव सन्दर्शनान्मया ।
अद्य मे सफलं तप्तं गुरवश्च सुपूजिताः ॥११॥

आपके दर्शन करके मुझे आज तप करने का फल मिल गया। आज मेरा तप करना और गुरु की सेवा करना सफल हुआ ॥११॥

अद्य मे सफलं जन्म स्वर्गश्चैव भविष्यति ।
त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ ॥१२॥

यही क्यों, आज मेरा जन्म भी सफल हो गया। हे देवश्रेष्ठ पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र! आज आपका पूजन कर, मुझे स्वर्ग भी मिल जायगा ॥१२॥

चक्षुषा तव सौम्येन पूताऽस्मि रघुनन्दन ।
गमिष्याम्यक्षयान् लोकांस्त्वत्प्रसादादरिन्दम ॥१३॥

हे श्रीराम! आपके निर्हेतुक कृपाकटाक्ष से आज मैं पवित्र हो गई। हे अरिन्दम! आपकी कृपा से मुझे अब अक्षय लोकों की प्राप्ति होगी ॥१३॥

चित्रकूटं त्वयि प्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः ।
इतस्ते दिवमारूढा यानहं पर्यचारिषम् ॥१४॥

हे श्रीराम! जब आप चित्रकूट में पधारे थे तब वे ऋषि लोग जिनकी मैं सेवा किया करती थी, दिव्य विमानों में बैठ, स्वर्ग को चले गए ॥१४॥

तैश्चाहमुक्ता धर्मज्ञैर्महाभागैर्महर्षिभिः ।
आगमिष्यति ते रामः सुपुण्यमिममाश्रमम् ॥१५॥

जाते समय वे महाभाग और धर्मज्ञ महर्षि मुझसे यह कह गए कि श्रीरामचन्द्र तेरे इस पुण्यजनक आश्रम में आवेंगे ॥१५॥

स ते प्रतिग्रहीतव्यः सौमित्रिसहितोऽतिथिः ।
तं च दृष्ट्वा वरान् लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि ॥१६॥

उस समय तू उनका और उनके साथी लक्ष्मण का स्वागत कर आतिथ्य करना । उनके दर्शन करने से तुझे श्रेष्ठ अक्षय्य लोकों की प्राप्ति होगी ॥१६॥

मया तु विविधं वन्यं सञ्चितं पुरुषर्षभ ।
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीरसंभवम् ॥१७॥

हे पुरुषोत्तम ! मैंने आपके लिए पम्पा सरोवर के निकटवर्त्ती वन से अनेक वन में उत्पन्न होने वाले कन्दमूल फलों को इकट्ठा कर रखा है ॥१७॥

[टिप्पणी—इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने की है। वह यह कि शबरी ने श्री राम का यथा विहितसत्कार किया था । 'जूँठे बेरों का कहीं उल्लेख नहीं । लोगों ने निराधार राम द्वारा शबरी के जूठे बेर खाए जाने की कहानी गढ़ ली है ।]

एवमुक्तः स धर्मात्मा शबर्या शबरीमिदम् ।
राघवः प्राह विज्ञाने[१] तां नित्यमबहिष्कृताम् ॥१८॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ये वचन सुन अति दुर्लभ परमात्मा का ज्ञान रखने वाली उस शबरी से बोले ॥१८॥

दनोः सकाशात्तत्त्वेन प्रभावं ते महात्मनः ।
श्रुतं प्रत्यक्षमिच्छामि संद्रष्टुं यदि मन्यसे ॥१९॥

हे तपस्विनी ! मैंने दनु के मुख से तुम्हारे महात्मा मुनियों के

---

१ विज्ञाने नित्यमबहिष्कृताम्—अतिदुर्लभपरमात्मज्ञानेविज्ञानवतीं । (शि०)

प्रभाव को भली भाँति से सुन रखा है। किन्तु यदि तुम्हें मेरी बात पसन्द हो तो, मुझे प्रत्यक्ष उनका प्रभाव दिखला दो ॥१९॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा रामवक्त्राद्विनिःसृतम् ।
शबरी दर्शयामास तावुभौ तद्वनं महत् ॥२०॥

श्रीरामचन्द्र जी के मुख से निकले हुए ये वचन सुन, शबरी ने दोनों भाइयों को वह बड़ा वन दिखलाया ॥२०॥

पश्य मेघघनप्रख्यं मृगपक्षिसमाकुलम् ।
मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन ॥२१॥

वह बोली—हे रघुनन्दन! मृगों और पक्षियों से भरा पूरा और काले बादल की तरह श्याम रङ्ग का यह वन देखिए। यह मतङ्ग वन के नाम से प्रसिद्ध है ॥२१॥

इह ते भावितात्मानो गुरवो मे महाद्युते ।
जुहवांचक्रिरे तीर्थं मन्त्रवन्मन्त्रपूजितम् ॥२२॥

इसी मतङ्गवन में शुद्धात्मा और मन्त्रों का जानने वाले गुरु लोग वैदिक मन्त्रों से यज्ञ किया करते थे और उन्होंने गङ्गादि पवित्र तीर्थों को मन्त्रशक्ति से यहाँ बुलाया था ॥२२॥

इयं प्रत्यक्स्थली वेदिर्यत्र ते मे सुसत्कृताः ।
पुष्पोपहारं कुर्वन्ति श्रमादुद्वेपिभिः करैः ॥२३॥

यह वह प्रत्यक्स्थली वेदी है जहाँ बैठ कर मेरे पूज्य गुरुलोग पुष्पाञ्जलि (वृद्धावस्था के कारण) थरथराते हुए हाथों से अर्पण किया करते थे ॥२३॥

तेषां तपःप्रभावेण पश्याद्यापि रघूद्वह ।
द्योतयन्ति दिशः सर्वाः श्रिया वेद्योऽतुलप्रभाः ॥२४॥

हे रघुनन्दन ! देखिए उनके तपोबल से आज भी यह वेदी अपनी अतुलित प्रभा से सब दिशाओं को प्रकाशित कर रही है ॥२४॥

अशक्नुवद्भिस्तैर्गन्तुमुपवासश्रमालसैः ।
चिन्तितेऽभ्यागतान् पश्य सहितान्सप्त सागरान् ॥२५॥

अब उपवास करते करते वे निर्बल हो गए, तब उसके चिन्तवन करते ही सातों समुद्र उनके स्नानार्थ यहाँ प्रकट हुए। सो इन सातों समुद्रों को देखिए ॥२५॥

कृताभिषेकैस्तैर्न्यस्ता वल्कलाः पादपेष्विह ।
अद्यापि नावशुष्यन्ति प्रदेशे रघुनन्दन ॥२६॥

इस जगह स्नान करके उन्होंने अपने जो गीले वल्कल वस्त्र इन वृक्षों पर सुखाए थे, वे आज तक नहीं सूखे ॥२६॥

देवकार्याणि कुर्वद्भिर्यानीमानि कृतानि वै ।
पुष्पैः कुवलयैः सार्धं म्लानत्वं नोपयान्ति वै ॥२७॥

देवताओं के पूजन में उन लोगों ने जो कोमल हाल की खिली कलियाँ चढ़ाई थीं, वे अब तक नहीं मुरझायी हैं ॥२७॥

कृत्स्नं वनमिदं दृष्टं श्रोतव्यं च श्रुतं त्वया ।
तदिच्छाम्यभ्यनुज्ञाता त्यक्तुमेतत्कलेवरम् ॥२८॥

उनके वन में जो सब वस्तुएँ देखने योग्य थीं, वे सब आपने

देखीं और उनके सबन्ध मे जो बाते सुनने योग्य थीं, वे सब आपने सुन लीं। अब मैं आपकी आज्ञा से चाहती हूँ कि, इस शरीर को त्याग दूं ॥२८॥

तेषामिच्छाम्यहं गन्तु समीप भावितात्मनाम् ।
मुनीनामाश्रमो येषामहं च परिचारिणी ॥२९॥

जिससे मैं उन धर्मात्मा महर्षियो के पास जा सकूं, जिनकी मैं दासी हूँ और जिनका यह आश्रम है ॥२९॥

धर्मिष्ठं तु वचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
प्रहर्षमतुल लेभे आश्चर्यमिति तत्त्वतः ॥३०॥

उस धर्मिष्ठा शबरी के वचन सुन श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे, सचमुच यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥३०॥

तामुवाच ततो रामः श्रमणीं संशितव्रताम् ।
अर्चितोऽहं त्वया भक्त्या गच्छ काम यथासुखम् ॥३१॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी दृढ़व्रत धारिणी शबरी से बोले कि, हे भद्रे! तूने हमारा भली भांति पूजन किया है अब तू जहां सुखपूर्वक जहां जाना चाहती हो वहां चली जा ॥३१॥

अनुज्ञाता तु रामेण हुत्वाऽऽत्मानं हुताशने ।
ज्वलत्पावकसङ्काशा स्वर्गमेव जगाम सा ॥३३॥

श्रीरामचन्द्र जी की अनुमति ले, जलती हुई आग में कूद पड़ी। फिर उस अग्नि में से प्रज्वलित अग्नि की तरह चमचमाता रूप धारण कर, वह निकली और स्वर्ग को चली गई ॥३३॥

दिव्याभरणसंयुक्ता दिव्यमाल्यानुलेपना ।
दिव्याम्बरधरा तत्र बभूव प्रियदर्शना ॥३४॥

उस समय वह बढ़िया आभूषण पहिने हुए थी। उसके शरीर में दिव्य चन्दन लगा हुआ था। वह सुन्दर वस्त्र पहिने हुए थी। आभूषणों और वस्त्रों से सुसज्जित हो वह देखने में बड़ी सुन्दर जान पड़ती थी ॥३४॥

विराजयन्ती तं देशं विद्युत्सौदामिनी यथा ।
यत्र ते सुकृतात्मानो विहरन्ति महर्षयः ।
तत्पुण्यं शबरी स्थानं जगामात्मसमाधिना ॥३५॥

इति चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥

वह अपने शरीर की प्रभा से वहाँ ऐसा प्रकाश कर रही थी, जैसे बिजली अपने प्रकाश से चारों ओर प्रकाश कर दिया करती है। उसके गुरु धर्मात्मा महर्षि लोग जिन लोकों में विहार करते थे, वहीं वह शबरी भी अपने समाधिबल से जा पहुँची ॥३५॥

अरण्यकाण्ड का चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

— * —

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

—❁—

दिवं तु तस्यां यातायां शबर्यां स्वेन तेजसा ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चिन्तयामास राघवः ॥१॥

जब शबरी अपने तेज के प्रभाव से स्वर्ग को चली गई, तब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मणसहित सोचने लगे ॥१॥

स चिन्तयित्वा धर्मात्मा प्रभावं तं महात्मनाम् ।
हितकारिणमेकाग्रं लक्ष्मणं राघवोऽब्रवीत् ॥२॥

और उन महात्माओं के प्रभाव को सोच एकाग्र परम हितैषी अपने भाई लक्ष्मण से श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥२॥

दृष्टोऽयमाश्रमः सौम्य बह्वाश्चर्यः कृतात्मनाम् ।
विश्वस्तमृगशार्दूलो नानाविहगसेवितः ॥३॥

हे सौम्य! मैंने इन महात्माओं का यह आश्रम देखा। इसमें अनेक आश्चर्यजनक वस्तुएँ देख पड़ती हैं। देखो न, यहाँ पर हिरन और सिंह तथा अनेक पक्षी आपस का वैरभाव त्याग कर बसे हुए हैं ॥३॥

प्रनष्टमशुभं तत्तत्कल्याणं समुपस्थितम् ।
तेन तत्त्वेन हृष्टं मे मनो लक्ष्मण सम्प्रति ॥५॥

हे लक्ष्मण ! मैंने उनके इस सप्तसागर तीर्थ में स्नान कर विधिवत् पितृतर्पण भी किया। इससे मेरा जो अशुभ था वह दूर हो गया और शुभ आकर अब उपस्थित हुआ। सो अशुभ के नष्ट होने और शुभ के प्राप्त होने से इस समय मेरा मन, हे लक्ष्मण ! अत्यन्त हर्षित है ॥४॥५॥

हृदये हि नरव्याघ्र शुभमाविर्भविष्यति ।
तदागच्छ गमिष्यावः पम्पां तां प्रियदर्शनाम् ॥६॥

हे पुरुषसिंह ! इस समय मेरे हृदय में शुभ भावों का आविर्भाव होगा। सो अब आओ पम्पा सरोवर के तट पर चलें ॥६॥

ऋश्यमूको गिरिर्यत्र नातिदूरे प्रकाशते ।
यस्मिन् वसति धर्मात्मा सुग्रीवोंऽशुमतः सुतः ॥७॥

वहाँ से वह ऋष्यमूक पर्वत भी समीप ही देख पड़ता है, जिस पर सूर्य के पुत्र धर्मात्मा सुग्रीव रहते हैं ॥७॥

नित्यं वालिभयात्त्रस्तश्चतुर्भिः सह वानरैः ।
अभित्वरे च तं द्रष्टुं सुग्रीवं वानरर्षभम् ॥८॥

सुग्रीव सदा वाली के भय से त्रस्त हो, चार वानरों सहित वहाँ पर रहते हैं। अतः मैं उन वानरश्रेष्ठ सुग्रीव से भेंट करने के लिए शीघ्र ही चलूँगा ॥८॥

तदधीनं हि मे सौम्य सीतायाः परिमार्गणम् ।
एवं ब्रुवाणं तं धीरं रामं सौमित्रिरब्रवीत् ॥९॥

हे सौम्य! क्योंकि सीता जी को खोजना उसी के अधीन है। इस प्रकार कहते हुए वीर श्रीरामचन्द्र से लक्ष्मण जी बोले ॥९॥

गच्छावस्त्वरितं तत्र ममापि त्वरते मनः ।
आश्रमात्तु ततस्तस्मान्निष्क्रम्य स विशांपतिः ॥१०॥

हाँ, वहाँ शीघ्र ही पहुँचना चाहिए। मेरा मन भी वहाँ पहुँचने के लिए जल्दी कर रहा है। यह सुन पृथ्वीश्वर दोनों भाई उस मातङ्गाश्रम से रवाना हुए ॥१०॥

आजगाम ततः पम्पां लक्ष्मणेन सहप्रभुः* ।
स ददर्श ततः पुण्याम्[1] उदारजनसेविताम् ॥११॥

लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी पम्पा के तट पर पहुँचे और उन्होंने उस झील को देखा जिसके तट पर तपस्या करने वाले ऋषि मुनि रहा करते थे ॥११॥

नानाद्रुमलताकीर्णां पम्पां पानीयवाहिनीम्[2] ।
पद्मैः सौगन्धिकैस्ताम्रां शुक्लां कुमुदमण्डलैः ॥१२॥

पम्पा नाम की झील के [illegible] और लताएँ उगी हुई थी और उसका जल पीने में शीतल और स्वादिष्ट था। उसमें लाल कमल और सफेद कुईं के फूल फूल रहे थे ॥१२॥

नीलां कुवलयोद्घाटैर्बहुवर्णां कुथामिव ।
स तामासाद्य वै रामो दूरादुदकवाहिनीम् ॥१३॥

मतङ्गसरसं नाम ह्रद समवगाहत ।
अरविन्दोत्पलवतीं पद्मसौगन्धिकायुताम् ॥१४॥
पुष्पिताम्रवणोपेतां बर्हिणोद्घुष्टनादिताम् ।
तिलकैर्बीजपूरैश्च धवैः शुक्लद्रुमैस्तथा ॥१५॥
पुष्पितैः करवीरैश्च पुंनागैश्च सुपुष्पितैः ।
मालतीकुन्दगुल्मैश्च भाण्डीरैर्निचुलैस्तथा ॥१६॥
अशोकैः सप्तपर्णैश्च केतकैरतिमुक्तकैः ।
अन्यैश्च विविधैर्वृक्षैः प्रमदामिव भूषिताम् ॥१७॥

सरोवर में नीले रङ्ग के कमल के फूल भी थे । इन सफेद, लाल और नीले कमलों से ऐसा जान पड़ता था, मानों रङ्ग बिरङ्गा कवल बिछा हो । फिर श्रीरामचन्द्र जी मतङ्गसर नाम के कुण्ड पर गए । इस कुण्ड का जल उत्तम था और दूर से बह कर वह उसमें गिरता था । श्रीरामचन्द्र जी ने इस ह्रद में स्नान किए । ह्रद में खुशबू दार लाल, नीले, सफेद कमल खिले हुए थे । उनके चारों ओर पुष्पित आम का वन था और उस वन में मोर बोल रहे थे । तिलक, बीजपूरक, वट, लोध, फूली हुई कनेर और फूले हुए पुन्नाग, मालती, कुंद, गुल्म, भाण्डीर, निचुल, (हर्फारेवड़ी) अशोक, सप्तपर्णी, केतकि, नेमि आदि वृक्षों से वह वन शृङ्गार की हुई स्त्री कीतरह सजा हुआ देख पड़ता था ॥१३॥१४॥१५॥१६॥१७॥

समीक्षमाणौ पुष्पाढ्य सर्वतो विपुलद्रुमम् ।
कोयष्टिकैश्चार्जुनकैः शतपत्रैश्च कीचकैः ॥१८॥

कोयष्टिका, अर्जुन, शतपत्र, (कमल) तथा बांस आदि के वृक्ष उस वन में फूलों से लदे हुए, दोनों राजकुमारों ने देखे ॥१८॥

एतैश्चान्यैश्च विहगैर्नादितं तु वनं महत् ।
ततो जग्मतुरव्यग्रौ राघवौ सुसमाहितौ ॥१९॥

इनके अतिरिक्त उस वन में और भी वृक्ष थे। वह महावन भाँति भाँति के पक्षियों की बोलियों से गूँज रहा था। दोनों पुरुषश्रेष्ठ उस वन में अव्यग्र और सावधान हो विचरण करने लगे ॥१९॥

तद्वनं चैव सरसः पश्यन्तौ शकुनैर्युतम् ।
स ददर्श ततः पम्पां शीतवारिनिधिं शुभाम् ॥२०॥

उस वन को तथा उस सरोवर को जो पक्षियों से सेवित था। दोनों भाइयों ने भली भाँति घूम फिर कर देखा। तदनन्तर पवित्र शीतल जल के भण्डार पम्पा नामक सरोवर को देखा ॥२०॥

[illegible] पादपैरुपशोभिताम् ।
स रामो विविधान् वृक्षान् सरांसि विविधानि च ॥२१॥
पश्यन् कामाभिसन्तप्तो जगाम परमं हृदम् ।
पुष्पितोपवनोपेता साल[illegible]शोभिताम् ॥२२॥

मनोहर वन उसके किनारे पर था। वह कमलों से पूर्ण था और उसका जल ऊपर से गिरने के कारण स्फटिक की तरह निर्मल था और उसकी सुन्दर चिकनी बालू थी ॥२३॥

स तां दृष्ट्वा पुनः पम्पां पद्मसौगन्धिकैर्युताम् ।
इत्युवाच तदा वाक्यं लक्ष्मणं सत्यविक्रमः ॥२४॥

तदनन्तर सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र ने उस सुगन्धित कमल के फूलों से युक्त पम्पा सरोवर को पुनः देख लक्ष्मण से कहा ॥२४॥

अस्यास्तीरे तु पूर्वोक्तः पर्वतो धातुमण्डितः ।
ऋश्यमूक इति ख्यातः पुण्यः पुष्पितपादपः ॥२५॥

इसी के किनारे, कबन्ध का बतलाया और धातुओं से मण्डित एवं विख्यात ऋष्यमूक पर्वत जिस पर पवित्र पुष्पित वृक्ष लगे हुए हैं, अवस्थित है ॥२५॥

हरेर्ऋक्षरजोनाम्नः पुत्रस्तस्य महात्मनः ।
अध्यास्ते तं महावीर्यः सुग्रीव इति विश्रुतः ॥२६॥

महात्मा वानर ऋक्षराज के पुत्र महाबलवान् सुग्रीव उसी पर रहते हैं ॥२६॥

सुग्रीवमभिगच्छ त्वं वानरेन्द्रं नरर्षभ ।
इत्युवाच पुनर्वाक्यं लक्ष्मणं सत्यविक्रमम् ॥२७॥

सो हे नरश्रेष्ठ! तुम वानरराज सुग्रीव के पास जाओ। यह कह, फिर श्रीरामचन्द्र जी सत्यपराक्रमी लक्ष्मण से कहने लगे ॥२७॥

राज्यभ्रष्टेन दीनेन तस्यामासक्तचेतसा ।
कथं मया विना शक्य सीता लक्ष्मण जीवितुम् ॥२८॥

हे लक्ष्मण ! मैं राज्य से भ्रष्ट दीन और सीतागतप्राण हो रहा हूँ । बिना मेरे सीता क्योंकर जी सकेगी ॥२८॥

इत्येवमुक्त्वा मदनाभिपीडितः
स लक्ष्मणं वाक्यमनन्यचेतसम्[1] ।
विवेश पम्पां नलिनीं[2] मनोहरां
रघूत्तमः शोकविषादयन्त्रितः ॥२९॥

श्रीरामचन्द्र जी काम से पीडित हो लक्ष्मण जी से जो इनकी बात सुनने को सावधान थे इस प्रकार कह और शोक से पीडित हो, उस कमल से युक्त मनोहर पम्पासरोवर में स्नान करने के लिए घुसे ॥२९॥

ततो महद्वर्त्म सुदूरसंक्रमः
क्रमेण गत्वा [3]प्रतिकूलधन्वनम् ।
ददर्श पम्पां शुभदर्शकानना-
मनेकनानाविधपक्षिजालकाम् ॥३०॥

इति पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसहस्रिकायां संहितायाम्
अरण्यकाण्डः समाप्तः ॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने कबन्ध के अत्यन्त भयङ्कर वन को पार कर तथा बहुत दूर चल कर और रास्ते में अनेक दर्शनीय सुन्दर वनों से जो भाँति भाँति के पक्षियों से परिपूर्ण थे, शोभित पम्पासरोवर को देखा ॥३०॥

अरण्यकाण्ड का पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

अरण्यकाण्ड समाप्त हुआ॥

———

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपते।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥८॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥९॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥१०॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥११॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायास्तु मङ्गलम् ॥१२॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥१३॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥१४॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥१५॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥१६॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥१७॥

—❀—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
    न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
    लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥
काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥
लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥
मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
    बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
    नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥
शृण्वन्रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥
रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥
यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥
मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥
यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥
अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥
त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥
ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

—*—